इस श्री प्रवचनसार परमागमको **श्री वर्द्धमान** भगवानके समान प्रमाणीक दिगम्बर जैन पट्टावलीके अनुसार विक्रम संवत ४९ में प्रसिद्ध श्री **कुंदकुंदाचार्य**जी महाराजने प्राकृत गाथाओंमें रचकर जो धार्मिक तथा अध्यात्मीक रस भर दिया है उसका स्तवन वाणीसे होना अशक्य है।

इसकी एक संस्कृतवृत्ति दशम शताब्दीमें प्रसिद्ध श्री **अमृतचन्द्र** आचार्यने की है। उसीके पीछे प्राय. उसी समयमें दूसरी संस्कृतवृत्ति परम अनुभवी श्री **जयसेनाचार्यजी**ने रची है। प्रथम वृत्तिका कुछेक अंश लेकर हिन्दी भाषाटीका श्रीयुत आगरा निवासी विद्वान् पंडित हेमराजजीने की है। यद्यपि संस्कृत वृत्तिके शब्दोंके अनुसार भाषाटीका लिखनेका प्रयास जहांतक विदित है अभीतक किसी जैन विद्वानने नहीं किया है।

दूसरी संस्कृतवृत्तिकी भाषाटीका अभीतक किसी विद्वान् द्वारा देखनेमें नहीं आई। श्री जयसेनाचार्यकृत वृत्ति सरल, विस्तारयुक्त तथा विशेष अध्यात्मिक है इस लिये हमने अपनी शक्ति न होनेपर भी केवल धर्मभावनाके हेतु हिन्दी भाषा लिखनेका उद्यम किया है।

इस ग्रंथके तीन अधिकार हैं जिनमें **ज्ञानतत्वदीपिका** प्रथम अधिकार प्रकाशित हो चुका है। यह **ज्ञेयतत्वदीपिका** दूसरा अधिकार है। तीसरा **चारित्रतत्वदीपिका** भी लिखा जाचुका है। केवल मुद्रण होना शेष है। इस अधिकारको वि० संवत १९८०की वर्षातमें पानीपत जिला करनालमें ठहरकर पूर्ण किया था।

इसको प्रकट कराकर **जैनमित्र**के ग्राहकोंको उपहारमें देनेका उत्साह श्रीयुत इच्छाराम कम्पनीवाले लाला **बद्रीदास**जीके सुपुत्र लाला **चिरंजीलाल**जीने दिखलाया है। इसलिये उनकी शास्त्रभक्ति सराहनीय है। ग्रंथके पाठकोंको उचित है कि इसे रुचि व विचारके साथ पढ़ें, सुनावें तथा इसका मनन करें और यदि कहीं कोई भूल अज्ञान तथा प्रमादसे हो गई हो तो सज्जन पत्र व्यवहार करके हमें सूचित करें हम उनके अत्यन्त आभारी होंगे।

सूरत शहर, चंदावाड़ी
वीर सं० २४५१
माघ सुदी ३
ता० १३-१-२५ मंगलवार

जैन धर्मकी उन्नतिका पिपासु—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

सूचीपत्र।

श्री ज्ञेयतत्त्वदीपिका।

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य—
ब्र० शीतलप्रसादजी ।
(समयसार, नियमसार, समाधिशतक, प्रवचनसार आदिके टीकाकार
व गृहस्थधर्म, आत्मधर्म आदिके रचयिता तथा
ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" सूरत ।)

ya Press, Sura

श्रीमान् स्वर्गीय—
लाला बद्रीदासजी रईस एण्ड बैंकर्स,
मालिक-फर्म इच्छाराम एण्ड कम्पनी, मेरठ।

Ja n V .ya P ess, S rat

श्रीमान् लाला चिरंजीलाल जैन रईस, पानीपत ।
(सुपुत्र लाला बद्रीदासजी रईस)

Vijaya Press, Sura

संक्षिप्त परिचय

लाला चिरंजीलालजी बैंकर पानीपत

पानीपत-यह युधिष्टिरादि पांचों पाडवोंमेंसे किसी अन्य-तम पांडवका बसाया हुआ एक अति प्राचीन ऐतिहासिक प्रसिद्ध स्थान है। यह पंजाब प्रान्तमें देहलीसे ५५ मील उत्तरकी दिशामें ई० आई० आर० रेलवेकी लाइनपर स्थित है। पानीपतसे कुछ दूरपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव और पांडवोंका महाभारत युद्ध हुआ था और इसी मैदानमें विक्रम संवत १६०० से अबतक दो तीन बादशाहोंके इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हो चुके हैं।

वर्तमानमें इस नगरकी जनसंख्या अनुमान तीसहजार (३००००) के है। जिसमें तीन हिस्से मुसलमान और एक हिस्सेमें जैन तथा हिन्दू हैं।

यहांपर अनुमान ३०० घर अग्रवाल जैनियोंके हैं और चार श्री जिनमंदिर हैं। इनमें बड़े मंदिरकी बिल्डिंग अति विशाल है। वृद्ध जनोंसे यह जनश्रुति चली आरही है कि पूर्व समयमें यहां पर २२ बाईस मंदिर तथा चैत्यालय थे, पूर्वजनोंने उनका ह्रास देख-कर सब जीर्ण मंदिरोंकी प्रतिमायें उठवाकर बड़े मंदिरजीमें विराजमान करवा दीं। यह बड़ा मंदिर वर्तमान समयमें विशाल दुर्गके समान बना हुआ है। दूसरे बाजारवाले मंदिरमें सुनहरी तथा मीनाका-रीका काम भी दर्शनीय है। उसमें अनुयोगोंके अनुसार क्षेत्रोंके नक्शे तथा पौराणिक भावोंके चित्र बड़ी मनोहरतासे चित्रित किये गये हैं। यहांके पीतलके बर्तन और ऊनी कम्बल प्रसिद्ध हैं जो यहांसे बहुत दूर देशान्तरोंको जाते हैं। यहांके जैनी भाई

मध्यम स्थितिके व्यवहार कुशल, उद्योगी, धर्मात्मा तथा विद्याप्रेमी हैं। यहांकी जैन समाजके सामाजिक संगमके प्रेम और उत्साहसे १२००) रुपये माहवारी खर्चसे चलनेवाली जैन हाईस्कूल और श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रशादजीके करकमलोंसे स्थापित संस्कृत धर्म विद्यालय नामकी संस्थायें बराबर काम कर रही हैं।

मंदिरोंका प्रबंध भी अत्युत्तम है। गत वर्षके चौमासेकी उपस्थितिमें उक्त ब्रह्मचारीजीकी ही प्रेरणासे पानीपतके खिरनी-सरायके मुहल्लेमें पंचायतकी तरफसे एक चैत्यालय बन रहा है। गत साल यहांकी जैन समाजने करनाल जिलेके ग्रामवासी जैनियोंका अज्ञानरूप अंधकार हटानेके लिये उपदेशकों द्वारा जैन धर्मका प्रचार भी कराया था।

इसी नगरमें अग्रवाल वंशके सिंहल गोत्रमें लाला इच्छाराम-जीके घर लाला कुसुंभरीदासजी उत्पन्न हुए जिनके पुत्ररत्न लाला बद्रीदासजी हुए इन्होंने अपने पुण्योदय तथा उद्योगबलसे वर्तमान गवर्नमेंन्टसे-पेशावर, नौसेरा, रिसालपुर, रावलपिंडी, स्यालकोट, लाहौर, फीरोजपुर, जालंधर, अम्बाला, मेरठ, मथुरा, लखनऊ, कानपुर, फैजाबाद, इलाहाबाद, दानापुर, कलकत्ता, मऊ छावनी, नसीराबाद और नीमच शहरके सेनाविभागकी कोषाध्यक्षता प्राप्त की जिससे बहुत कुछ द्रव्य और यशका उपार्जन किया। आप धर्मात्मा और दानशील भी थे। आपने विक्रम सं० १९६२में बिरादरीके अनुमान साड़ेछैसौ ६९० आदमियोंको साथ लेकरके तीर्थक्षेत्र श्री गिरनारजीका संघ चलाया था और उसके कुछ बाद संवत् १९६६ में तीर्थक्षेत्र श्री हस्तिनापुरजीका भी

संघ चलाया था। उनकी स्त्री श्रीमती श्री मुन्नीबाईसे शुभ मिती आश्विन शुक्ला २ विक्रम संवत १९४८ ईस्वीको लघु पुत्र लाला चिरंजीलालजीका शुभ जन्म हुआ। चिरंजीलालजीके इस समय छोटी स्त्रीसे उत्पन्न १ एक पुत्री और ९ पुत्ररत्न विद्यमान हैं।

ऊपर वर्णन किये गये बाजारवाले मंदिरकी बिम्बप्रतिष्ठा संवत १९६९ में हुई थी। उस समय लाला बद्रीदासजीकी तरफसे प्रतिष्ठामें आये हुए अनुमान बीसहजार भाइयोंका ज्योनारादिकसे पांच दिनतक बराबर जैनधर्मके प्रभावनार्थ सत्कार किया गया था। आपने बाजारके मंदिरमें सुनहरी तथा चित्रकारीका काम करानेके लिये अच्छी सहायता की थी।

वर्तमानमें चलती हुई "**जैन हाईस्कूल**" और संस्कृत धर्मविभाग नामकी संस्थाओंमें भी आप मासिकरूपमें अच्छी सहायता देरहे हैं व आपने स्कूलमें एक कमरा भी अपनी तरफसे बनवा दिया है। और यथावसर धार्मिक तथा पंचायती कामोंमें द्रव्यादिककी सहायता देनेमें भी कमी नहीं करते हैं। आप पानीपतके खिरनी-सैरायके मुहल्लेमें रहते हैं। वह शहरसे अनुमान एक मील दूर है।

उस मुहल्लेमें जैनियोंके दश या बारह घर हैं। वे शहरमें दर्शन करनेसे वंचित रहते थे। इसलिए गत साल चौमासेकी स्थितिमें श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने प्रेरणा करके वहांपर चैत्यालय बनानेकी आवश्यकता दिखाई थी। उस समय आपने अपना असीम धर्मप्रेम प्रदर्शित कर चैत्यालय बननेके लिये २५००) रुपयेकी रकम चिट्ठेमें लिख दी थी। और वह चैत्यालय बन रहा है।

सन् १९२१में जो संघ श्री जैनबद्री मूलबद्रीजीका लाला हुकमचन्द जगाधरमल दिल्लीवालोंने चलाया था उनके साथ आप भी दर्शनके लिये सकुटुम्ब गये थे। उस मौकेपर श्री जैनबद्रीजीमें रथयात्रा हुई थी उसमें आप ९००) नौसो रुपे देकर श्री जिनेन्द्र भगवानकी खवासीमें बैठे थे।

आप आजकल नेशनल बैंक ऑफ इन्डिया कानपूर तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया स्यालकोटके बड़े खजानची हैं। पंजाब गवरमेन्टने आपको स्यालकोट जिलेमें नोटेरी पबलिक भी बनाया हुवा है।

गत वर्ष ब्र० शीतलप्रसादजीके यहां (पानीपत) चौमासा करनेकी खुशीमें आपने तमाम बिरादरीको अपनी तरफसे प्रीति-भोज भी दिया था।

इस साल यहां चैत्रके वार्षिक रथोत्सवके समयपर पंजाब प्रांतिक सभाका अधिवेशन हुआ था। उस समय श्रीमान् ब्रह्मचारीजीकी प्रेरणासे लाला चिरंजीलालजीने प्रवचनसारकी ज्ञेयतत्वप्रदीपिकाकी हिन्दी टीकाके प्रकाशनार्थ तथा वह "जैनमित्र" के ग्राहकोंको उपहारार्थ देनेके लिये नकद ९००) रु० देनेकी स्वीकारता दे दी थी। उन्ही धर्मात्मा महोदयकी सहायतासे यह ग्रन्थ आप पाठक महानुभावोंके दृष्टिगोचर होरहा है। शुभमिति।

विनीत लेखक—

फुलजारीलाल जैन ट्रेंड शास्त्री

जैन हाई स्कूल,

पानीपत

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१७	होने	होते हुए
३३	२	लायग्ग	लोयग्ग
४०	५	उनको	उनकी
,,	६	अवस्थामई	अवस्था भई
४२	६	जटल	अटल
४३	९	यहां अरहंत....	(यहां अरहंत पनेसे मतलब है)
४४	१४	ध्रौव्य	व्यय ध्रौव्य
४५	१४	प्रत्यभिज्ञाम	प्रत्यभिज्ञाय
४६	३	होती है–	होता है–
४७	१३	करण	कारण
५४	११	ऐसी	ऐसा
६५	९	पर्याव	पर्याय
७६	१४	तद् भाव	तदभाव
,,	१५	अतद्भाव	अतद्भाव
७८	२२	सो द्रव्यकी....	पर्यायकी सत्ता है सो द्रव्यकी सत्ता
७२	५	इन द्रव्य	द्रव्य
८८	८	स्येत स्य	स्येतरस्य
९०	१६	सदसदभाव	सदसद्भाव
९४	१६	शुद्धोपयीग	शुद्धोपयोग

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	२२	अभेदसरू	अभेद सरूप
११९	७	महत्व	महत्य
,,	९	वकार	विकार
१२३	१९	मूल	मूल
१२५	८	मवो	भवो
१२९	१२	वैसा नित्त्य	वैसा
१६८	२३	थिरता	जोंसे शुद्ध ध्यानके बढ़ा-नेवालेके मनकी थिरता
१४६	१९	क्योंकि	क्योंकि एकेन्द्रिय
१४८	११	१०४	१९४
१५२	१३	आ	हुआ
१५६	१०	कारण	करण
१५८	१५	३९	३६
१५८	१७	३९	३६
१६१	२२	परिणमन	परिणाम
१६६	२२	अनत	अनंत
१६७	१२	अरूलघु	अगुरुलघु
१६८	५	समुवाय	समुद्घात
१७४	१५	पुगल्स्स.	पुगलस्स
१८०	२४	सयमसद्दा	सयमसद्दो
१८४	८	गंध है	गंध
१९२	७	सूक्ष्म	सूक्ष्मस्थूल
१९९	१३	पदेश	प्रदेश

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	१६	जगहमिल जगहमिल	जगहमिल
२१२	१९	समव	संभव
२२३	१४	इन्द्रिय	इंद्रिय
२२८	२	तेषां	तेषां
२३१	९	कथायः	कषायः
२३४	१७	कारिण्या	करिष्या
२३८	१९	अथित्त	अथित्तणिच्छिद
,,	२०	प	पज्जाया
२५०	१३	फलिमा	कालिमा
,,	१६	पूव	पूर्वं
२५३	१९	पुरुपाक्रा	पुरुपाकार
२५८	२२	संस्कार	ससार
२६२	१६	चित्तको	चित्त हो
२६८	१२	योग	मयोग
२७०	९	निणित्त	निमित्त
,,	१९	च्छुद्र	च्छुद्ध
२७१	१७	सद्धो	सद्दो
२८३	१	आकर	आकार
२८४	२०	लोग	लोक
२८५	९	बायर	बादर
२८७	४	निट्ठ	तिट्ठ
२९०	१३	वास्व	वास्तव

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२९७	२३	स्वयं	स्वयं हो जाती
३१२	२१	कर्मबंधको	कर्मबन्धकी
३१७	९	अलगाहो	अवगाहो
३१८	१४	वस्तु स्वरूपके	वस्तु स्वरूपकी
४१९	१४	सम्बन्धी	सम्बन्ध
३२४	१	पारि	पि
,,	१४	परमराग	शुभ राग
३३४	२३	करे	करे
३३६	९	परिणामन	परिणमन
३४७	२३	पापात्	यायात्
,,	,,	प्रकाशा	प्रकाश्या
३९३	२	नोकर्म	कर्म्म नोकर्म्म
३६१	१९	अपात	आपात
३६२	२३	ही	होता है वही
३६९	११	िच्छपत	पिच्छयत
,,	१३	आण	ज्ञाण
,,	१८	चडके	चडक्के
३६८	५	व	तव
३७७	२३	जाता ही	जाता है वही
३८२	५	हुआ हुआ	हुआ
३८३	२३	अभिलापी	अभिलापी'
३९३	१२	हुए	हूए
	१४	इवाहीम	इब्राहीम

श्री कुंदकुंदस्वामी विरचित—

श्री प्रवचनसारटीका। *

द्वितीय खण्ड अथवा

ज्ञेयतत्त्वदीपिका।

दोहा-प्रथम नमो श्री आदिको, अन्त नाम महावीर।
तीर्थंकर चौबीस ये, वर्तमान गुणवीर ॥ १ ॥
प्रगटायो जिन धर्मको, सम्यक् सुखदातार।
भविजन पाय सुमार्गको, तिरे भवोदधि सार ॥ २ ॥
तिनकी वाणी रसभरी, आतम अनुभवकार।
वन्दौं मन वचकायसे, पाऊं ज्ञान उदार ॥ ३ ॥
वृषभसेनको आदि दे, गौतम गणधर सार।
भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुंदकुंद गुणधार ॥ ४ ॥
उमास्वामि महाज्ञानवर, भद्र समन्त महान
पूज्यपाद इत्यादि गुरु, वंदूं उपजै ज्ञान ॥ ५ ॥
सिद्ध परम सुखके धनी, सत्य कृतारथ सूर।
परमातम पावन परम, वंदूं तम हो दूर ॥ ६ ॥
श्रीमंधरको आदि ले, बीस विदेह सुनाथ।
राजत प्रगटावत धरम, नमूं जोड जुग हाथ ॥ ७ ॥
षोडश कारण भावना, दशलक्षण वर धर्म।
रत्नत्रय हिंसा रहित, नमहुं धर्म हर कर्म ॥ ८ ॥

---

*प्रारंभ-वैशाख वदी ८ सं० १९८० ता० ८-४-१९२३ सवेरा होते हुते।

आगे इस द्वितीय अधिकारकी सूची लिखते हैं-

इसके आगे " सत्ता सबंभेदे " इत्यादि गाथा सूत्रसे जो पूर्वमें संक्षेपसे सम्यग्दर्शनका व्याख्यान किया था उसीको यहा विषयभूत पदार्थोंके व्याख्यानके द्वारा एकसो तेरह गाथाओंमें विस्तारसे व्याख्यान करते हैं। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि पूर्वमें जिस ज्ञानका व्याख्यान किया था उसी ज्ञानके द्वारा जानने-योग्य पदार्थोंको अब कहते हैं। यहा इन एकसौ तेरह गाथाओंके मध्यमें पहले ही "तम्हा तस्स णमाइ" इस गाथाको आदि लेकर पाठके क्रमसे ३० पेतीस गाथाओं तक सामान्य ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " दव्व जीवमजीव " इत्यादि १९ उन्नीस गाथाओं तक विशेष ज्ञेय पदार्थका व्याख्यान है। उसके पीछे " सपदेसेहिं समग्गो लोगो " इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदकी भावना है फिर "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि ५१ इक्यावन गाथाओंतक विशेष भेदकी भावना है। इस तरह इस दूसरे अधिकारमें समुदाय पातनिका है। अब यहा सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमें पहले ही नमस्कार गाथा है फिर द्रव्य गुण पर्यायकी व्याख्यान गाथा है। तीसरी स्वसमय परसमयको कहनेवाली गाथा है। चौथी द्रव्यकी सत्ता आदि तीन लक्षणको सूचना करनेवाली गाथा है इस तरह पीठिका नामके पहले स्थलमें स्वतन्त्ररूपसे गाथाए चार हैं। उसके पीछे " सब्भावो हि सहावो " इत्यादि चार गाथाओं तक सत्ताके लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता है। फिर ' ण भवो भंग विहीणो ' इत्यादि तीन गाथाओंतक उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणके

कथनकी मुख्यता है फिर " पादुब्भवदि य अण्णो " इत्यादि दो गाथाओंसे द्रव्यकी पर्यायके निरूपणकी मुख्यता है। फिर " ण हवदि जदि सद्दव्वं" इत्यादि चार गाथाओंसे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमें युक्तिको कहते हैं। फिर "जो खलु दव्वसहाओ" इत्यादि सत्ता और द्रव्यमें गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्यके साथ गुण और पर्यायोंका अभेद है इस मुख्यतासे "णत्थि गुणोत्ति य कोई" इत्यादि दूसरी ऐसी दो स्वतंत्र गाथाएं हैं। फिर द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सतका उत्पाद होता है तथा पर्यायार्थिक नयसे असतका उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए " एवं विहं " इत्यादि गाथाएं चार हैं। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्रसे सप्तभंगीका व्याख्यान है। इस तरह समुदायसे चौवीस गाथाओंसे और आठ स्थलोंसे द्रव्यका निर्णय करते हैं।

आगे सम्यक्त्वको कहते हैं:—

गाथा—

तम्हा तस्स णमाइं, किच्चा णिच्चंपि तं मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो, परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया—

तस्मात्तस्य नमस्यां, कृत्वा नित्यमपि तन्मना भूत्वा।
वक्ष्यामि संग्रहात् परमार्थविनिश्चयाधिगमं ॥ १ ॥

सामान्यार्थः—इसलिये उस साधुको नमस्कार करके तथा नित्य ही उनमें मन लगाकर संक्षेपसे परमार्थको निश्चय करानेवाले सम्यक्त भावको अथवा सम्यक्तके विषयभूत पदार्थको कहूंगा।

अन्वय सहित विशेषार्थ—क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना साधु नहीं होता है (तम्हा) इस कारणसे (तस्स) उस सम्यक्त सहित सम्यग्चारित्रसे युक्त पूर्वमें कहे हुए साधुको (णमाइ किचा) नमस्कार करके (णिचपि त मणो होज्ज) तथा नित्य ही उन साधुओंमें मनको धारण करके (परमट्ठविणिच्छयाधिगम) परमार्थ जो एक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा उसको विशेष करके संशय आदिसे रहित निश्चय करानेवाले सम्यक्तको अर्थात् जिस सम्यक्तसे शंका आदि आठ दोष रहित वास्तवमें जो अर्थका ज्ञान होता है उस सम्यक्तको अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थ समूहका अधिगम जिससे होता है ऐसे कथनको (समहादो) संक्षेपसे (वोच्छामि) कहूंगा।

भावार्थ यहांपर श्री कुंदकुंदाचार्य देव पहले ज्ञानतत्त्व अधिकारको कहकर अब ज्ञेयतत्त्व अधिकारके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। सम्यक् दर्शन यथार्थ पदार्थोंके ज्ञान तथा श्रद्धानसे होता है इस लिये सम्यक्तके विषयभूत पदार्थोंका कथन इस अधिकारमें किया जायगा। क्योंकि जबतक स्वपर पदार्थका भेद ज्ञान नहीं होता है तबतक सम्यग्दर्शनका लाभ नहीं हो सक्ता। सम्यक्तकी प्राप्तिका राजमार्ग **अधिगम** है। शास्त्र व गुरुके उपदेश द्वारा पदार्थोंका जब ग्रहण होकर उनका मनन किया जाता है तब देशनालब्धि होती है। इसी ही लब्धिके द्वारा कर्मोंकी स्थिति घटती है। और प्रायोग्य लब्धि होकर सम्यक्तके लिये साक्षात् कारणरूप परिणामोंको प्रगट करनेवाली करणलब्धि होती है। जब लोकमें सत्ताको रखनेवाले द्रव्योंके स्वभावका निश्चय किया जाता है तब सर्व द्रव्य भिन्न२ भासने लगते हैं और तब ही अपना शुद्धात्मा भी

अपनेको भिन्न झलकता है। इस सम्यक्तके विषयभूत पदार्थमालिकाको कहते हुए आचार्यने उन साधुओंको द्रव्यभावसे नमन करके जिन्होंने सम्यक्त सहित चारित्रका यथार्थ पालन किया है उन साधुओंके द्वारा प्राप्त धर्मोपदेशको चित्तमें धारण किया है। आचार्य उसी उपदेशमें तन्मई होकर संक्षेपसे जीवादि पदार्थोंका व्याख्यान करते हैं। हम पाठकोंको भी योग्य है कि हम अपने उपयोगको सब तरफसे खींचकर इसी व्याख्यानके विचारमें तन्मय करें तब हमको भी यथार्थ बोध होगा और हमारे भीतर भी वही भाव झलकेगा जो श्री कुंदकुंद महाराजके अंतरंगमें इन सूत्रोंके व्याख्यानकालमें था। विना एकाग्र भावके ज्ञानका विकाश नहीं होता है॥ १॥

उत्थानिका—आगे पदार्थके द्रव्य गुण पर्याय स्वरूपको कहते हैं:—

अत्थो खलु दव्वमओ, दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया, पज्जयमूढा हि परसमया ॥ २॥

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥ २॥

सामान्यार्थ—निश्चयसे पदार्थ द्रव्य स्वरूप है। द्रव्य गुण स्वरूप कहे गए हैं। उन द्रव्य व गुणोंके ही परिणमनसे पर्यायें होती हैं। जो पर्यायोंमें मोही हैं वे ही निश्चयसे परसमय रूप अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्थो) ज्ञानका विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमई होता है। क्योंकि वह पदार्थ तिर्यक् सामान्य तथा ऊर्द्धता सामान्यमई द्रव्यसे निष्पन्न होता है अर्थात् उसमें तिर्यक् सामान्य और ऊर्द्धता सामान्य

रूप द्रव्यका लक्षण पाया जाता है । इन दो प्रकारके सामान्यका स्वरूप ऐसा है। एक ही समयमे नाना व्यक्तियोंमे पाया जानेवाला जो अन्वय उसको तिर्यक् सामान्य कहते हैं । यहा यह दृष्टात है कि जैसे नाना प्रकार सिद्ध जीवोमे यह सिद्ध है, यह सिद्ध है ऐसा जोड़ रूप एक तरहके स्वभावको रखनेवाला सिद्धकी जातिका विश्वास है—इस एक जातिपनेको तिर्यक सामान्य कहते हैं तथा भिन्न २ समयोमे एक ही व्यक्तिका एक तरहका ज्ञान होना सो ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है । यहा यह दृष्टात है कि जैसे जो कोई केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मुक्तात्मा है दूसरे तीसरे आदि समयोमें भी वही है ऐसी प्रतीति होना सो ऊर्ध्वता सामान्य है । अथवा दोनो सामान्यके दो दूसरे दृष्टात है—जैसे नाना गौके शरीरोमें यह गौ है, यह गौ है ऐसी गो जातिकी प्रतीति होना सो तिर्यग्सामान्य है । तथा जो कोई पुरुष बालकुमारादि अवस्थाओमें था सो ही यह देवदत्त है ऐसा विश्वास सो उर्ध्वता सामान्य है।

(दव्वाणि) द्रव्य सब (गुणप्पगाणि) गुणमई (भणिदाणि) कहे गए हैं । जो द्रव्यके साथ अन्वयरूप रहें अर्थात् उसके साथ साथ बनें वे गुण होते हैं—ऐसा गुणका लक्षण है । जैसे सिद्ध जीव द्रव्य है सो अनन्तज्ञान सुख आदि विशेष गुणोसे तथा अगुरु लघुक आदि सामान्य गुणोंसे अभिन्न है—अर्थात् ये सामान्य विशेष गुण सिद्ध आत्माके साथ सदा पाए जाते हैं तैसे ही सर्व द्रव्य अपने२ सामान्य विशेष गुणोंसे अभिन्न हैं इसलिये सब द्रव्य गुणरूप होते हैं ।

(पुणो) तथा (तेहिं पज्जाया) उन्हीं पूर्वमे कहे हुए लक्षण

स्वरूप द्रव्य व गुणोसे पर्यायें होती है। जो एक दूसरेसे भिन्न अथवा क्रमक्रमसे हों उनको पर्याय कहते है यह पर्यायका लक्षण है। जैसे एक सिद्ध भगवानरूपी द्रव्यमे अतिम शरीरसे कुछ कम आकारमयी गति मार्गणामे विलक्षण सिद्धगति रूप पर्याय है तथा अगुरुलघु गुणमें षट्गुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें है तैसे सर्व द्रव्योमे स्वाभाविक द्रव्य पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें तैसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्यायें होती है। " जेसिं अत्थिसहाओ " इत्यादि गाथामे तथा " भावा जीवादीया " इत्यादि गाथामें श्री पचास्तिकायके भीतर पहले कथन किया गया है सो वहासे यथासभव जान लेना योग्य है। (पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायके ज्ञानसे मूढ है अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हू इस भेदविज्ञानको न समझकर अज्ञानी है वे (हि) वास्तवमें (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी है। इसलिये यही जिनेन्द्र धरमे कही गई हुई समीचीन द्रव्यगुण पर्यायकी व्याख्या कल्याणकारी है यह अभिप्राय है॥२॥

भावार्थ ज्ञानके विषयभूत पदार्थ होते है। पदार्थ निश्चयसे द्रव्यरूप होते है। द्रव्यमें सामान्यपना होता है। कालकी अपेक्षा हरएक भिन्न२ समयमें भी यह वही है ऐसी प्रतीतिको कराना है इसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है। यही द्रव्यका स्वभाव द्रव्यकी नित्यताका बतानेवाला है। तथा जो द्रव्य अनेक है जैसे जीव, पुद्गल और कालाणु उनमें हरएक समयमे सबको एक जाति रूपसे प्रतीति करानेवाला तिर्यक सामान्य है। जितने जीव है उन सबको हम जातिकी अपेक्षा एक समझेंगे क्योंकि जीवपना उन

सर्वोमें हरएक समयमे पाया जाता है । जो द्रव्य जगतमे एक एक ही है जैसे धर्म, अधर्म और आकाश इनमें ऊर्ध्वता सामान्यपना तो सहजमे समझमें आता है क्योकि स्वाभाविक परिणमन हरसमय होते हुए भी धर्म, अधर्म या आकाशका बोध बना रहता है । तिर्यक् सामान्यपना सिद्ध करनेके लिये यदि हम इनके प्रदेशोकी कल्पना करके विचार करें और एक एक प्रदेशको एक एक व्यक्ति मान लें तो एक ही समयमे सर्व प्रदेशोमे यह धर्म, अधर्म या आकाश ही है ऐसी प्रतीति हो जायगी क्योंकि जितने गुण एक प्रदेशमें है उतने ही सर्व प्रदेशोंमे है ।

द्रव्य गुणमई होते है इसका भाव यह है कि द्रव्य एक प्रदेशी या बहु प्रदेशी जितने बडे आकाशके प्रदेशोंकी अपेक्षासे होते है उतना बडा उनका आकार होता है । जिस वस्तुकी सत्ता इस जगतमें मानी जायगी उस वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होगा । जितने आकाशमें जो वस्तु पाई जाती है उतना ही उस वस्तुका आकार है । एक परमाणु छुटी हुई अवस्थामें बहु प्रदेशी होनेकी शक्तिको रखते हुए भी तथा एक कालाणु सदा ही एक प्रदेशी रहनेके कारणसे एक प्रदेशी द्रव्य है जब कि हरएक जीव हरएक पुद्गलका स्कंध, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य तथा आकाश द्रव्य बहु प्रदेशी है । जितना बडा जो द्रव्य है उतनेमें उस द्रव्यके सर्वसामान्य और विशेष गुण व्यापक होते हैं । जहा एक गुण है वहीं सर्व गुण हैं । जैसे एक जीव असंख्यात प्रदेशी है उसके हरएक प्रदेशमें हरएक सामान्य और विशेष गुण व्यापक है इसी लिये द्रव्यको गुणोका अखंड पिंड या समुदाय कहते हैं । अस्तित्व,

वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व तथा प्रमेयत्व ये सामान्य गुण हैं जो सर्व द्रव्योंमें साधारणतासे पाए जाते हैं। विशेष गुण वे हैं जो हरएक द्रव्यमें भिन्न २ होते हैं। जीवके विशेष गुण पुद्गलमें नहीं, पुद्गलके विशेष गुण जीवमें नहीं। जीवके विशेष गुण चेतना, सुख, वीर्य्य, सम्यक्त, चारित्र हैं, पुद्गलके विशेष गुण स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं, धर्मका विशेष गुण जीव पुद्गलको गति हेतुपना, अधर्मका स्थिति हेतुपना, आकाशका सबको अवगाह हेतुपना तथा काल द्रव्यका सबको वर्तना हेतुपना विशेष गुण हैं। यद्यपि द्रव्यमें अनंतगुण होते हैं परंतु ग्रन्थकारोंने थोड़ेसे ही गुण वर्णन किये हैं जिनसे हरएक द्रव्य भिन्न २ करके पहचाना जा सके। जब द्रव्योंकी पहचान होजाती है और उनका वर्ताव होने लगता है तब अन्य भी शक्तियां या गुण अनुभवमें आने लगते हैं। एक द्रव्यके सब गुण सब गुणोंमें परस्पर व्यापक होते हैं। जीवमें जहां चेतना है वहीं अन्य सर्व गुण हैं। जो द्रव्य अनेक हैं जैसे पुद्गल, जीव और कालाणु वे सदा अनेक रूप रहते हैं—कभी भी मिलकर एक रूप नहीं होजाते हैं। पुद्गलके परमाणुओंमें इतनी विलक्षणता है कि वे अलग भी रहते हैं तथा परस्पर स्निग्ध रूक्ष गुणके कारणसे मिल भी जाते हैं और तब वे स्कंध कहलाते हैं। ऐसे स्कंधोंसे परमाणु छूटते भी रहते हैं और उनमें मिलते भी रहते हैं। ऐसा मिलना और विछुड़ना जीवोंमें तथा कालाणुओंमें कभी न था, न है, न होगा। सर्व जीव सदासे जुदे जुदे हैं व रहेंगे—ऐसे ही सर्व कालाणु सदासे जुदे २ हैं व रहेंगे। पुद्गलका हरएक परमाणु अपने गुणोंकी समानताकी

दूसरे परमाणुसे, हरएक जीव दूसरे जीवसे व हरएक कालाणु हरएक कालाणुसे सदृश है। इसीलिये जहा शुद्ध द्रव्य स्वभावकी अपेक्षासे देखकर कहा गया है वहा "सव्वे जीवा सुद्धा" अर्थात् सर्व जीव शुद्ध है ऐसा कहा गया है क्योंकि भिन्न२ होनेपर भी स्वभाव एकका दूसरेके बराबर है।

द्रव्य तथा गुणोंमें परिणमन सदा हुआ करता है क्योंकि द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण सब द्रव्योंमें व्यापक है जिसके कारण कोई द्रव्य तथा उसके गुण कूटस्थ नित्य नहीं रह सके किन्तु उनमें सदा पर्यायें या अवस्थाए होती रहती हैं। पर्यायें एक दूसरेके पीछे नवीन २ होती रहती हैं। उनके दो भेद हैं—व्यजन पर्याय या द्रव्यपर्याय, दूसरी अर्थपर्याय या गुणपर्याय। द्रव्यके प्रदेशोंमें परिणमनको अर्थात् आकार परिवर्तनको व्यजन या द्रव्य पर्याय तथा अन्य गुणोंमें परिणमनको अर्थ या गुणपर्याय कहते हैं। इन दोके भी दो दो भेद हैं—स्वभाव द्रव्य या व्यजन पर्याय। और विभाव द्रव्य या व्यजन पर्याय तथा स्वभाव अर्थ पर्याय और विभाव अर्थ पर्याय। स्वभाव पर्यायें हरएक द्रव्यमें अपने स्वभावसे हुआ करती हैं। विभाव पर्यायें अशुद्ध जीव और पुद्गलमे ही होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, सिद्ध आत्मा, तथा शुद्ध अवध परमाणुका जो आकार है वह स्वभाव व्यजन या द्रव्य पर्याय है। इनके आकारका प्रति समय एकसा रहना अन्य रूप न होजाना यही सदृश परिणमन स्वभाव पर्याय है। ससारी जीवका नाम कर्मके उदयके कारणसे नर, नारक, देव, तिर्यंच चार गतियोंमें भ्रमण करते हुए नाना प्रकार अपने आकारका शरीरके प्रमाण बदलना सो

विभाव द्रव्य या व्यजन पर्याय है । तथा पुद्गलके स्कंधोंका परमाणुओंके मिलने या विछुडनेसे आकारका बदलना सो विभाव व्यजन या द्रव्यपर्याय है । स्वभाव अर्थ या गुणपर्याय अगुरुलघु गुणके द्वारा सब शुद्ध द्रव्योंके सब गुणोमे होती हैं—इस स्वभाव परिणमनमें भी गुणोका सदृशपना रहता है । जैसे सिद्ध आत्मामे जो अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य आदि हैं वे हरएक समय उतने ही बने रहते, कम व बढती नहीं होते । यदि कम व बढती होजावें तो उस परिणमनको विभाव परिणमन कहेंगे, स्वभाव परिणमन नहीं कह सक्ते हैं। गुणोंके एक समान रहनेपर भी परिणमन इसीलिये मानना होगा कि वस्तुका स्वभाव द्रव्य या परिणमन रूप है । हम अल्पज्ञानियोंको इस परिणमनका अनुभव अशुद्ध पुद्गल तथा जीवोंमें प्रत्यक्ष दीखता है । कपडा रक्खा रक्खा जीर्ण हो जाता है । ज्ञान अनुभव होते होते बढता जाता है । यदि परिणमन शक्ति गुण या द्रव्यमे न होती तो अशुद्ध द्रव्योमे भी परिणमन न होता—जब होता है तब वह शक्ति शुद्ध द्रव्योंमे भी काम करती रहेगी। इसी अनुमानसे हम स्वभाव अर्थ या गुणपर्यायोका अनुमान कर सक्ते हैं । विभाव अर्थ या गुणपर्यायें ससारी जीव तथा स्कंधोमें होती हैं जैसे जीवके मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि व असयम या संयमके स्थानोंका परिणमन तथा स्कधोंमे रससे अन्य रस, गधसे अन्य गध, वर्णसे अन्य वर्ण, जैसे खट्टे आमका मीठा हो जाना । यहापर एक बात और जाननेकी है कि यद्यपि शुद्ध परमाणु जघन्य स्निग्धता रूक्षताकी अपेक्षासे अबध है परन्तु उसमे परिणमन होता रहता है जिससे कालातरमे जब उसमे अधिक अश स्निग्धता या रूक्षताके

होते तब वह परमाणु बध योग्य होजाता है । यह बात आत्माके स्वभावसे नहीं होती है क्योंकि आत्माके बध रागद्वेष मोहके कारणसे होता है सो भाव शुद्धात्माके विना मोहनीय कर्मके सम्बन्धके कभी सभव नहीं है । जो कोई इन द्रव्यगुण पर्यायोंको नहीं समझते अथवा जो नर नारकादि अशुद्ध पर्यायोंमे आसक्त हैं–अपनेको नर नारकादि रूप ही मानकर चेष्टा क्रिया करते हैं–निरतर उस शरीरके योग्य क्रियाओंमें ही रत रहते हैं और अपने शुद्ध आत्माके स्वभावको नहीं पहचानते हैं वे ही परसमयरूप मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा हैं । तात्पर्य्य आचार्यका यही है कि इस परसमयपनेसे इस जीवने अपने आपको ससारमे पराधीन रखकर दु ख उठाया है । इसलिये सुखके अर्थी प्राणीको उचित है कि वह भेद विज्ञानके द्वारा अपने आत्माको जैसा उसका स्वभाव है वैसा जाने, माने और वैसा श्रद्धान करे, अपना मूढपना मेटकर चतुर यथार्थ ज्ञानी बने । यही कल्याणका मार्ग है । जो देहमे आसक्त हैं वे ही पुन पुन देहको धारण करते हैं, जैसा स्वामी पूज्यपादने समाधिशतकमे कहा है —

देहान्तरगतेर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

अर्थात्–शरीरमे आत्माकी भावना ही अन्य देह प्राप्तिका बीज है जब कि आत्मामे ही आत्माकी भावना करनी देहसे रहित होनेका बीज है ।

जब भेदविज्ञान होजाता है तब अपने स्वभावको सिद्ध परमात्माके समान अनुभव करता है जैसा समाधिशतकमें कहा है–

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥ ३१ ॥

अर्थात्–जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है इसलिये मेरेद्वारा मैं ही उपासनाके योग्य हूं अन्य नहीं ऐसा वस्तुका स्वभाव है।

तात्पर्य यह है कि निज स्वभावको जानकर सम्यग्दृष्टि होना चाहिये। यही हितका मार्ग है ॥ २ ॥

उत्थानिका–आगे यहां प्रसंग पाकर परसमय और स्वसमयकी व्यवस्था बताते हैं:—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥३॥

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया मन्तव्याः ॥ ३ ॥

सामान्यार्थः–जो जीव शरीर आदि अशुद्ध कर्मजनित अवस्थाओंमें लवलीन हैं वे परसमय रूप कहे गए हैं तथा जो जीव अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें ठहरे हुए हैं वे स्वसमयरूप जानने चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थः–(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायोंमें लवलीन हैं। अर्थात् जो अज्ञानी जीव अहंकार तथा ममकार सहित हैं वे (परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए हैं। विस्तार यह है कि मैं मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप हूं इस भावको अहंकार कहते हैं व यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पंचेंद्रियोंके विषय

रूप सुख मेरे हैं इस भावको ममकार कहते हैं। जो अज्ञानी ममकार और अहंकारसे रहित परम चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे छुटे हुए इन अहंकार ममकार भावोंसे परिणमन करते हैं वे जीव कर्मोंके उदयसे उत्पन्न परपर्यायमें लीन होनेके कारणसे परसमय रूप मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

(आदसहावम्मि ठिदा) जो ज्ञानी अपने आत्माके स्वभावमें ठहरे होते हैं (ते सगसमया मुणेदव्वा) वे स्वसमयरूप जानने चाहिये। विस्तार यह है कि जैसे एक रत्न दीपक अनेक प्रकारके घरोंमें घुमाए जानेपर भी एक रत्न रूप ही है इसी तरह अनेक शरीरोंमें घूमने रहने पर भी मैं एक वही शुद्ध आत्मद्रव्य हूं, इस तरह दृढ संस्कारके द्वारा जो अपने शुद्धात्मामें ठहरते हैं वे कर्मोंके उदयसे होनेवाली पर्यायमें परिणति न करते हुए अर्थात् कर्मोदय जनित पर्यायको अपनेसे भिन्न जानते हुए स्वसमयरूप होते हैं ऐसा अर्थ है। ॥ ३ ॥

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टीकी अपेक्षासे स्वसमय तथा परसमयका विचार किया है। जो जीव अपने आत्मस्वरूपको भूले हुए परमें आत्मबुद्धि करके जिस शरीरमें आप बसते हैं उस शरीररूप ही अपनेको मानते हैं और उस शरीरमें प्राप्त इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन होकर उन हीके पोषणके लिये इष्ट सामग्रीके संचय करने व अनिष्ट सामग्रीसे बचे रहनेमें उद्यमी रहते हैं तथा इष्टके संयोगमें हर्षित और इष्टके वियोगमें शोकित होते हैं, धनादि स्वार्थके साधनेके निमित्त अन्याय व पर पीडाकारी कार्य करनेमें कुछ भी ग्लानि नहीं समझते हैं, जो स्त्री,

पुत्र, मित्र, गो, महिषादि चेतन पदार्थोंको तथा क्षेत्र, मकान, चांदी, सोना आदि अचेतन पदार्थोंको अपना मानकर उनके लिये अति लालायित रहते हैं; संसार, शरीर, भोगोंमें आशक्तवान होकर वैराग्यके कारणोंसे दूर भागते हैं वे इंद्रियोंके सुखोंके लोलुपी परसमयरूप मिथ्यादृष्टी जानने।

इसके विरुद्ध जो अपना अहंकार और ममकार पर पदार्थोंसे हटाकर नित्य ही निज आत्माके स्वरूपके ज्ञाता होकर उस आत्माको स्वभावसे शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमई, अमूर्तीक, अविनाशी सिद्ध भगवानके समान जानते हैं, अनेक घरोंके समान अनेक पर्यायोंमें अपने आत्माने भ्रमण किया है तो भी वह स्वभावसे छुटा नहीं है ऐसा निश्चय रखते हैं, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म तथा शरीरादि नोकर्म ये सब ही मेरे शुद्ध आत्मस्वभावसे भिन्न हैं व मैं अपने स्वभावोंका ही कर्ता तथा भोक्ता हूं, पर भावोंका व पर पदार्थोंकी अवस्थाओंका न कर्ता हूं न भोक्ता हूं ऐसा जो वास्तवमें तत्त्वको जानते हैं और अपने आत्मस्वभावके मननसे उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्दके रुचिवंत होगए हैं, जिनको यह जगत् कर्मका जाल स्वरूप व पाप पुण्य कर्मोंके द्वारा परिणमन करता हुआ एक क्रीड़ा–घरके समान दिखता है, जो स्त्री, पुत्र, मित्रादिके संयोगको एक नौका पर कुछ कालके लिये एकत्रित पथिकोंके संयोगके समान जानते हैं उनके मोहमें अज्ञानी होकर उनके लिये अन्याय व पर पीड़ाकारी कार्य नहीं करते हैं, जो गृहमें रहते हुए भी गृहकी पाशीमें नहीं फंसते हैं, जो स्वतंत्रताको उपादेय जानते हैं और कर्मकी पराधीनतासे मुक्त होना चाहते हैं

वे निज आत्मस्वभावमें आपा माननेवाले सम्यग्दृष्टी स्वसमय रूप हैं।

समयसारजीमें भी श्री कुंदकुंद महाराजने यही आशय सूचित किया है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमय जाणे ।
पुग्गलकम्मुवदे सट्ठिद च त जाण परसमयं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें तिष्ठनेवाला है उसे स्वसमय रूप जानो तथा पुद्गल कर्मके उदयसे होनेवाली अनेक अवस्थाओंको लिये हुए नामोंमें जो जीव तिष्ठता है उसे परसमयरूप जानो ।

श्री देवसेनाचार्यने श्री तत्वसारमें कहा है:—

देहसुहे पडिबद्धो जे णय सो तेण लहइ णहु सुद्धं ।
तच्च वियारइ हय णिच्च चिय झायमाणो हु ॥ ४७ ॥
मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सयादेहो ।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो शरीरके सुखोंमें उलझा हुआ होता है वह चित्तमें ध्यान करता हुआ भी नित्य, शुद्ध, निर्विकल्प आत्मतत्व-को नहीं प्राप्त करता है, यह शरीर सदा ही अज्ञानी, विनाशरूप, व अचेतन है। जो जीव इससे ममत्व करते हैं वे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि हैं।

सम्यग्दृष्टी अपने आपको कैसा समझता है इस विषयमें बृहदालोयणामें श्री अजित ब्रह्मचारीने इस तरह लिखा है—

इक्को सहावसिद्धो सोहं अप्पा वियप्पपरिमुक्को ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३५ ॥

अरस अरूव अगंधो अव्वाबाहो अणंतणाणमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ३६ ॥

णाणाउ जो ण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४३ ॥

सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मय पत्तो ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मैं एक स्वभावसे सिद्ध रूप, विकल्प रहित आत्मा हूं, रस, रूप, गंध, स्पर्शसे रहित, अव्याबाध तथा अनंतज्ञानमई हूं, मैं अपने ज्ञानादि गुणोंसे भिन्न नहीं हूं किंतु अन्य विकल्पोंसे भिन्न हूं तथा स्वभावसे ही आनंदमई हूं। मैं शुभ अशुभ भावोंसे दूर हूं, तथा शुद्ध सभावसे तन्मय हूं। वही शुद्ध व परम आत्मा मेरे लिये शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है। वास्तवमें स्वसमय ही संतोषप्रद है ऐसा जानकर इसी भावका ग्रहण कार्यकारी समझना चाहिये ॥ ३ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यका लक्षण सत्ता आदि तीनरूप है ऐसा सूचित करते हैं—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं, जत्त दव्वत्ति वुच्चंति ॥४॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवंति ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—जो नहीं छोड़ेहुए अपने अस्तित्व स्वभावसे

उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य संयुक्त है और गुणरूप व पर्याय सहित है उसको द्रव्य ऐसा कहते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ-(जन्) जो (अपरिचत्तसहावेण) नहीं त्यागे हुए स्वभाव रूपसे रहता है अर्थात् अपने अस्तित्व या सत् स्वभावसे भिन्न नहीं है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है। (गुणवं च सपज्जायं) गुणवान होकर पर्याय सहित है इस तरह सत्ता आदि तीन लक्षणोंको रखनेवाला है (तं दव्वत्ति) उसको द्रव्य ऐसा (वुच्चंति) सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायोंके साथ लक्ष्य और लक्षणकी अपेक्षा भेद रूप होने पर भी सत्ताके भेदको नहीं रखता है। जिसका लक्षण या स्वरूप कहा जाय वह लक्ष्य है। और जो उसका विशेष स्वरूप है वह लक्षण है। तब यह द्रव्य क्या करता है? अपने स्वरूपसे ही उस विधपनेको आलंबन करता है। इसका भाव यह है कि यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणमन करता है, शुद्धात्माकी तरह, जैसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समयमें शुद्ध आत्माके स्वरूप ज्ञानमई निश्चल अनुभवरूप कारण समयसार रूप पर्यायका विनाश होते शुद्धात्माका लाभ या उसकी प्रगटता रूप कार्य समयसारका उत्पाद या जन्म होता है, कारण समयसारका व्यय या नाश होता है और इन दोनों पर्यायोंके आधार रूप परमात्म द्रव्यकी अपेक्षासे ध्रुवपना या स्थिरपना रहता है। तथा उस परमात्माके अनंत ज्ञानादि गुण होते हैं। गति मार्गणासे विपरीत सिद्ध गति व इन्द्रिय मार्गणासे विपरीत अतींद्रियपना आदि लक्षणको रखनेवाली शुद्ध पर्यायें

होती हैं अर्थात् वह परमात्म द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्तासे भिन्न नहीं है एक है, पूर्वमें कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावोंसे तथा गुण पर्यायोंसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेद रूप होनेपर भी उनके साथ सत्ता आदिके भेदको नहीं रखता है, स्वरूपसे ही उसी प्रकारपनेको धारण करता है अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तथा गुणपर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेसे तथा गुण पर्यायोंके साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद रखते हैं तथापि सत्ता स्वरूपसे भेद नहीं रखते हैं, स्वभावसे ही उन प्रकार रूपपनेको आलम्बन करते हैं, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय स्वरूप परिणमन करते हैं।

अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्यायसे पैदा होता है. मलीन पर्यायसे नष्ट होता है और इन दोनोंके आधार रूप वस्त्र स्वभावसे ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलीन यथा स्वच्छ पर्यायोंके साथ संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ता रूपसे भेद नहीं रखता है, तब क्या करता है? स्वरूपसे ही उत्पाद आदि रूपसे परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते हैं यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके तीन लक्षण बताए हैं। सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप और गुणपर्याय रूप। अभेदकी अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत् स्वभावसे एक है वैसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुण पर्यायोंसे एक है। भेदकी अपेक्षा वह जैसे सत्‌पनेको रखता है वैसे वह उत्पादादिको रखता है।

जिस स्वरूपसे कोई पदार्थ अन्य पदार्थोंसे भिन्न करके जाना जा सके उसको लक्षण कहते हैं और जिसको पृथक् करके जाना जावे वह लक्ष्य होता है। यहां द्रव्यका असली स्वरूप समझाना है उसीके लिये पहले तो एक यही लक्षण कहा है कि जो सत् है वह द्रव्य है अर्थात् जो अपने अस्तित्वको सदा रखता है वह द्रव्य है इस लक्षणसे यह बताया है कि हरएक द्रव्य अपने अस्तित्व या होनेपनेको या मौजूदगीको रखनेवाला है इसकारण सदासे है व सदा चला जायगा। न कभी पैदा हुआ था और न कभी नाश होगा। यह सत्पना द्रव्यमें नहीं होता तो हम किसी जीवको बालक अवस्थासे वृद्ध अवस्था तक व उसी जीवको नर नारकादि पर्यायोंमें भ्रमता हुआ व शुद्ध होनेका यत्न करके शुद्ध या मुक्त होकर शुद्ध अवस्थामें सदा रहता हुआ नहीं जान सके। मट्टीको पिंड, घडा, कपाल, खट, ठिकरे व चूर्ण अवस्थामें हम सदा पाते हैं। इस जगतमें कोई पदार्थ अकस्मात् न पैदा होता है न बिलकुल विना किसी अवस्थाको उत्पन्न किये हुए नष्ट होता है जितनी भी अवस्थाएं वह धारण करे उन सबमें उसकी सत्ता बनी रहती है। एक सुवर्णकी डलीको लेकर हम उसकी बालिया बनावें, बालियोंको तोडकर अंगूठियें बनावें, अगूठियोंको तोडकर कठी बनावें, कठीको तोडकर भुजबंध बनावें–चाहे जितनी सूरतोंमें बदलें वह सुवर्ण अपने अस्तित्वको कभी त्याग नहीं सक्ता, यह एक दृष्टांत है इसी तरह जो जो द्रव्य जगतमें अपनी सत्ताको रखता है वह सदा ही बना रहता है। जगतमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये छ द्रव्य हैं। ये सब सदासे हैं व सदा ही

रहेंगे । इनमें सत्ता लक्षण प्राप्त हैं इसीसे ये द्रव्य हैं । हमारा जीव जो इस पर्यायमें इस शरीरमें है वह इस शरीरमें आनेके पहले भी किसी न किसी अवस्थामें था तथा इस शरीरको छोड़ देनेपर किसीन किसी अवस्थामें रहेगा । यही जीवका सत्पना है । यही वस्तुका स्वभाव है । ऐसा सत् स्वरूप जीव है ऐसा समझनेसे ही परलोक या पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है । यदि जीव अकस्मात् पैदा होता होता तो हम एक मट्टीके पुरुषमें जीव पैदा कर देते परन्तु जगतमें कोई पदार्थ नवीन नहीं पैदा होता है । सबका अस्तित्व सदासे है । हम एक नदीके मध्यमें कुछ पृथ्वी बनी हुई पाते हैं, दो वर्ष पहले वहांपर वह पृथ्वी नहीं थी । विचार किया जायगा तो वह पृथ्वी अकस्मात् नहीं बन गई है किन्तु नदीके पानीके साथ कहींकी मिट्टी बहकर आई है सो यहां जमती गई है। जब अधिक इकट्ठी होगई तब एक पृथ्वी रूपमें दिखने लगी । कोई कोई ऐसा कहते हैं कि कभी इस जगतमें कुछ भी न था, एक कोई ईश्वर अमूर्तीक था फिर उसीसे सर्व होगया और यह सर्व कभी नाश होकर ईश्वरमय हो जायगा। ऐसा माननेवालोंने भी अकस्मात् जगतको नहीं माना है । किंतु जगतको सत् रूप ही कहा है। केवल यह अपना मत प्रगट किया है कि एक ईश्वरकी एक अवस्थाविशेष यह जगत है, कभी उसमेंसे प्रगट हो जाता है तथा कभी उसमें लय हो जाता है। अब यह शंका अवश्य खड़ी हो जाती है कि क्या वास्तवमें एक ईश्वर ही द्रव्य है या जैन मतमें माने हुए अलग २ जीवादि छः द्रव्य हैं ? इस प्रश्नपर गंभीरतासे विचार किया जायगा यह प्रगट होगा कि जगतमें जो कोई अवस्था होती है वह

द्रव्यके सदृश होती है । जब ईश्वर एक अखण्ड अमूर्तीक है तब उसके खंड नहीं होसक्ते । जब खंड नहीं होसक्ते तब पृथक् २ जीव या परमाणु या स्कंध जो जगतमें प्रगट हैं वे नहीं बन सक्ते। यदि अखंड ईश्वरके खंड होना भी मानलें तो उस अखंडके खंड भी उसी तरहके होंगे। जैसे शुद्ध चांदीके खण्ड भी शुद्ध ही होते हैं ऐसी दशामें शुद्ध ज्ञानमय अमूर्तीक ईश्वरके सब ही खंड शुद्ध ज्ञानमय अमूर्तीक होंगे । यदि ऐसा होता तो जगतमें कोई भी जीव अशुद्ध रागी द्वेषी या अज्ञानी नहीं मिल सक्ता । तथा अमूर्तीकसे मूर्तीक जड़का बनना तो बिलकुल असंभव है और जगतमें हम जड़ अचेतनको प्रत्यक्ष देखरहे हैं । हमारा शरीर ही जिन परमाणुओंसे बना है वे जड़ अचेतन हैं । जगतमें यह भी नियम है कि जो नष्ट होता है उसमें भी पहलेके ही गुण रहते हैं-एक मिट्टीके घड़ेको फोड़कर चूराचूरा करने पर भी मिट्टीका ही स्वभाव बना रहता है । इससे प्रत्यक्ष प्रगट जड़ व जीव सब एक समय ईश्वरमय अमूर्तीक चेतन हो जांयगे यह बात असंभव है । यदि ईश्वर रूप जगत होता तो जैसे ईश्वर आनन्दमय है वैसे यह जगत भी आनन्दमय होता-कहीं पर भी दुःख, क्लेश या शोकका कारण न बनता। इस तरह विचार करनेसे एक ही ईश्वरकी अनादि सत्ता सिद्ध नहीं होती किन्तु सर्व ही जीव व सर्व ही परमाणु व अन्य आकाशादि ये सर्व ही द्रव्य सत् रूप हैं, सदासे हैं व सदा ही रहेंगे, यही बात समझमें आती है।

इसी सत् लक्षणको विशेष स्पष्ट करनेके लिये आचार्यने दूसरा लक्षण बताया है कि द्रव्यमें सदा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होता है।

किसी अवस्थाकी उत्पत्तिको उत्पाद व किसी अवस्थाके नाशको व्यय तथा जिसमें ये अवस्थाएं नाश या उत्पन्न हुईं उसका सदा बना रहना सो ध्रौव्य है। ये तीन स्वभाव हरएक द्रव्यमें सदा पाए जाते हैं। ये तीन स्वभावही द्रव्यकी सत्ताको सिद्ध करते हैं। इसका दृष्टांत यह है कि हमारे हाथमें एक सुवर्णकी मुद्रिका है। जब हम उसको तोड़कर बालियां बनाते तब मुद्रिकाकी अवस्थाका नाश या व्यय होता है व बालियोंकी अवस्थाका उत्पाद या जन्म होता है परंतु दोनों ही अवस्थामें वह सुवर्ण ही रहा है। गेहूंके दानोंको जब चक्कीमें पीसा जाता है तब वहां तीनों ही स्वभाव एक समयमें झलकते हैं। जब गेहूंका दाना मिटता तब ही उसका चूर्ण आटा बनता तथा जो परमाणु गेहूंके दानेमें थे वे ही परमाणु आटेमें हैं इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समयमें सिद्ध होगया। एक आदमी सोया पड़ा था जब जागा तब उसकी निद्रा अवस्थाका नाश हुआ, जागृत अवस्थाका उत्पाद हुआ तथा मनुष्यपना बना रहा। यही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। एक मनुष्य शांतिसे बैठा था किसी स्त्रीको देखकर रागी होगया। जिस समय रागी हुआ उसकी राग अवस्थाका उत्पाद हुआ, शांतिकी अवस्थाका व्यय हुआ, मनुष्यका जीवनपना ध्रौव्य है। इन तीन स्वभावोंसे हरएक वस्तु परिणमन करती है। यही परिणमन सत्ताका द्योतक है। जब हम किसी वृद्ध मनुष्यको देखते हम उसकी इस अवस्थाको देखकर यही समझते हैं कि यह वही मनुष्य है जो २० वर्ष पहले युवान था। द्रव्य उसे कहते हैं जो द्रवणशील हो अर्थात् जो कूटस्थ नित्य न रहकर सदा परिणमन करता रहे। द्रव्यमें द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण इसी भावका द्योतक है।

द्रव्यमें एक वस्तुत्त्व नामका सामान्य गुण है जिससे हरएक द्रव्य व्यर्थ न रहकर कुछ कार्य करता रहता है। कार्य तब ही होता है जब द्रव्यमें परिणमन होगा अर्थात् उसकी अवस्थाए बदलेंगी अर्थात् पुरानी अवस्था नष्ट होकर नवीन अवस्था उत्पन्न होगी और वह जिसमें अवस्था हुई बना रहेगा। यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत्पदार्थमें न होता तो न कोई जन्मता न मरता न किसीके कर्मबंधसे अशुद्धता होती, न कोई कर्मबंध तोड़कर शुद्ध मुक्त होता, न परमाणुओंके स्कंध बनते न स्कंधके परमाणु बनते, न बीजसे वृक्ष होता न वृक्षसे फल होते व इंधन होता और न जीव बदलते हुए भी अपने जीवत्त्वको कायम रख सक्ता और न पुद्गल बदलते हुए अपने पुद्गलपनेको ध्रुव रख सक्ता इससे यह बात निःसन्देह ठीक है कि हरएक सत् द्रव्य उत्पादादि तीन स्वभाव रूप है। इन्हीं स्वभावोंके कारण ही जगतमें नाना प्रकारके कार्य दीखते हैं। रोगी होकर निरोग होना, इसी तीन रूप स्वभावसे ही बन सक्ता है।

शिष्योंको विशेषपने द्रव्यका लक्षण स्पष्ट करनेके लिये आचार्यने तीसरा लक्षण भी किया है कि जिसमें गुण हों और पर्यायें हों सो द्रव्य है। द्रव्य सदा गुण और पर्यायोंसे शून्य नहीं होता। जो द्रव्यके सदा साथ रहें और द्रव्यकी प्रशंसा करें वे गुण हैं। गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं और स्वयं किन्हीं और गुणोंको अपनेमें नहीं रखते, गुण और गुणी या द्रव्यका तादात्म्य अविनाभावी सम्बंध है यह बात दूसरी गाथामें समझा दी गई है। गुणोंमें ही जो परिणमन होकर अवस्था समय समय होती है उसको पर्याय कहते हैं। हरएक पर्याय एक समय मात्र ठहरती है फिर दूसरी

पर्याय हो जाती है। स्थूल दृष्टिवालोंको पर्याय स्थूलरूपसे कुछ देरतक ठहरी हुई मालूम होती है। जैसे वृक्षमें एक हरे आमको सवेरे देखा था फिर संध्याको देखा तब भी हरा ही दीखा परन्तु जब उसको आठ दिन पीछे देखा तब उसे पीला दीखा। वास्तवमें आमके भीतर वर्ण नामके गुणका परिणमन हर समय होता रहा है हर समय वह बदलता रहा है तब ही वह ८ दिनमें पीला हुआ है, परन्तु स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म परिणमन समझमें नहीं आता। सूक्ष्म ज्ञानी इस सूक्ष्म समय समयकी हरएक पर्यायको समझ सक्ते हैं। द्रव्यमें गुणोंकी ही ध्रुवता या नित्यता रहती है तथा पर्यायोंका ही उत्पाद और व्यय होता है इसी बातको यह गुण पर्यायवान द्रव्यका लक्षण द्योतित करता है।

इसीसे यह सिद्ध है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। हर समय उसमें नित्यपना और अनित्यपना दोनों स्वभाव हैं। गुणोंके कारण नित्यपना और पर्यायोंके कारण अनित्यपना है। यद्यपि ये दो स्वभाव विरोधी मालूम पड़ते हैं परन्तु यदि द्रव्यमें ये दोनों ही न हों तो द्रव्यसे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होसक्ता है। यदि हम सुवर्णको कूटस्थ नित्य मान लें तो सुवर्णकी कोई अवस्था नहीं हो सक्ती–उससे बाली, मुद्रिका, भुजबन्द आदि कोई आभूषण नहीं बन सक्ते और यदि सुवर्णको सर्वथा अनित्य मान लें तो वह एक समय मात्र ही ठहरेगा। जब वह ठहर ही नहीं सक्ता तब उसमेंसे कोई पदार्थ कैसे बन सक्ता है? इसलिये एक ही स्वभाव एकान्तसे माननेपर द्रव्यकी सत्ता ही नहीं ठहर सक्ती है। वास्तवमें यही बात ठीक है कि द्रव्य कथंचित् या स्यात् नित्य है

कथंचित् या स्यात् अनित्य है । कथंचित् या स्यात्का अर्थ किसी अपेक्षासे है । अनेक विरोधी स्वभावोंको एक द्रव्यमें समझने समझानेके लिये ही जैन दर्शनमें स्याद्वादका विधान किया गया है । किसी अपेक्षासे किसी स्वभावको जो कहे वह स्याद्वाद है ।

इस तरह सत्, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, तथा गुणपर्यायवान ये तीनों ही लक्षण द्रव्यके स्वरूपको अच्छी तरह बता देते हैं । श्री उमास्वामी महाराजने भी तत्त्वार्थसूत्रमें द्रव्यके तीन लक्षण इन सूत्रोंमें कहे हैं—

सत् द्रव्यलक्षणं ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३० ॥
गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ अ० ॥ ५ ॥

हम यदि सिद्धावस्था होते समय इन लक्षणोंको देखें तब हम समझेंगे कि सिद्धात्मा सत् है, यह वही है जो पहले असिद्ध या कर्म सहित थे । इस समय सिद्ध अवस्थाका उत्पाद हुआ है, अर्हन्त अवस्थाका व्यय हुआ है तथा जीवपना ध्रौव्य है तथा अर्हन्त आत्मामें जो गुण थे वे ही गुण सिद्धात्मामें हैं, कर्मबंधके छूटनेसे उनकी पर्याय पलट गई है । पहले चार अघातिया कर्मोंसे अव्याबाधत्त्व, सूक्ष्मत्त्व, अवगाहत्त्व व अगुरुलघुत्त्व प्रगट न थे, उन चारोंके क्षय होते ही ये चार स्वभाव प्रकाशमें आगए ।

गुण और पर्यायें द्रव्यके ही प्रदेशोंमें पाई जाती हैं इसलिये वे अभिन्न हैं परन्तु समझने समझानेके लिये उनका भेद करके मनन किया जाता है । संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा गुण और द्रव्यका भेद है, प्रदेशकी अपेक्षा नहीं है । जैसे जीव द्रव्य और ज्ञान गुण । दोनोंकी संज्ञा अलग २ है । ज्ञान गुणकी संख्या

एक है जब कि एक जीव अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक रूप है। जीवका लक्षण उपयोगवान है जब कि ज्ञानका लक्षण विशेषाकार जानना है। जीवका प्रयोजन स्वात्मानंदका लाभ है जब कि ज्ञानका प्रयोजन ज्ञेयोंको जानना है।

द्रव्यका स्वभाव अच्छी तरह समझकर हमें निज आत्म द्रव्यको सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तथा गुण पर्यायरूप जानकर निज आत्माके स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन वीर्य आनन्दादि गुणोंमें तन्मय होकर निज आत्माका अनुभव करना चाहिये जिससे चारित्रका लाभ हो और सुख शांतिका स्वाद आवे।

इस तरह नमस्कार गाथा, द्रव्य गुण पर्याय कथन गाथा, स्वसमय परसमय निरूपण गाथा, सत्तादि लक्षणत्रय सूचन गाथा इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओंसे पीठिका नामका पहला स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे अस्तित्व या सत्‌के दो प्रकार स्वरूप अस्तित्व व सादृश्य अस्तित्वमेंसे स्वरूप अस्तित्वको बताते हैं—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ५ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ५ ॥

सामान्यार्थ—अपने गुण और नाना प्रकारकी अपनी पर्यायों करके तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके द्रव्यका सर्व कालमें जो सद्भाव है वही निश्चय करके उसका स्वभाव है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणेहिं सग... नाना प्रकारके अपने गुण और अपनी पर्यायोंके साथ

जीवकी अपेक्षा अपने केवलज्ञान आदि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकाररूप अपनी पर्याय तथा सिद्ध गतिपना, अतीन्द्रियपना, कायरहितपना, योगरहितपना, वेदरहितपना इत्यादि नाना प्रकारकी अपनी अवस्थाओंके साथ और (उप्पादव्वयधुवत्तेहिं) उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेके साथ अर्थात् सिद्ध जीवकी अपेक्षा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्यायका उत्पाद, रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित परमसमाधि रूप मोक्षमार्गकी पर्यायका व्यय तथा मोक्षमार्ग और मोक्षके आधारभूत चले आनेवाले द्रव्यपनेका लक्षणरूप ध्रौव्यपना इन तीन प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ (दव्वस्स) द्रव्यका अर्थात् मुक्तात्मा रूपी द्रव्यका (सव्वकालं) सर्व कालोंमें अर्थात् सदा ही (सब्भावो) शुद्ध अस्तित्त्व है या उसकी शुद्ध सत्ता है (हि) सो ही निश्चय करके (सहावो) उसका निज भाव या निज रूप है, क्योंकि मुक्तात्मा इनके साथ अभिन्न हैं इसका हेतु यह है कि गुण पर्यायोंके अस्तित्त्वसे तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य-पनेके अस्तित्त्वसे ही शुद्ध आत्माके द्रव्यका अस्तित्त्व साधा जाता है और शुद्ध आत्माके द्रव्यके अस्तित्त्वसे गुण पर्यायोंका और उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेका अस्तित्त्व साधा जाता है। किस तरह परस्पर साधा जाता है सो बताते हैं-जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायोंका जो सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे भिन्न नहीं है, जो अस्तित्त्व है वही सुवर्णका अपना अस्तित्त्व है या सद्भाव है। तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका जो मुक्तात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा परमात्मा द्रव्यसे भिन्न

नहीं है जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अपना अस्तित्त्व या सद्भाव है और जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण और कुंडल आदि पर्यायोंके साथ जो सुवर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है, उस सुवर्णका जो अस्तित्त्व है वही पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायोंका अस्तित्त्व या निज भाव है तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंके साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्माका जो अस्तित्त्व है वही केवलज्ञानादि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका अस्तित्त्व या निजभाव जानना चाहिये। अब उत्पाद व्यय ध्रौव्यका भी द्रव्यके साथ जो अभिन्न अस्तित्त्व है उसको कहते हैं। जैसे सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णसे अभिन्न कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका विनाश तथा सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही सुवर्णका अस्तित्त्व व उसका निज भाव या स्वरूप है। तैसे ही परमात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा परमात्मासे अभिन्न मोक्ष पर्यायका उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत परमात्म द्रव्यपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्त्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अस्तित्त्व या उसका निजभाव या स्वरूप है। और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो सुवर्ण उसका जो अस्तित्त्व है वही कटक पर्यायका उत्पाद, कंकण पर्यायका व्यय तथा इन

दोनोंके आधारभूत सुवर्णपना रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्व या निजभाव या स्वरूप है। तैसे ही अपने द्रव्यक्षेत्र कालभावकी अपेक्षा मोक्ष पर्यायका उत्पाद, और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा दोनोंके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यपनारूप ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो परमात्मा द्रव्य उसका जो अस्तित्व है वही मोक्ष पर्यायका उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यरूप ध्रौव्य इनका अस्तित्व या निजभाव या स्वरूप है। इस तरह जैसे मुक्तात्मा द्रव्यका अपने ही गुण पर्याय और उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ स्वरूपका अस्तित्व या अवान्तर अस्तित्व अभिन्न स्थापित किया गया है तैसे ही शेष सर्व द्रव्योंका भी स्वरूप अस्तित्व या अवान्तर अस्तित्व स्थापित करना चाहिये। इस गाथाका यह अर्थ है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्वरूप अस्तित्व या अवान्तर सत्ताका स्वरूप बताया है। हरएक द्रव्य अपने अखंड जितने प्रदेशोंको लिये है चाहे वह एक प्रदेश हो व अनेक वह द्रव्य उतने प्रदेशोंके साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है। तथा उसकी इस अवान्तर या पृथक् सत्तामें ही गुणपर्यायपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहते हैं। जिसका भाव यह है कि जहां द्रव्यका अस्तित्व है वहीं उसके गुणपर्याय हैं व वहीं उसके उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं। इन तीन लक्षणोंकी अभिन्नता है, एकता है। ये तीनों लक्षण द्रव्यमें अविनाभावी हैं, न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोड़ता है न गुणपर्यायोंसे रहित होता है न उत्पाद व्यय ध्रौव्यको त्यागता है। द्रव्यमें हरसमय द्रव्यके ये तीनों ही लक्षण

पाए जाते हैं। यही द्रव्यका स्वभाव है। जैसे एक वस्त्रमें जहां उस वस्त्रकी सत्ता है वहीं उस वस्त्रकी गुण पर्यायें हैं वहीं उसका उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। इसका खुलासा यह है कि वस्त्रमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं वे वस्त्रके गुण हैं उनमें समय समय जो परिणमन या बदलाव होरहा है वे ही समय समयकी वस्त्रकी पर्यायें हैं। जब गुणोंकी पिछले समयकी पर्याय नष्ट होती है तब ही इस वर्तमान समयकी पर्याय पैदा होती है यह उत्पाद व्यय है। ध्रुवपना गुणोंका व उसके समुदाय द्रव्यका स्थिर है ही। एक वस्त्र जो दो चार मास पीछे जीर्ण दीखता है सो एकदम जीर्ण नहीं हुआ वह हर समयमें पुराना पड़ता जाता है। जब बहुत पुराना होजाता है तब ही हम स्थूल दृष्टिवालोंको मालूम पड़ता है। यहां वस्त्रको भी पुद्गल स्कंध रूप द्रव्य ध्यानमें लेना चाहिये क्योंकि यही वस्त्र अग्निका संबध पाकर राखकी पर्यायमें पलट सक्ता है तब भी पुद्गल द्रव्यकी सत्ताका नाश नहीं होता है। एक संसारी जीव सशरीर था वह जब एक शरीरको त्यागता है तब ही मनुष्य आयुका उदय समाप्त होकर यदि उसे देवगतिमें जाना हो तो देव आयुका उदय प्रारम्भ होजाता है। उसकी विग्रह गतिमें देवायुका उदय है। उसकी मनुष्य अवस्थाका व्यय विग्रह गतिका उत्पाद और जीव द्रव्य अपेक्षा ध्रुवपना एक कालमें मौजूद है तथा जीवके ज्ञानादि गुणोका सदभाव दोनों अवस्थाओंमें रहते हुए भी इन गुणोंका परिणमन बदला गया—जो परिणमन मनुष्य देहमे था वह परिणमन विग्रह गतिमें नहीं है। विग्रह गतिमें विग्रहगतिके योग्य परिणमन है। इस तरह हर

द्रव्य सदाकाल इन तीन लक्षणोंको रखता है। यदि हम शुद्ध आत्माकी ओर ध्यान करें जिनको कुछ काल मुक्त हुए व्यतीत हो चुका है, तो शुद्ध आत्माके भीतर तीनों लक्षण मिलेंगे। वे अपनी अवान्तर सत्ताको सदा रखते हैं। एक शुद्ध आत्मा दूसरी शुद्ध आत्मामें अपनी सत्ताको खो नहीं देता है। एक क्षेत्रमें अनेक दीपकोंका प्रकाश मिला हुआ रहने पर भी हरएक दीपकका प्रकाश अपनी भिन्न २ सत्ताको रखता है। यदि उनमेंसे एक दीपकको वहांसे अन्यत्र लेजावें तो उस दीपकके साथ उसका प्रकाश भी अलग चला जायगा, इसी तरह अनेक सिद्धात्मा एक क्षेत्रमें तिष्ठते हैं तौभी अपनी सत्ता भिन्न २ रखते हैं। इसी तरह शुद्धात्मामें अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्य्य, सम्यक्त चारित्र, अव्याबाध आदि गुण सदा पाए जाते हैं। तथा इन सब शुद्ध गुणोंमें क्षीर समुद्रमें जल कल्लोलकी तरह सामान्य अगुरुलघु गुण द्वारा षट्‌गुणी हानि वृद्धिरूप अवस्था होनेसे समय समय सदृश पर्यायें होती हैं। गुण पर्यायपना शुद्ध आत्मामें हरसमय सत्ताके साथ अभिन्न रहता है। इसी तरह नवीन पर्यायोंका उत्पाद होते हुए व पिछली पर्यायोंका व्यय होते हुए तथा शुद्ध आत्माका अनंतगुण सहित, ध्रौव्य होते हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी शुद्ध आत्मामें हर समय पाया जाता है, यह भी सत्तासे अभिन्न है। सिद्ध भगवानकी सत्ता इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ ही सदा बनी रहती है।

श्रीनेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें सिद्धका स्वरूप इसी प्रकारका बताया है—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥

भावार्थ–जो कर्म कलंक रहित हैं–मुख्य सम्यक्तादि आठ गुण सहित हैं, अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारवान हैं, लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं तथा उत्पाद व्यय सहित हैं और नित्य या ध्रुव हैं वे सिद्ध हैं। इस तरह स्व पर द्रव्यका त्रिलक्षण समझकर तथा हरएककी सत्ताको अलग२ निश्चय करके अपने आत्माको अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे सर्व रागादि व पुद्गल विकारोंसे पृथक् अपनी शुद्ध सत्तामें सदा विराजमान जानकर सर्व विकल्पोंको त्यागकर निज आत्माका ही अनुभव करना योग्य है–द्रव्यके लक्षण पहचाननेका यह तात्पर्य है ॥५॥

उत्थानिका–आगे सादृश्य अस्तित्त्व शब्दसे कहे जानेवाली महासत्ताका वर्णन करते हैं–

इह विविहलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं
उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥६॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् ।
उपदेशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥६॥

अन्वय सहित विशेषार्थ–(इह) इस लोकमें (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न २ लक्षण रखनेवाले पदार्थोंका (एगं) एक (सव्वगयं) सर्व पदार्थोंमें व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदित्ति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तुके स्वभावको (उवदिसदा) उपदेश करनेवाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेंद्रने (खलु) प्रगट रूपसे (पण्णत्तं) कहा है।

विशेषार्थ–इस जगतमें भिन्न २ लक्षणको रखनेवाले चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त अनेक पदार्थ हैं, उनमेंसे प्रत्येक पदार्थकी सत्ता या स्वरूपास्तित्त्व भिन्न २ है तौ भी इन सबका एक अखंड सर्वव्यापक लक्षण भी है। यह लक्षण मिलाप व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी २ जातिमें विरोध न पड़ने देनेवाले शुद्ध संग्रह नयसे सर्व पदार्थोंमें व्यापक एक सत् रूप है या महासत्ता रूप है ऐसा वस्तु स्वभावोंके संग्रहको उपदेश करनेवाले श्री वृषभनाथ भगवानने प्रगटरूपसे वर्णन किया है। इसका विस्तार यह है कि जैसे जब हम ऐसा कहें कि सर्व मुक्तात्मा है तब उससे सर्व ही सिद्धोंका एक साथ ग्रहण हो जाता है। यद्यपि वे सर्व सिद्ध अपने २ शुद्ध असख्यात प्रदेशोंकी अपेक्षा जो लोकाकाश प्रमाण हैं और परमानंदमई एक लक्षणको रखनेवाले सुखामृतके रसके स्वादसे भरे हुए हैं तथा अपने २ अंतिम शरीरके आकारसे कुछ कम व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा मिश्र व भिन्नताके विकल्पसे रहित अपनी अपनी जातिके भेदसे भिन्न २ हैं तौ भी एक सत्ता लक्षणकी अपेक्षा उन सब सिद्धोंका ग्रहण होजाता है। वैसे ही 'सर्व सत्' ऐसा कहनेपर संग्रह नयसे सर्व पदार्थोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा यह सेना है ऐसा कहनेपर अपनी २ जातिसे भिन्न घोड़े, हाथी आदि पदार्थोंकी भिन्नता है तौ भी सबका एक कालमें ग्रहण होजाता है अथवा यह वन है ऐसा कहनेपर अपनी२ जातिसे भिन्न निम्ब, आम्र आदि वृक्षोंकी भिन्नता है तौ भी सब वृक्षोंका एक कालमें ग्रहण हो जाता है। तैसे ही सर्व सत् ऐसा कहनेपर सादृश सत्ता या महासत्ताकी अपेक्षा शुद्ध संग्रह नयसे

सर्व ही पदार्थोंका विना उनकी जातिके विरोधके एक साथ ग्रहण होजाता है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें श्री कुंदकुंदआचार्यने महासत्ताका स्वरूप बताया है। सत्ता दो प्रकारकी है, एक अवान्तर सत्ता या स्वरूपास्तित्व, दूसरी महासत्ता या सादृश्यास्तित्व। हरएक द्रव्यके भिन्न २ स्वरूपको बतानेवाली अवान्तर सत्ता है तथा सर्व द्रव्योंमें एक सतपनेका एक काल बोध करानेवाली महासत्ता है। सतपना या अस्तित्व सर्व चेतन अचेतन पदार्थोंमें पाया जाता है इसलिये सतपना सर्व पदार्थोंमें व्यापक है उसकी अपेक्षासे महासत्ता या सादृश्यास्तित्व है। जो स्वभाव बहुतसोंमें एकसा होता है उसकी अपेक्षा एक कहनेका व्यवहार जगतमें है। जैसे यह सेना भाग रही है। यहां भागना स्वभाव सर्व हाथी घोड़े रथ पयादोंमें व्यापक है इसलिये सेना भाग रही है इतना ही वाक्य सबके भागनेका बोध करा देता है। अथवा यह बाग फूल रहा है इतना ही वाक्य इसका बोध करा देता है कि इस बागके सर्व ही वृक्षोंमें फूल खिल रहे हैं। यहां फूलोंका खिलना यह स्वभाव सब वृक्षोंमें व्यापक है। जो स्वभाव या कार्य एक समयमें अनेकोंमें पाया जावे उनके एक साथ बोध करनेवाले ज्ञानको या बोध करानेवाले वचन प्रयोगको संग्रह नय कहते हैं। लड़के खेल रहे हैं। यह संग्रह नयका वाक्य है क्योंकि खेलना सबमें एक साथ व्याप रहा है। यद्यपि हरएक लड़केके खेलमें भिन्नता है तथापि खेलना मात्र सबमें सामान्य है। कोयलें मीठा बोलती हैं, इस वाक्यने भी मीठा बोलना, अनेक कोयलोंमें व्यापक है इस बातको संग्रह नयसे बतलाया। इस ही तरह

जीव चेतन होता है यह वाक्य चेतनपनेको सब जीवोंमें व्यापक झलकाता है और एक साथ इसका बोध संग्रह नयसे कराता है । पुद्गल मूर्तीक है यह वाक्य सर्व पुद्गलोंमें स्पर्श रस गंध वर्णकी सत्ताका बोध कराता है अर्थात् मूर्तीकपना जो सब पुद्गलोंमें व्यापक था उस व्यापक स्वभावको इस वाक्यने एकदम सामान्यपने बोध करा दिया । इस ही तरह जब हम कहें कि सर्व सत् है तब यह वाक्य यही बोध कराता है कि सत्ता सर्व पदार्थोंमें व्यापक है अथवा सर्व पदार्थोंमें सादृश्य अस्तित्व है। इस ही तरह यदि कहा जाय कि यह जगत् परिवर्तनशील है, तब यह वाक्य यह बोध कराता है कि परिवर्तनपना या अवस्थाओंका बदलना यह स्वभाव सर्व पदार्थोंमें एक काल व्यापक है। निश्चयनयसे सब जीव शुद्ध है–यह वाक्य बोध कराता है कि स्वभावकी अपेक्षा शुद्धपना सर्व जीवोंमें व्यापक है। महासत्ता सर्व जगतके पदार्थोंमें अस्तित्व स्वभावकी व्यापकताको बताती है। इस तरह वस्तुका स्वभाव तीर्थंकरोंने प्रगट किया है। यहां आचार्यने श्री ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकरका नाम इसी लिये लिया है कि इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें भोगभूमिके पीछे तथा कर्मभूमिकी आदिमें सच्चे वस्तु स्वभावको प्रगट करनेवाले प्रथम ही श्री आदिनाथ भगवान हुए हैं। उनसे लेकर हमतक सर्वका यही मत है कि भिन्न २ द्रव्यकी सत्ता सो अवान्तर सत्ता है और सबकी एक सत्ता सो महासत्ता है।

इस कथनको प्रगट करके आचार्यने यह तत्त्व प्रगट किया है कि यह जगत् सत्‌रूप होकर भी अनेक विचित्र रूप है। यह

एक ब्रह्मस्वरूप ही नहीं है जैसा वेदान्तका कथन है। न यह एक जड़ रूप ही है जैसा चार्वाकका कथन है। न यह एक ब्रह्म व एक जड़रूप है किन्तु यह जगत् अनन्तानंत जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश, असंख्यात कालाणुरूप होकर भी इनकी अनेक अवस्था व स्वरूप नाना प्रकारका विचित्र है। इस तत्त्वको जाननेका तात्पर्य यह है कि हम अपने आत्माको सदा ही रहनेवाला सत् रूप जानें तथा उसकी जो वर्तमान अवस्था रागद्वेष मोहरूप व अज्ञान रूप हो रही है इस अवस्थाको दूर करके इसको सिद्धकी अवस्थामें पहुंचा देवें जिससे यह सदा ही निजानंदका पान करे तथा इसी हेतुसे हमें निज आत्माका स्वरूप निश्चयसे शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ध्यानमेंकर उसहीका विचार तथा अनुभव करना चाहिये ॥ ६॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते हैं कि जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तध आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ॥ ७॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः॥ ७॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वं) द्रव्य (सहावसिद्धं) स्वभावसे सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रोंने (तच्चदो) तत्त्वसे (समक्खादो) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगमसे (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नहीं मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगटरूपसे परसमयरूप है।

विशेषार्थ—यहां परमात्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि परमात्मारूपी द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है क्योंकि परमात्मा अनादि अनन्त, विना अन्य कारणकी अपेक्षाके भये अपने स्वतः सिद्ध केवलज्ञानादि गुणोंके आधारभूत हैं, सदा आनन्दमई सुखामृत-रूपी परम समरसी भावमें परिणमन करते हुए सर्व शुद्ध आत्मप्रदेशोंसे भरपूर हैं तथा शुद्ध उपादान रूपसे अपने ही स्वभावसे उत्पन्न हैं। जो स्वभावसे सिद्ध नहीं होता है वह द्रव्य भी नहीं होता है। जैसे द्विणुक आदि पुद्गलस्कंधकी पर्याय व मनुष्यादि जीवपर्याय । परमाणुओंकी सत्ता स्वयंसिद्ध है तब ही उनके उपादान कारणसे द्विणुक आदि स्कंध बनते हैं। जीवकी सत्ता सदा सिद्ध है तब ही उसके उपादान कारणसे मनुष्यादि पर्यायें होती हैं। जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है सत्ता किसी भिन्न सत्ताके समवायसे नहीं हुई है। क्योंकि सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिसे भेद होनेपर भी जैसे दंड और दंडी पुरुषके प्रदेशोंका भेद है ऐसी प्रदेशोंकी भिन्नता सत्ता और द्रव्यमें नहीं है। सत्ता गुण है इस लिये द्रव्यमें सदा पाया जाता है। तथा वह सत्तागुण द्रव्यगुणीसे कभी पृथक् नहीं हो सक्ता है इस बातको निश्चयसे तीर्थंकरोंने वर्णन किया है तथा यही बात सन्तानकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनंत आगमसे भी सिद्ध है। जो ऐसा वस्तुकास्वरूप नहीं स्वीकार करता है वह मिथ्या-दृष्टी है। इस तरह जैसा परमात्म द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है तैसे ही सर्व द्रव्योंको स्वभावसे सिद्ध जानना चाहिये। यहां यह अभिप्राय है कि द्रव्यको किसी पुरुषने रचा नहीं है और न द्रव्यका सत्ता

गुण ही द्रव्यसे भिन्न है।

भावार्थ-आचार्यने पूर्वमें त्रिलक्षणमई द्रव्यको बतलाया था। इस गाथामें पहला जो लक्षण सत् किया था उसके सम्बन्धमें कहा है कि वह सत् या अस्तित्व, या सत्ता द्रव्यमें सदा पाई जाती है। गुण और गुणी प्रदेशोंकी अपेक्षा एक हैं परन्तु नाम आदि भेदसे विचारते हुए भिन्न२ झलकते हैं। सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है। दोनों सदासे साथ हैं इसलिये जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनंत है वैसे उसकी सत्ता स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनंत है। यद्यपि इस जगतमें अवस्थाएं बनती और विगड़ती दिखलाई पड़ती हैं परंतु जिसमें ये अवस्थाएं होती हैं वह द्रव्य न बनता दिखलाई पडता है न नष्ट होता मालूम होता है। परमाणुओंसे स्कंध बनते हैं, स्कंधसे परमाणु बन जाते हैं। अकस्मात् कोई नहीं बनता है। मनुष्य शरीरमें जीव आता है तब मनुष्य जीव कहलाता है, वही जीव देव पर्यायमें जाता है तब देव जीव कहलाता है। वास्तवमें इस लोकमें जीव पुद्गल आदि छहों द्रव्य अनादि अनंत हैं इसीसे स्वभावसिद्ध है, किसीने बनाए नहीं है। किसीका किसीसे बनना तब ही माना जासक्ता है जब किसी समय या क्षेत्रमें पहले उसका अभाव या न होना सिद्ध हो जावे। यदि हम विचारते हुए चले जावेंगे तब किसी भी द्रव्यका कभी या कहीं अभाव था ऐसा सिद्ध नहीं होगा। जगतमें यही देखा जाता है कि पानीसे मेघ बनते हैं, मेघसे पानी बनता है, वृक्षसे बीज होता है बीजसे वृक्ष होता है-कभी भी विना बीजके वृक्षका होना व विना वृक्षके बीजका होना सिद्ध नहीं होसक्ता। मनुष्य माता पिताके

संयोगसे होता है यह क्रम अनादि है--कभी भी कोई मनुष्य विना माता पिताके नहीं होसक्ता। जगतमें अवस्थाविशेषका उत्पाद व अवस्थाविशेषका ही व्यय होता है, मूल द्रव्य कभी न जन्मता है न नष्ट होता है। सिद्ध भगवान परमात्मा हैं वे भी स्वभावसिद्ध अनादि हैं। यद्यपि उनकी सिद्ध अवस्था सादि है, परन्तु जिस जीव द्रव्यमें यह अवस्थामई है वह अनादि है। जीवमें सब ही केवलज्ञानादि गुण सदासे ही थे तथा उसके असंख्यात प्रदेश सदासे ही थे। उनपर जब आवरण था तब वे अशुद्ध थे, जब आवरण चला गया तब वे शुद्ध हो गए--तथा यह शुद्धता भी अपने ही उपादान कारणरूप निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसाररूप निर्विकल्प समाधिसे ही हुई है। द्रव्य जैसे स्वभावसिद्ध है वैसे उसका लक्षण जो स्वरूप अस्तित्व है वह भी स्वभावसे सिद्ध है। द्रव्यार्थिक नय या निश्चयनय गुणगुणीका भेद न करके अखंड द्रव्यको ग्रहण करती है। इस नयमें सत्ता और द्रव्य भिन्न२ नहीं दिखते हैं--एक द्रव्य ही झलकता है। पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनयसे जब उसके स्वरूपको समझा या समझाया जाता है तब द्रव्यमें जितने गुणोंका आधार हैं उनका भिन्न २ नाम व स्वरूप या प्रयोजन समझाया जाता है। जैसे जो अग्निको जानता है उसके लिये अग्नि कहना ही बश है इसीसे ही वह अग्निको समझ जाता है, परन्तु जो कोई अज्ञानी अग्निको नहीं समझता है उसके लिये कोई ज्ञानी इस तरह समझाते हैं कि अग्नि उसे कहते हैं जिसमें दाहक अर्थात् जलानेका स्वभाव हो, पाचक अर्थात् पकानेका स्वभाव हो, प्रकाशक अर्थात् उजाला देनेका स्वभाव हो इत्यादि ये तीनों ही स्वभाव अग्निमें

सदा पाए जाते हैं इसीसे इनको भेद करके समझानेसे अग्निका बो अज्ञानीको होजाता है। द्रव्य और उसकी सत्ता सदासे है यह कथ उन सब मिथ्या भ्रमोंको दूर करता है जो किसी समय जीव अ अजीवकी सत्ताका अभाव मानते हैं या इनको ब्रह्मसे पैदा हुआ ब्रह्ममें लय होना मानते हैं। हरएक द्रव्य जीव हो या पुद्गल अप स्वरूपके अस्तित्वको सदासे रखता है—सदासे ही जीवमें जीवप है, सदासे ही पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना है। न किसी एक से अनेक हुए न जीवसे पुद्गल हुए न पुद्गलसे जीव हुए—सब द्रव्य सदासे परिणमन करते हुए बने रहते हैं। यह बिलकु अकाट्य सिद्धांत है कि सतका नाश नहीं व असतका उत्पाद नहं सत रूप द्रव्यमें ही पर्यायका उत्पाद या विनाश होता है, अ त्में नहीं हो सक्ता। स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें य कहा है कि सत् पदार्थमें ही विधि निषेध या अस्तिनास्ति कल्पना हो सक्ती है—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

भावार्थ-सत् पदार्थमें ही अपने स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपे विधि या अस्तित्त्व तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा निषेध नास्तित्त्व कहा जा सक्ता है। जो पदार्थ अभावरूप है या अ है उसमें अस्तित्त्व या नास्तित्त्वकी कल्पना हो ही नहीं सक्ती इस लिये जगतमें सर्व ही द्रव्य सतरूप हैं।

द्रव्य और उसकी सत्ता स्वभावसिद्ध अनादि है यह व तीर्थंकरोंने अपनी२ दिव्यवाणीसे प्रकाशित की है तथा यही बा आगमसे भी प्रगट है।

इस अनादि प्रवाहरूप जगतमें सदा ही तीर्थंकर या केवली होते रहे हैं इसलिये उनका उपदेश भी होता रहा है। तथा सदासे ही गणधरोंने उसकी द्वादशागरूप रचना करके उसे आगमरूप प्रगट किया है इसलिये प्रवाह या सतानकी अपेक्षा भगवानका उपदेश तथा शास्त्र दोनों अनादि हैं । इन दोनोंसे यही बात मान्य है, अतएव यह अटल सिद्धात है कि द्रव्य स्वभाव सिद्धअनादि अनन्त है तैसे ही उसकी अभिन्न सत्ता भी स्वभावसिद्ध सदा कालसे है व सदाकाल बनी रहेगी । यही यथार्थ वस्तुका स्वभाव है। जो इस तत्वको नहीं समझता है वह पर समयरूप मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है । उसको अपनी आत्माकी सत्ताकी नित्यताका कभी श्रद्धान नहीं होगा तब वह आत्मा व उसका परलोक न मानता हुआ इस शरीरकी अवस्थाको ही आपा मानेगा और शरीरसुख हीमें लिप्त रहेगा । यही अज्ञान चेष्टा है ।

तात्पर्य यह है कि अपने आत्माको सदासे ही निश्चय नयसे शुद्ध परमात्माके समान वीतरागी तथा आनदमई और ज्ञाता दृष्टा निश्चयकर उसके स्वभावके अनुभवमें लय होकर आत्माको कर्मबधनसे छुडाना चाहिये और सुख शातिका लाभ करना चाहिये ॥७॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए सत्ता ही द्रव्य स्वरूप है अथवा द्रव्य सत् स्वरूप है–

सदवट्ठिय सहावे, दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो, ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ८ ॥

सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणाम ।
अर्थेषु स स्वभाव. स्थितिसभवनाशसबद्ध ॥ ८ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सहावे) सभावमें (अवट्ठियं) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्वं) द्रव्य है । (दव्वस्स) द्रव्यका (अत्थेसु) गुण पर्यायोंमें (जो) जो (ठिदिसंभवणाससंबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित (परिणामो) परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है ।

विशेषार्थ-यहां टीकाकार परमात्मा द्रव्यपर प्रथम घटाकर समझाते हैं। स्वभावमें तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतनाका अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है । उस परमात्मा द्रव्यका अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व यहां अरहंतपनेसे मतलब (है) आदि पर्यायोंमें अपने आत्माकी प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समयमें परमागमकी भाषासे एकत्ववितर्क अवीचार रूप दूसरे शुक्ल ध्यानका या शुद्ध उपादानरूप सर्व रागादिके विकल्पकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानपर्यायका नाश तथा उसी ही समय इन दोनों उत्पाद व्ययके आधाररूप परमात्म द्रव्यकी स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चयसे उस परमात्म द्रव्यका केवलज्ञानादि गुण या सिद्धत्व आदि पर्यायरूप स्वभाव है । गुण पर्याय द्रव्यके स्वभाव हैं इस लिये उनको अर्थ कहते हैं। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभावसे एक समयमें यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे परमात्म द्रव्य परिणमन करते हैं तथापि द्रव्यार्थिक नयसे सत्ता लक्षण रूप ही हैं । तीन लक्षण रूप होते हुए भी सत्ता लक्षण क्यों कहते हैं इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप है। जैसा कहा है " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " जैसे यह परमात्म द्रव्य एक

समयमें ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे परिणमन करता हुआ ही सत्ता लक्षण कहा जाता है तैसे ही सर्व द्रव्योंका स्वभाव है यह अर्थ है ।

भावार्थ–यहा इस गाथामें आचार्यने द्रव्यका स्वभाव स्पष्ट किया है कि सत्ता रूप वस्तु अपने स्वभावमें वर्तन करती हुई द्रव्य कहलाती है । तथा उस सत्ताका यह स्वभाव है कि वह सदा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणमन करती है । जिस पदार्थकी सत्ता होगी उसमे पर्यायें होनी ही चाहिये । पूर्व पर्यायका नाश व्यय है, उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति उत्पाद है, द्रव्यका सदा बना रहना ध्रौव्य है, जो सत्ता है वह अवश्य तीन रूप रहेगी । वृत्तिकारने अरहत परमात्मापर घटाकर कहा है कि जब अरहत अवस्थाका उत्पाद व्यय होता है तब ही पूर्वमें जो बाहरवें गुणस्थानमें स्वसवेदन परिणाम था उसका नाश होता है और आत्माका ध्रौव्य विद्यमान है । इस तरह जब पर्यायार्थिक नयसे भेद करके विचारते हैं तब उत्पाद ध्रौव्यकी कल्पना करते है । परन्तु जब द्रव्यार्थिक नयसे विचार करते हैं तब इस भेदत्रयीको गौण करके सत्ता मात्र द्रव्य है ऐसा कहा जाता है । अभेद नयसे सत्ता एक रूप है, भेद नयसे वही तीन रूप है । इस कथनसे भी आचार्यने अनेकात मतके गौरवको बताया है । उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्य ये तीन अवस्थाए पदार्थमें एक ही समयमें नित्यत्त्व और अनित्यत्वको झलकाते हैं । पर्यायका नाश व उत्पाद होना अनित्यपनका द्योतक है–तथा द्रव्यका ध्रौव्यपना नित्यत्वका द्योतक है । इससे द्रव्य नित्य नित्यात्मक है । यही सिद्धात ठीक है । यदि एकातसे द्रव्यको नित्य ही माने उसमें अनित्य स्वभाव न माने तो क्या

दोष होगा इसके लिये स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है:—

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

भावार्थ यदि पदार्थमें मात्र नित्यपना ही है, अनित्यपना नहीं है ऐसा एकान्त पक्ष माना जायगा तो उसमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें पलटना नहीं होगा वस्तु सदा एक रूप ही बनी रहेगी उसमें कोई विकार नहीं होगा, तब कर्ता कर्म करण आदि कारकोंका पहले ही अभाव होनेसे उसमें प्रमाण और उसके फलकी कल्पना नहीं हो सकेगी।

और यदि वस्तुको सर्वथा अनित्य माना जावेगा तो क्या दोष होगा उसके लिये भी स्वामी वहीं कहते हैं—

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

भावार्थ—यदि वस्तुको सर्वथा क्षणिक माना जायगा कि पदार्थ क्षणक्षणमें बिलकुल नष्ट होता है तो यह दोष आएगा कि जीवके परलोककी व संसार व मोक्षकी सिद्धि न होगी तथा प्रत्यभिज्ञान न होगा कि यह वही वस्तु है जिसको पहले देखा था न किसी पदार्थके लिये विचार या तर्क हो सकेगा और न घट पट बनानेके कार्यका आरंभ हो सकेगा न कार्य बनके उससे कोई फलकी साधना की जा सकेगी। परंतु यदि वस्तुको गुणोंके सदा स्थिर रहनेकी अपेक्षासे नित्य माना जावे और उन गुणोंमें समय समय पर्याय विनशती उपजती है इससे अनित्य माना जावे तब ही

उसमेंसे कार्य हो सक्ते हैं। वास्तवमें यही अनेक धर्मात्मक सिद्धांत ठीक है। इसीसे हरएक सत्तारूप द्रव्यपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय रूप और गुणोंकी अपेक्षा ध्रौव्य रूप सिद्ध होती है। ऐसा ही सत्ताका स्वभाव है। द्रव्य सत् स्वरूप है और सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। यही बात यथार्थ है।

इस तरह सरूप सत्ताको कहते हुए प्रथम गाथा, महासत्ताको कहते हुए दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतःसिद्ध है वैसे उसकी सत्ता गुण भी स्वतः सिद्ध है ऐसा कहते हुए तीसरी गाथा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए भी सत्ता हीको द्रव्य कहते हुए चौथी गाथा इस तरह चार गाथाओंके द्वारा सत्ता लक्षणके व्याख्यानकी मुख्यता करके दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनोंमें परस्पर अपेक्षापना है ऐसा दिखलाते हैं—

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ ९ ॥

न भवो भंगविहीनो भंगो वा नास्ति संभवविहीनः ।
उत्पादोपि च भंगो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥ ९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(भंग विहीणो भवो ण) व्ययके विना उत्पाद नहीं होता है (वा) तथा (संभवविहीणो भंगो णत्थि) उत्पादके विना भंग या व्यय नहीं होता है (य) और (उप्पादो वि) उत्पाद तथा (भंगो) व्यय (धोव्वेण अत्थेण विणा ण) ध्रौव्य पदार्थके विना नहीं होते।

विशेषार्थ वृत्तिकार सम्यक्तकी उत्पत्तिका दृष्टांत देकर इन

उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी परस्पर अपेक्षाको बताते हैं-निर्दोष परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्त अवस्थाका उत्पाद सम्यक्तसे विपरीत मिथ्यात्त्व पर्यायके नाशके विना नहीं होता है क्योंकि उपादान कारणके अभावसे कार्य नहीं बन सकेगा। जब उपादान कारण होगा तब ही कार्य होसक्ता है। जैसे मिट्टीके पिंडका नाश हुए विना घड़ा नहीं पैदा होसक्ता है। मिट्टीका पिंड उपादान कारण है। दूसरा कारण यह है कि जो मिथ्यात्व पर्यायका नाश है वही सम्यक्तकी पर्यायका प्रतिभास है क्योंकि ऐसा सिद्धांतका वचन है कि "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभावः" अन्य भाव रूप स्वभाव ही अभाव होता है अर्थात् सर्वथा अभाव नहीं होता-अन्य अवस्थारूप परिणमना ही अभाव है जैसे घटका उत्पन्न होना ही मिट्टीके पिंडका भंग है। यदि मिथ्यात्व पर्यायके भंग रूप सम्यक्तके उपादान करणके अभावमें भी शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप सम्यक्तका उत्पाद हो जावे तब तो उपादान कारणसे रहित आकाशके पुष्पोंका भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सक्ता है। इसी तरह पर द्रव्य उपादेय है-ग्रहण योग्य है ऐसे मिथ्यात्वका नाश पूर्वमें कहे हुए सम्यक्त पर्यायके उत्पाद विना नहीं होता है क्योंकि भंगके कारणका अभाव होनेसे भंग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्तिके अभावमें मिट्टीके पिंडका नाश नहीं बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त रूप पर्यायकी उत्पत्ति मिथ्यात्त्व रूप पर्यायके अभाव रूपसे ही देखनेमें आती है क्योंकि एक पर्यायका अन्य पर्यायमें पलटना होता है, जैसे घट पर्यायकी उत्पत्ति मिट्टीके पिंडके अभाव रूपसे ही होती है। यदि सम्यक्तकी उत्पत्तिकी

अपेक्षाके विना मिथ्यात्त्व पर्यायका अभाव होता है ऐसा माना जाय तो मिथ्यात्त्व पर्यायका अभाव हो ही नहीं सक्ता क्योंकि अभावके कारणका अभाव है अर्थात् उत्पाद नहीं है । जैसे घटकी उत्पत्तिके विना मिट्टीके पिंडका अभाव नहीं होसक्ता इसी तरह परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्तका उत्पाद तथा उससे विपरित मिथ्यात्त्व पर्यायका नाश ये दोनों बातें इन दोनोंके आधारभूत परमात्म रूप द्रव्य पदार्थके विना नहीं होती । क्योंकि द्रव्यके अभावमें व्यय और उत्पादका अभाव है। मिट्टी द्रव्यके अभाव होनेपर न घटकी उत्पत्ति होती है न मिट्टीके पिंडका भंग होता है । जैसे सम्यक्त और मिथ्यात्व पर्याय दोनोंमें परस्पर अपेक्षापना है ऐसा समझकर ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीन दिखलाए गए हैं इसी तरह सर्व द्रव्यकी पर्यायोंमें देख लेना व विचार लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने उत्पाद व्यय ध्रौव्यको एक दूसरेकी अपेक्षासे अर्थात् एक दूसरेके आलम्बनसे, होना सिद्ध किया है । स्वतन्त्र न उत्पाद होसक्ता है न व्यय और न ध्रौव्य ही रह सक्ता है । वास्तवमें बात इतनी है कि पदार्थमें समय समयमें कोई न कोई अवस्था होती रहती है। एक अवस्थाकी तरफ दृष्टि देकर यदि विचार करेंगे तो विदित होगा कि वहां ये तीनों ही हैं । जिस अवस्थाका व्यय होकर कोई अवस्था बनी है उसका तो नाश या व्यय हुआ है, जो अवस्था पैदा हुई है उसका उत्पाद है और दोनों अवस्थाओंका आधारभूत पदार्थ बराबर विद्यमान है यही ध्रौव्य है । यदि उत्पाद न माने तो व्यय न होगा ।

व्यय न माने तो उत्पाद न होगा। ध्रौव्य न माने तो उत्पाद व्यय किसमें होगा। इसलिये यह बात बिलकुल यथार्थ है कि एक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोंको ही किसी भी सत् पदार्थमें मानना होगा। अन्यथा कोई कार्य नहीं होसक्ता। जैसे जब एक काष्ठकी चौकी बनी है तब काष्टके तखतेकी दशाको बिगाड़कर बनी है। जब तखतेका नाश हुआ तब ही चौकीकी उत्पत्ति हुई तथा तखते और चौकी दोनोंका आधारभूत लकड़ी ध्रौव्य रूपसे मौजूद है ही। गोरसको बिलोकर जब मक्खन बना तब मक्खनका उत्पाद हुआ सो दूधकी दशाको नाशकर हुआ है और गोरस दूधमें भी था और इस मक्खनमें भी है। वृत्तिकारने सम्यक्तकी उत्पत्तिका उदाहरण दिया है कि जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रगट होता है तब मिथ्यात्वके उदयका अभाव अवश्य होता है और आत्मा दोनों अवस्थाओंमें विद्यमान रहता है। इस कथनसे यह बात दिखलाई है कि किसी पदार्थका सर्वथा नाश या अभाव नहीं होसक्ता है और न कोई पदार्थ अकस्मात् विना कारणके उत्पन्न होसक्ता है तथा जिसमें नाशपना और उत्पाद होता है वह पदार्थ बना रहता है। मूल पदार्थ यदि न बना रहे तो कोई भी अवस्था उसमें हो नहीं सक्ती। इस कथनसे और भी स्पष्टकर दिया गया है कि यह जगत् अनादिअनन्त और अकृत्रिम है। कारण यही है कि सत् पदार्थ सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे रहता है। जिन पदार्थोंका जगतमें समावेश है वे सब पदार्थ सत् हैं और उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप हैं। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन परस्पर सापेक्ष है इसी बातको स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें इस भांति दर्शाया है—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

भावार्थ-जो जो कार्यका उत्पाद होता है वह नियमसे अपने उपादान कारणको क्षय करके होता है। यह नाश और उत्पाद अपने२ लक्षणकी अपेक्षा अलग२ हैं परंतु जाति अर्थात् सत्तारूप द्रव्यकी अपेक्षा या प्रमेयपनेकी अपेक्षा वे दोनों भिन्न नहीं हैं-एक रूपका रूपान्तर हुआ है। यदि इनको एक दूसरेकी अपेक्षा विना स्वतंत्र माने तो ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों ही आकाशके पुष्प समान हो जावेंगे अर्थात् कुछ भी नहीं रहेंगे। इसीके वतानेको लौकिक दृष्टान्त देते हैं—

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥

भावार्थ-जैसे कोई सुनार सुवर्णके घटको तोड़कर उससे मौलि या मुकुट बना रहा था उस समय उसके पास तीन आदमी तीन अभिप्रायके आए। एक तो सुवर्णका घट लेना चाहता था वह इस सुवर्णके घटको नष्ट होते देखकर मनमें शोक करता है। दूसरा सुवर्णका मौलि लेना चाहता था वह अपनी इच्छानुकूल मौलिको बनते देखकर हर्ष करता है। तीसरा मात्र सुवर्ण चाहता था वह घटका नाश होते न खेद करता न मौलिके बनते हुए हर्ष करता किन्तु माध्यस्थ या उदासीन रहता है क्योंकि उसको तो सुवर्ण मात्र चाहिये वह चाहे जिस अवस्थामें मिले। इस दृष्टांतसे आचार्यने यह दिखलाया कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा सहित हैं, स्वतंत्र अलग२ नहीं पाए जा सक्ते हैं। तथा स्वरूपके लक्ष-

णकी अपेक्षा तीनों भिन्न २ हैं परन्तु एक द्रव्यमें एक समयमें पाए जाते हैं इससे भिन्न नहीं हैं। इस कारण ये कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न हैं। दूसरा दृष्टांत देते हैं—

पयो व्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

भावार्थ—जिसको यह व्रत है कि मैं दूधको खाऊंगा दही न खाऊंगा वह दहीको नहीं खाता है और जिसको दही खानेका व्रत है वह दही खाता है दूधको नहीं खाता है परन्तु जिसको यह व्रत है कि मैं गोरसको नहीं खाऊंगा वह न दहीको खाता है न दूधको पीता है इसलिये यह सिद्ध है कि पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। जब दूधका दही बनता हो तब दूध चाहनेवालेको खेद, दही चाहनेवालेको हर्ष व दोनों न चाहनेवालेको माध्यस्थ भाव रहेगा। ऐसा वस्तुका स्वभाव जानकर अपने आत्माको सत् पदार्थ निश्चय करके अपनी संसार अवस्थाको नाशकर मुक्तावस्थाके उत्पादका दृढ़ उद्योग हमको करना चाहिये और वह उद्योग एक साम्यभाव है जो रत्नत्रयकी एकतारूप आत्माकी परिणतिमें झलकता है इसलिये साम्य या स्वात्मानुभवका लाभ करना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्थानिका—आगे यह बताते हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका द्रव्यके साथ परस्पर आधार आधेय भाव है इसलिये अन्वयरूप द्रव्यार्थिक नयसे वे द्रव्य ही हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ॥
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०॥
उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्यं हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (पज्जएसु) पर्यायोंमें (विज्जंते) रहते हैं। (पज्जाया) पर्यायें (णियदं हि) निश्चयसे ही (दव्वं) द्रव्यमें (संति) रहती हैं। (तम्हा) इस कारणसे (सव्वं) वे सब पर्यायें (दव्वं) द्रव्य (हवदि) हैं।

विशेषार्थ-वृत्तिकार सम्यग्दर्शन पर्यायका दृष्टांत देकर बताते हैं कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप आत्मतत्वका निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे उत्पाद, उसी ही समयमें स्वसंवेदन ज्ञानसे विलक्षण अज्ञान पर्यायरूपसे व्यय तथा इन दोनोंका आधारभूत आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य ऐसे ये तीनों ही भेद पर्यायोंमें रहते हैं अर्थात् सम्यक्त पूर्वक निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान पर्यायमें उत्पाद है तथा स्वसंवेदन रहित अज्ञान पर्यायरूपसे व्यय तथा इन दोनोंका आधाररूप आत्मद्रव्यपनेकी अवस्था रूपसे ध्रौव्य अपनी अपनी पर्यायोंमें रहते हैं। और ये ऊपर कहे हुए लक्षण सहित जो ज्ञान, अज्ञान और इन दोनोंका आधाररूप आत्म द्रव्यपना ऐसी ये पर्यायें निश्चय करके अपने २ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेदरूप हैं तथापि आत्माके प्रदेशोंमें होनेसे अभेदरूप हैं इसलिये जब निश्चयसे ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य आधार आधेय भावसे द्रव्यमें रहते हैं तब यह स्वसंवेदन ज्ञान आदि पर्यायरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों अन्वय द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य हैं। पूर्वकथित उत्पाद आदि तीनोंका तैसे ही स्वसंवेदन ज्ञान आदि तीनों पर्यायोंका अनुगत आकारसे व अन्वय रूपसे जो आधार हो सो अन्वय द्रव्य कहलाता है। अन्वय द्रव्य जिसका विषय हो उसको अन्वय द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। जैसे यहां ज्ञान अज्ञान पर्यायोंमें तीन

भेद कहे गए तैसे ही सर्व द्रव्यकी पर्यायोंमें यथासंभव जान लेना चाहिये यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। ये तीनों ही द्रव्यमें होते हैं। इनके विना द्रव्य नहीं और द्रव्यके विना ये नहीं। जैसे बीजका नाश अंकुरका फूटना तथा वृक्षत्वका ध्रौव्य वृक्षके विना नहीं और वृक्ष इनके विना नहीं होता है। मिट्टीके पिंडका नाश, घटकी उत्पत्ति तथा मिट्टीपनेका ध्रौव्य मिट्टी द्रव्यके विना नहीं और मिट्टी इनके विना नहीं। दूधका नाश घीका उत्पाद, गोरसपनेका ध्रौव्य गोरस द्रव्यके विना नहीं और गोरस इन तीनके विना नहीं है। इसी तरह वृत्तिकारके अनुसार मिथ्यात्वका नाश, सम्यक्तकी उत्पत्ति, आत्मापनेका ध्रौव्य आत्म द्रव्यके विना नहीं और आत्मा इन विना नहीं। ऐसा हरएक द्रव्यका अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ आधार आधेय भाव है। पर्यायार्थिक नयसे अर्थात् अंश भेद या अंश कल्पनाकी दृष्टिसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य दिखते हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे ये भेद नहीं दिखते—द्रव्य अखंड एकरूप बराबर झलकता है। जो अनेक समयोंमें एकसा चला आवे उसको अन्वय कहते हैं। अभिप्राय कहनेका यह है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य ही निश्चयसे हैं द्रव्यसे किसी तरह बिलकुल भिन्न नहीं है। भेद दृष्टिमें संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। श्री आप्तमीमांसामें श्री समंतभद्राचार्यने इसी बातको बतलाया है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

भावार्थ-वस्तु सामान्यपने न उपजती है, न नष्ट होती है क्योंकि प्रगटपने अन्वय स्वरूप है, बराबर बनी रहती है किन्तु विशेषपने अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न भी होती है व्यय भी होती है। भेदरूप एक समयमें देखा जावे तो एक साथ सत्‌रूप द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य दीखेंगे। सत्ता मात्र द्रव्यकी दृष्टिमें मात्र अभेदरूप एक द्रव्य ही दीखेगा। यदि द्रव्यका उत्पाद माना जाय तो असत्‌का उत्पाद हो जायगा सो असंभव है। यदि द्रव्यका नाश माना जाय तो सत्‌का नाश होजायगा सो भी नहीं होसक्ता इसलिये पर्यायोंमें ही उत्पाद व्यय होता है द्रव्यमें नहीं। द्रव्य सदा बना रहता है। द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। ये तीनों प्रत्येक विशेषण हैं द्रव्य विशेष्य है। ऐसी वस्तुका स्वरूप जानकर हमारा कर्तव्य है कि पर्यायोंके उत्पाद विनाशमें हर्ष शोक न करके संसारकी अवस्थाओंमें साम्यभाव रक्खें और द्रव्य दृष्टिसे देखते हुए छः द्रव्योंको पृथक्२ देखकर उनमेंसे निज आत्म द्रव्यको स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपमें तन्मय देखकर उसीके मननसे व अनुभवसे अपना हित करें। यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

उत्थानिका—आगे फिर भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यका अन्य प्रकारसे द्रव्यके साथ अभेद दिखाते हैं अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्यका समयभेद नहीं है ऐसा बताते हैं व जो समयभेद माने उसे निराकरण करते हैं या खण्डन करते हैं—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥ ११ ॥

समवेतं खलु द्रव्यं संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्यं खलु तत्त्रितयम् ॥११॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(दव्वं) द्रव्य (खलु) निश्चयसे (एक्कम्मि चेव समये) एक ही समयमें परिणमन करनेवाले (संभव-ठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) उत्पाद स्थिति व नाश नामके भावोंसे (समवेदं) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्वं) द्रव्य (खु) प्रगट रूपसे (तत्तिदयं) उन तीन रूप है।

विशेषार्थ-यहां वृत्तिकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यको आत्मा द्रव्यके साथ लगाकर स्थापित करते हैं। आत्मा नामा द्रव्य जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार रहित अपने आत्माके अनुभवमई लक्षणवाले वीतराग चारित्रकी अवस्थासे उत्पन्न होता है अर्थात् जब सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी आत्मामें वीतराग चारित्रकी पर्यायका उत्पाद होता है तब ही रागादिरूप पर्यायका जो परद्रव्योंके साथ एकता करके परिणमन कररहा था—नाश होता है और उसी वक्त इन दोनों उत्पाद और व्ययका आधाररूप आत्म द्रव्यकी अवस्थारूप पर्यायसे ध्रौव्यपना है। इस तरह यह आत्म-द्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी पर्यायोंसे एक रूप है या अभिन्न है। यही बात निश्चयसे है। ये तीनों पर्यायें बौद्धमत की तरह भिन्न २ समयमें नहीं होती हैं किन्तु एक ही समयमें होती हैं। जैसे जब अंगुलीको टेढ़ा किया जावे तब एक ही समयमें टेढ़ेपनेकी उत्पत्ति और सीधेपनका नाश तथा अंगुलीपनेका ध्रौव्य है। इसी तरह जब कोई संसारी जीव मरण करके ऋजु-गतिसे एक ही समयमें जाता है तब जो समय मरणका है वही

समय ऋजुगति प्राप्तिका है तथा वह जीव अपने जीवपनेसे विद्यमान है ही। तैसे ही जब क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानके अंतिम समयमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है तब ही अज्ञान पर्यायका नाश होता है तथा वीतरागी आत्माकी स्थिति है ही। इसी तरह जब अयोगी केवलीके अन्त समयमें मोक्ष होती है तब जिस समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है तब ही चौदहवें गुणस्थानकी पर्यायका नाश है तथा दोनो ही अवस्थाओमे आत्मा ध्रुवरूप है ही। इस तरह एक ही समयमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध होते हैं। इस लिये जब पूर्वमे कहे प्रमाण एक ही समयमे तीन प्रकारसे द्रव्य परिणमन करता है तब संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे इन तीन पर्यायोंमें भेद होते हुए भी प्रदेशोकी अपेक्षा अभेद है इसलिये द्रव्य प्रगट रूपसे उत्पाद व्ययध्रौव्य स्वरूप है। जैसे यहा आत्मामें चारित्रपर्यायकी उत्पत्ति और अचारित्रपर्यायका नाश समझाते हुए तीनो ही भंग अभेदपने दिखाए गए है ऐसे ही सर्व द्रव्योकी पर्यायोंमें भी जानना चाहिये। ऐसा अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यका लक्षण और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है। सत्ता रूप द्रव्य एक ही समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। ये तीनों भंग द्रव्यमें ही होते हैं इनकी सज्ञा व द्रव्यकी सज्ञा जुदी है, इनका अभिप्राय व द्रव्यका अभिप्राय जुदा है तथापि जो द्रव्यके प्रदेश है वे ही इन उत्पाद व्यय ध्रौव्यके प्रदेश है इस कारण द्रव्यके साथ इनकी अभिन्नता या एकता है। एकता होनेपर भी ऐसा नहीं है कि जिस समय उत्पाद होता है उस समय व्यय तथा ध्रौव्य नहीं होते

अथवा जिस समय व्यय होता उस समय उत्पाद और ध्रौव्य नहीं होते अथवा जब ध्रौव्य होता तब उत्पाद व्यय नहीं होते। किन्तु वस्तुका स्वभाव यह है कि ये तीनों द्रव्यमें एक ही समयमें होते हैं। द्रव्य अपने सामान्य द्रवण या परिणमन स्वभावसे सदाकाल परिणमन करता रहता है चाहे उसमें स्वाभाविक सदृश परिणमन हो, चाहे वैभाविक विसदृश परिणमन हो। हरएक समयमें द्रव्य जब जिस अवस्थाविशेषको झलकाता है तब ही पूर्व अवस्थाविशेषका नाश होता है और वह द्रव्य स्थिर रहता है। द्रव्यका ध्रौव्य रहते हुए किसी पर्यायका नाश सो ही किसी अन्य पर्यायका उत्पाद है अथवा किसी पर्यायका उत्पाद सो ही किसी पर्यायका नाश है। सूर्योदयका होना सो ही रात्रिका नाश है, अथवा रात्रिका नाश सो ही सूर्योदय होना है। दिशाओंका ध्रौव्य है ही। चनेके दानेका नाश सो ही वेसनका उत्पाद है अथवा वेसनका उत्पाद सो ही चनेके दानेका नाश है तथा चनेके परमाणुओंका ध्रौव्य है ही। इसी तरह आत्मामें क्रोधका नाश सो ही उत्तम क्षमाका उत्पाद है, मानका नाश सो ही उत्तम मार्दवका उत्पाद है, मायाका नाश सो ही उत्तम आर्जवका उत्पाद है, उत्तम शौचका उत्पाद सो ही लोभका नाश है, सम्यग्दर्शनका उत्पाद सो ही मिथ्यात्त्वका नाश है, पंचमगुणस्थानका नाश सो ही सप्तम गुणस्थानका उत्पाद है। अव्रतका नाश सो ही व्रतभावका उत्पाद है। इन उत्पाद व नाशोंके एक समयमें होते हुए आत्मा ध्रौव्य रूप है ही, इस तरह आत्मा व अनात्मारूप सम्पूर्ण द्रव्य हरएक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं। इसी तीनरूप स्वभावके होते हुए ही द्रव्य जगतमें कार्यको प्रगट

कर सक्ता है। यदि द्रव्यको ऐसा न माने और उसको बिलकुल नाश होनेवाला, फिर नए सिरेसे उत्पन्न होनेवाला मान लें तो सत् द्रव्यका नाश व असत् द्रव्यका उत्पाद हो जायगा जो बिलकुल असंभव है। द्रव्यके भीतर पर्यायोंमें ही उत्पाद व्यय है। द्रव्य और उसके गुण सदा ध्रौव्य रहते हैं।

इससे तात्पर्य यह है कि आत्माकी संसार पर्याय नष्ट होकर सिद्ध पर्याय होसक्ती है तथा दोनों पर्यायोंमें वही आत्मा बना रहेगा–इससे हम संसारी आत्माओंको उद्यम करके अपनी इस दुःखमय संसार प्रपर्यायका नाश करना चाहिये और परमानंदमई सिद्ध पर्यायको पैदा करना चाहिये। इसका उपाय सम्यग्ज्ञान पूर्वक साम्यभावका अभ्यास है। इस अभ्यासमें सदा लीन रहना चाहिये ॥ ११ ॥

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्यका लक्षण है। इस व्याख्यानकी मुख्यताके तीन गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे इस बातको दिखलाते हैं कि द्रव्यकी पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है, द्रव्यसे भिन्न नहीं है—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जाओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥ १२ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ–(दव्वस्स) द्रव्यकी (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पर्याय (पाडुब्भवदि) प्रगट होती है (य) और (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पूर्व पर्याय (वयदि) नष्ट होती

है (तंपि) तौभी (दव्वं) द्रव्य (णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है।

विशेषार्थ—वृत्तिकार आत्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि शुद्ध आत्मा द्रव्यके जब कोई अपूर्व और अनन्त ज्ञान सुख आदि गुणों-की स्थान तथा अविनाशी परमात्म स्वरूपकी प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य पर्याय अथवा मोक्ष अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष पर्या-यसे भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्यायकी उपादान कारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है। तथापि वह परमात्मा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। अथवा संसारी जीवकी अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदिरूप पर्याय नष्ट होती है। तथा वह जीव द्रव्य निश्चयसे न उपजा है न विनशा है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यपर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणुका स्कंध, चार अणुका स्कंध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्यायको नाश करके ही पैदा होती है। तौ भी पुद्गल द्रव्य निश्चयसे न उपजता है न नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेके कारण द्रव्यकी पर्यायोंका नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्यका नाश नहीं होता है। इस हेतुसे द्रव्यकी पर्यायें भी द्रव्य लक्षण या स्वरूप होती हैं अर्थात् द्रव्यसे जुदी नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके स्वरूपको और भी स्पष्ट प्रगट कर दिया है कि द्रव्य न कभी उपजता है न नष्ट होता

है। जो आत्मा निगोदमें था वही आत्मा उन्नति करते २ सिद्ध अवस्थामें पहुंच जाता है। आत्म द्रव्यका न कभी उत्पाद है न कभी व्यय है। किन्तु द्रव्य अवस्थाओंको पलटा करता है इसलिये जो जो पर्याय होती है उस हीका उत्पाद है और उससे पहले जो पर्याय थी उस हीका व्यय है। एक द्रव्य दो पर्यायोंमें नहीं रह सक्ता है। कोई संसारी जीव मनुष्य था मरकर देव हुआ। देव आयुका उदय होना सो ही मनुष्य आयुका नाश होना है। देव अवस्था विना मनुष्य अवस्थाके नाश हुए कभी नहीं पैदा होसक्ती। इसी तरह जिस समय कोई साधु सर्व कर्म–बंधनोंको नाशकर मुक्त होता है और तब परमात्म पद या सिद्ध पद प्रगट होता है तब ही उससे पूर्वकी संसार पर्यायका नाश होता है। चौदहवें गुणस्थान तक इस जीवको संसारी कहेंगे क्योंकि वहांतक इसके साथ द्रव्य कर्मबन्ध भी है और शरीर भी है। इस गुणस्थानके छोड़ते ही सिद्ध पर्याय प्रगट होती है तब सिद्ध पर्यायका जन्म व संसार पर्यायका नाश कहा जाता है। इन दशाओंमें–पर्यायोंमें उत्पाद व्यय, हुआ किन्तु आत्मा न कभी उपजा न नष्ट हुआ है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यका एक स्कंध ९० परमाणुओंका था उसमेंसे ५ परमाणु निकल गए तथा ७ परमाणु मिल गए इस तरह जब वह स्कंध ९२ परमाणुओंका प्रगटा उस समयकी पर्यायका उत्पाद हुआ तब ही ९० परमाणुओंके स्कंधकी पर्यायका नाश हुआ। परमाणु सब अविनाशी हैं। परमाणु न उपजे न नष्ट हुए अथवा किसी विशेष स्कंधमें जो स्पर्श रस गंध वर्ण है वह पलटता रहता है। स्कंध बना रहता है। जैसे कोई आमका फल हरा था जब वह पीला हुआ

तब वह हरेपनेको नाश करके ही पीला हुआ है। इस तरह अवस्था बदलते हुए भी आमका उस क्षण न नाश हुआ न उत्पाद।

इस कथनसे आचार्यने यह दिखला दिया है कि इस जगतके सर्व ही द्रव्य उत्पाद व्यय करते हुए भी सदा बने रहते हैं। यही जगतका स्वरूप है। यह जगत इसी कारण नित्यानित्य है। द्रव्योंके बने रहनेके कारण नित्य जब कि पर्यायोंके उपजने व विनशनेकी अपेक्षा अनित्य है। न यह सर्वथा अनित्य है न सर्वथा नित्य है।

श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमें यही बात बताई है—

स्थितिजननंनिरोधलक्षणं, चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकललांछनं, वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आप उपदेष्टाओंमें श्रेष्ठ हैं। आपका जो यह उपदेश है कि यह चेतन व अचेतन रूप जगत प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको रखनेवाला है यह इस बातका चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं। क्योंकि जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा आपने जाना है तथा वैसा ही उपदेश किया है।

तात्पर्य यह है कि संसारकी क्षणभंगुर पर्यायोंमें हमें मोही न होकर अपने आत्मद्रव्यके अविनाशी स्वभावपर ध्यान देकर उसकी शुद्धिके लिये जगतका स्वरूप समता भावसे विचारकर राग-द्वेष छोड़ देना चाहिये और स्वचारित्रमें तन्मय होकर परम स्वाधीनताका लाभ करना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपको गुणपर्यायकी मुख्यतासे बताते हैं।

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवेत्ति ॥ १३ ॥

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणांतरं सदविशिष्टम् ॥
तस्माद्गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति ॥ १३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सदवसिट्ठं) अपनी सत्तासे अभिन्न (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) एक गुणसे (गुणंतरं) अन्य गुणरूप (सयं) स्वयं-आप ही (परिणमदि) परिणमन कर जाता है। (तम्हा) इस कारणसे (य पुण) ही तब (गुणपज्जाया) गुणोंकी पर्यायें (दव्वमेवेत्ति) द्रव्य ही हैं ऐसी (भणिया) कही जाती हैं।

विशेषार्थ–वृत्तिकार समझाते हैं कि एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूपसे भिन्न न होकर अपने ही उपादान कारणसे आप ही केवलज्ञानकी उत्पत्तिका बीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था उसको छोड़कर सर्व प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान गुणकी अवस्थाको परिणमन कर जाता है इस कारणसे जो गुणकी पर्यायें होती हैं वे भी द्रव्य ही हैं, पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण केवल द्रव्यकी पर्यायें ही द्रव्य नहीं हैं अथवा संसारी जीव द्रव्य मति स्मृति आदि विभाव ज्ञान गुणकी अवस्थाको छोड़कर श्रुतज्ञानादि विभाव ज्ञान गुणरूप अवस्थाको परिणमन कर जाता है ऐसा होकर भी जीव द्रव्य ही है। अथवा पुद्गल द्रव्य अपने पहलेके सफेद वर्ण आदि गुण पर्यायको छोड़कर लाल आदि गुण पर्यायमें परिणमन करता है ऐसा होकर भी पुद्गल द्रव्य ही है। अथवा आमका फल अपने हरे गुणको छोड़कर वर्णगुणकी पीत पर्यायमें परिणमन कर

जाता है तो भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुणकी पर्यायें भी द्रव्य ही हैं।

भावार्थ-आचार्यने इससे पहलेकी गाथामें द्रव्यकी पर्यायें द्रव्यसे अभिन्न होकर द्रव्य ही हैं ऐसा बताया था। इस गाथामें यह बताते हैं कि द्रव्यमें जितने गुण होते हैं वे सब जुदे २ परिणमन करते हैं। उन गुणोंकी जो जो अवस्थाएं होती हैं उनको गुण पर्यायें कहते हैं। जैसे द्रव्यके गुण द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही हैं अथवा द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही है तैसे गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही हैं।

द्रव्य अपने गुणोंसे और गुणोंकी पर्यायोंसे जुदा नहीं है क्योंकि गुण और पर्यायरूप ही द्रव्य है। इसीको वृत्तिकारने दृष्टान्त देकर बताया है कि ज्ञान गुण जब वीतराग स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञानकी अवस्थासे बदलकर केवलज्ञानकी अवस्थामें आता है अथवा मतिज्ञानकी स्मृतिरूप अवस्थाको छोड़कर श्रुतज्ञानकी पर्यायमें आता है तब इन गुण पर्यायोंमें जीव द्रव्य बराबर मौजूद है अथवा एक आमका फल अपनी सत्तासे रहता हुआ ही अपने स्पर्शादि गुणोंकी पर्यायोंमें पलटता है-हरे वर्णसे पीला होजाता है।

जैसे द्रव्यमें द्रव्य समस्तकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है अर्थात् द्रव्यकी पूर्व पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और द्रव्यकी थिरता, तैसे ही हरएक गुणमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं-पूर्व गुणकी पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और गुणकी थिरता। द्रव्यकी पर्यायें जैसे द्रव्यसे जुदी नहीं हैं वैसे गुणकी पर्यायें गु[illegible] जुदी नहीं हैं।

यहा तात्पर्य यह है कि द्रव्य अनेक गुणोंका समुदाय है। एक समयमें जैसे अनेक गुण द्रव्यमे होते है वैसे ही अनेक पर्यायें भी द्रव्यमें एक समयमे होती है। उन अनेक पर्यायोका द्रव्य ही आधार है। वे पर्यायें द्रव्यसे जुदी नही है, किन्तु जैसे गुण समुदाय द्रव्य ही है तैसे पर्याय समुदाय द्रव्य ही है। अनेक गुणोंकी एक समयवर्ती पर्यायोको ही द्रव्यकी एक समयवर्ती पर्याय कहते है। पर्यायोमे भेद अपेक्षा अनेकपना है अभेद अपेक्षा एकपना है। ऐसे ही गुणोमे भेद अपेक्षा अनेकपना है अभेद अपेक्षा एकपना है। जब हमने कहा कि यह जीव द्रव्य मनुष्य पर्यायको छोडकर देव पर्यायमें बदला तब अभेदसे तो एकपर्याय बदली ऐसा झलकता है परन्तु भेदसे देखते हुए मनुष्य जीवमें जो अनेक गुणोकी पर्यायें थी वे ही देव जीवमे पलट गई है। अर्थात् जैसे मनुष्य पर्याय अनेक पर्यायोका समूह है वैसे देव पर्याय अनेक पर्यायोंका समूह है। अथवा जैसे गेहूके आटेसे रोटी बनाई, इसमे आटेकी पर्याय पलटकर रोटीकी पर्याय होगई। अभेदसे यह एक ही पर्याय है, परन्तु जब भेद द्वारा विचार करें तब जितने गुण आटेमे है वे सब अपनी पर्यायोंसे पलटे है अर्थात् आटेमे जो अनेक पर्यायें थी वे ही अनेक पर्यायें रोटीमें परिणमन कर गईं। इसका भाव यह हुआ कि द्रव्यकी एक पर्याय गुणोंकी अपेक्षा अनेक पर्यायरूप है। जिस समय एक जीव छद्मस्थ अल्पज्ञानीसे सर्वज्ञ परमात्मा अरहत होता है, तब जीव द्रव्यकी अपेक्षा अन्तरात्माकी पर्याय पलटकर परमात्माकी पर्याय उत्पन्न हुई। जब उस जीव द्रव्यके अनेक गुणोंकी अपेक्षा विचार करें तब यह कहना होगा कि अतरात्माके गुणोंकी पर्यायें पलटकर

परमात्माके गुणोंकी अवस्थामें हो गई। जैसे ज्ञान गुणमें मति श्रुतादिसे पलटकर केवलज्ञान पर्यायका होना, दर्शनगुणमें चक्षु अचक्षु आदिको छोड़कर केवल दर्शन पर्यायका होना, वीर्यगुणमें अल्प वीर्यको पलटकर अनंत वीर्यरूप होना, सुख गुणमें परोक्ष सुखको छोड़कर प्रत्यक्ष अनन्त सुखकी पर्यायमें होना इत्यादि। जिससे मतलब यह सिद्ध होता है कि जैसे अंतरात्मा जीवकी पर्याय समुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है ऐसे परमात्माजीवकी पर्याय समुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है। और जैसे परमात्मा द्रव्यकी पर्याय जीव द्रव्यसे अभिन्न है वैसे परमात्माके अनेक गुणोंकी पर्यायें भी परमात्मा द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। इससे यही सिद्ध किया गया कि गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्य ही हैं वे द्रव्यको छोड़कर पृथक् नहीं हो सक्ती हैं। ऐसी द्रव्यकी महिमाको जाननेका मतलब यह है कि हम द्रव्यके स्वभावका मनन करके रागद्वेष त्यागें और वीतरागभावमें रहकर निजानन्दकी प्राप्ति करके संसार–भ्रमणका अभाव करें ॥ १३ ॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्यकी पर्यायें तथा गुणोंकी पर्यायें नयकी अपेक्षासे द्रव्यका लक्षण है। ऐसे कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमें फिर भी अन्य प्रकारसे युक्ति दिखलाते हैं–

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुवं हवदि तं कधं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १४ ॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वय सत्ता ॥ १४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) यदि (सद्दव्वं) सत्तारूप द्रव्य (ण हवदि) नहीं होवे तो (तं दव्वं असद्धुवं कधं हवदि) वह द्रव्य निश्चयसे असत्तारूप होता हुआ किस तरह होसक्ता है (वा पुणो अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्तासे भिन्न हो जावे, क्योंकि ये दोनों बातें नहीं होसक्तीं (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता स्वरूप है ॥ १४ ॥

विशेषार्थ–यहां वृत्तिकार परमात्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि यदि वह परमात्म द्रव्य परम चैतन्य प्रकाशमई स्वरूपसे अर्थात् अपने स्वरूप सत्ताके अस्तित्व गुणसे सत् रूप न होवे तब वह निश्चयसे नहीं होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य होसके ? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे। यह बात प्रत्यक्षसे विरोध रूप है, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानसे परमात्मा है ऐसा अनुभवमें आता है। यदि कोई विना विचारे ऐसा माने कि सत्तासे द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षासे, यदि द्रव्य सत्ता गुणके अभावमें भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या२ दोष आवेंगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणोंके साथ अवश्य रहनेवाले अपने स्वरूपकी सत्तासे जुदा ही द्रव्य ठहर सक्ता है ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूपका अस्तित्त्व नहीं है तब अपने स्वरूपकी सत्ताके विना द्रव्य नहीं रह सक्ता अर्थात् द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा। अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने२ स्वरूपके अस्तित्वसे सत्ता और द्रव्यमें संज्ञा, लक्षण प्रयोजनादिकी

अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है तब तो हमको भी सम्मत है क्योकि द्रव्यका ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्धमतके अनुसार कहनेवाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्यायकी सत्तारूपसे द्रव्य उपचारमात्र है, मुख्यतासे नहीं है? इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि यदि सिद्ध पर्यायका उपादान कारणरूप परमात्म द्रव्यका अभाव होगा तो सिद्ध पर्यायकी सत्ता ही नहीं सभव है। जैसे वृक्षके विना फलका होना सम्भव नहीं है।

इसी प्रस्तावमें नैयायिक मतके अनुसार कहनेवाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य है किंतु वह सत्तासे भिन्न रहता है, पीछे सत्ताके समवाय (सबन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस शकाका भी समाधान करते हैं। पूछते हैं कि सत्ताके समवायके पूर्व द्रव्य सत् है या असत् है? यदि सत् है तो सत्ताका समवाय वृथा है क्योकि द्रव्य पहलेसे ही अपने अस्तित्वमें है? यदि सत्ताके समवायसे पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्पकी तरह न विद्यमान होते हुए द्रव्यके साथ किस तरह सत्ताका समवाय होगा? यदि कहो कि सत्ताका समवाय हो जावेगा तब फिर आकाश पुष्पके साथ भी सत्ताका समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा होना सभव नहीं है। इसलिए अभेद नयसे शुद्ध स्वरूपकी सत्तारूप ही परमात्म द्रव्य है जैसे यहा परमात्म द्रव्यके साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ताका अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तासे अभेद व्याख्यान करना चाहिये। अचेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तासे अभेद है ऐसा,

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य सत्ता और द्रव्यका ध्रुव संबंध है इस बातको स्पष्ट करते हैं। सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है। इस लिये संज्ञादिकी अपेक्षा गुण गुणीमें भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। द्रव्य गुणका आधार है। जहां द्रव्य है वहां गुण है। यदि कोई तर्क करे कि सत्तारूप द्रव्य नहीं है तब यह बडा भारी दोष आवेगा कि द्रव्य असत् होकर द्रव्य ही नहीं रहसक्ता क्योंकि जिसमें अस्तित्व नहीं वह कोई वस्तु नहीं हो सक्ती है। ऐसा माननेसे द्रव्यका नाश हो जायगा। और यदि सत्ता और द्रव्य दो भिन्न २ माने जावें तौ भी दोनोंका अभाव हो जावेगा, क्योंकि द्रव्यके विना सत्ता कहां रहेगी और सत्ता विना द्रव्य कैसे ठहर सकेगा। सत्तारूप द्रव्य है इसीसे वह ध्रुव रहता है। इसलिये यही निश्चित है कि द्रव्य स्वय

यदि बौद्धमतके अनुसार द्रव्यको क्षणभर
जावे ध्रुव न माना जावे तो उस द्रव्यसे कार्य नहीं
फिर यह जीव संसारी है-दुःखी है। इसको
मुक्त होना चाहिये यह उपदेश नहीं बन सक्ता।
है वही जीव मुक्त होता है। जीवकी सत्ता ध्रुव
और मुक्ति अवस्था बन सक्ती है।

जैसा कि स्वामी समंतभद्राचार्यने

यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादान नियामो भून्माऽऽश्वासः कार्य

भावार्थ-यदि द्रव्यकी सत्ता ध्रुव न मानी
असत् माना जावे तो उस द्रव्यसे कोई

सुवर्णकी सत्ता ध्रुव होनेसे ही उसमेंसे अनेक आभूपण बननेका काम होसक्ता है और तब वह असत् द्रव्य आकाशके पुष्प समान हो जावेगा। तथा उपादानकारणका नियम न रहेगा अर्थात् घड़ा मिट्टीसे बनता है यह नियम न रहेगा। जब मिट्टी अपनी सत्ता न रक्खेगी तब उससे घड़ा बनेगा ऐसा नियम नहीं ठहर सक्ता है। और न मनमें यह विश्वास होसक्ता है कि अमुक कार्य अमुक कारणसे होगा। रोटी गेहूंसे बनती है ऐसा विश्वास होनेपर ही लोग गेहूंको खरीदकर लाते हैं। इस विश्वासका कारण गेहूंकी सत्ता है। इसलिये बौद्धमतके अनुसार माननेसे द्रव्यकी सत्ता नहीं ठहर सक्ती। यदि नैयायिकके अनुसार पहले सत्ता और द्रव्यको जुदा जुदा माना जावे फिर समवाय द्वारा उनका मेल माना जावे तब भी द्रव्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती। द्रव्यमें सत्ता नहीं हो तो वह कैसे ठहर सक्ता है। सत्ता विना द्रव्यका अस्तित्व ही नहीं होसक्ता। और न सत्ता द्रव्यके विना पाई जासक्ती है। इसलिये यही बात निश्चित है सत्ता गुण है। द्रव्य गुणी है। दोनोंका अभेद है।

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण कहते हैं—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं॥ १५॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद् भावो न तद् भवत् भवति कथमेकम्॥१५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो (पुधत्तमिदि) वह पृथक्त्व

है ऐसी (वीरस्स हि सासणं) श्री महावीर भगवानकी आज्ञा है। (अतब्भावो) स्वरूपकी एकताका न होना (अण्णत्तम्) अन्यत्व है। (तब्भवं ण) ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं हैं (कधमेगं भवदि) तब किस तरह दोनों एक हो सक्ते हैं।

विशेषार्थ–जहां प्रदेशोंकी अपेक्षा एक दूसरेमें अत्यन्त जुदायगी हो अर्थात् प्रदेश भिन्न भिन्न हो जैसे दन्ड और दन्डीमें भिन्नता है। इसको पृथकत्त्वनामका भेद कहते हैं। इस तरहका पृथकत्त्व या जुदापना शुद्ध आत्मद्रव्यका शुद्ध सत्ता गुणके साथ नहीं सिद्ध होता है क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न २ नहीं है। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वे ही सत्ताके प्रदेश हैं। जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुणका स्वरूप भेद है परन्तु प्रदेश भेद नहीं है ऐसे ही गुणी और गुणके प्रदेश भिन्न २ नहीं होते। ऐसी श्रीवीर नामके अंतिम तीर्थंकर परम देवकी आज्ञा है। जहां संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिसे परस्पर स्वरूपकी एकता नहीं है वहां अन्यत्व नामका भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुणमें है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्यमें प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद है वैसे संज्ञादि लक्षण रूपसे भी अभेद हो ऐसा माननेसे क्या दोष होगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। यह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुणके साथ प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदिके द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मई नहीं है। तन्मय होना ही निश्चयसे एकताका लक्षण है किंतु संज्ञादि रूपसे एकताका अभाव है। सत्ता और द्रव्यमें नानापना है। जैसे यहां मुक्तात्मा द्रव्यमें प्रदेशोंके अभेद होने पर भी

संज्ञादि रूपसे नानापना कहा गया है तैसे ही सर्व द्रव्योंका अपने अपने स्वरूप सत्ता गुणके साथ नानापना जानना चाहिये ऐसा अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भेदके दो भेद बताए हैं—एक पृथक्त्व, दूसरा अन्यत्त्व।

जहां एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंसे भिन्न होते हैं वहां पृथक्त्व नामका भेद है। जहां प्रदेश एक होनेपर भी गुण व गुणीमें या पर्याय व पर्यायवानमें संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद होता है वहांपर अन्यत्त्व नामका भेद होता है। जीव अनंतानंत हैं उन सबमें पृथक्त्व है। हरएक जीव अपने २ प्रदेशोंको भिन्न२ रखता हुआ एक दूसरेसे पृथक् है। पुद्गलके परमाणु या बंध रूप स्कंध एक दूसरेसे प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न हैं इससे पृथक्२ हैं। कालाणु द्रव्य असंख्यात हैं इनमें भी परस्पर प्रदेश भेद है इससे पृथक् २ हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एक एक ही अखण्ड द्रव्य हैं। अनंतानंतजीव, अनंतानंत पुद्गल, असंख्यात कालाणु, धर्म, अधर्म, आकाश ये सब परस्पर पृथक्त्व नामके भेदको रखते हैं। ये सब सदा जुदे २ हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि छः द्रव्य कभी एक द्रव्य न थे, न हैं, न होवेंगे। इन छः में भी जो जो द्रव्य अनेक हैं वे भी अपने बहुपनेको कभी नहीं छोड़ेंगे। द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ पृथक्त्व नामका भेद है। परन्तु जिन गुणोंको द्रव्य आश्रय देता है उनके साथ द्रव्यका कभी पृथक्त्व न था न है न होगा। गुणोंके अमिट समुदायको द्रव्य कहते हैं—जो द्रव्यके आश्रय हो और अपनेमें

अन्य गुण न रखते हों वे गुण हैं–दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी छूट नहीं सक्ता। ऐसा होनेपर भी स्वरूपकी अपेक्षा द्रव्यका स्वरूप गुणके स्वरूपसे एक नहीं है। संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है जैसे वस्त्र द्रव्यका शुक्ल गुण है। वस्त्र और शुक्लपनेका प्रदेशभेद नहीं है तथापि स्वरूपभेद है–संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनसे भिन्नता है। वस्त्रकी संज्ञा वस्त्र है। शुक्ल गुणकी संज्ञा शुक्ल है। दोनोंके नाम अलग २ हैं। वस्त्र किसी अपेक्षा एक व अनेक तंतुओंकी अपेक्षा अनेक हैं। शुक्ल गुण एक है यद्यपि अंशोंकी अपेक्षा अनेक शुक्ल गुण भी होसक्ता है तथापि परस्पर संख्याकी रीति भिन्न २ है। वस्त्रका लक्षण तागोंका समूह बंधनरूप है। शुक्ल गुणका लक्षण सफेदपनेको झलकाना है। वस्त्रका प्रयोजन शरीरको ढकना है–सर्दी मेटना है, लज्जा दूर करना है जब कि शुक्ल गुणका प्रयोजन उज्वलता रखकर मलीनता दूर रखना है। वस्त्रको जब हम आंखोंसे देख सक्ते, हाथसे छूसक्ते, नाकसे सूंघ सक्ते, मुंह द्वारा स्वाद लेसक्ते तब शुक्ल गुणको हम केवल आंखसे ही देख सक्ते हैं। इस तरह गुण और गुणीमें स्वरूपकी अपेक्षा भेद होता है इस तरहके भेदको अन्यत्त्व कहते हैं।

यहां द्रव्य गुणी व सत्ता गुणमें पृथक्त्त्व भेद नहीं है मात्र स्वरूप भेद है इस लिये अन्यत्त्व है। द्रव्य और सत्तामें संज्ञाका भेद है ही। द्रव्य कोई एक कोई अनेक हैं जब कि सत्ता गुण एक है यह संख्या भेद है। द्रव्यका लक्षण गुण पर्यायवान हैं या उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। सत्ता गुणका लक्षण अस्तित्व रखना है। द्रव्यका प्रयोजन किसी खास अर्थ क्रियाको

करना है जैसे जीवका संसारीसे मुक्त होना, व पुद्गलका मिट्टीसे घडा बनना, सोनेसे आभूषण बनना, ईंटोंसे मकान बनना, सत्ता गुणका प्रयोजन नित्य पदार्थको बनाए रखना है ।

इस तरह स्वरूप भेदसे अन्यत्त्व नामका भेद है तथापि प्रदेश भेद नहीं है इस तरह द्रव्यका सत्ताके साथ किसी अपेक्षा भेद है व किसी अपेक्षा अभेद है । सर्वथा अभेद होनेपर भिन्न २ नाम व काम नहीं हो सक्के तथा सर्वथा भेद होनेपर दोनोंका ही अभाव हो जावेगा जैसा पहले कह चुके हैं । सत्ताके विना द्रव्य नहीं ठहर सक्ता तथा द्रव्यके विना सत्ता नहीं रह सक्ती । जैसे द्रव्य और गुणका प्रदेशभेद नहीं है किंतु स्वरूपभेद है वैसे द्रव्य और पर्यायका प्रदेश भेद नहीं है किंतु स्वरूप भेद है ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचा-र्यने आप्तमीमांसामें कहा है–

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।
परिणामविशेषाच्च, शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

भावार्थ–द्रव्य और पर्यायकी एकता है क्योंकि दोनों भिन्न२ नहीं मिलते। जहां द्रव्य है वहां पर्याय है । परिणामका विशेष है सो पर्याय है । परिणाम द्रव्यमें होता है, इस कारण भी एकता है, शक्तिमान द्रव्य है। जिसमें शक्तियें पाई जावें वह द्रव्य है। शक्तियें उसके गुण या पर्याय हैं इससे भी एकता है जैसे घीमें चिकनई, पुष्टता आदि शक्तियें हैं । इस श्लोकमें द्रव्यकी गुण या गुणविकार पर्यायके साथ एकता सिद्ध कीगई । आगे अनेकता बताते हैं–

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

भावार्थ–द्रव्य और पर्यायमें संज्ञाके विशेषसे, संख्याके विशेषसे, अपने २ लक्षणके विशेषसे तथा अपने २ प्रयोजनके विशेषसे एकता नहीं है–अनेकता है जैसे वृक्ष और उसके पत्रोंमें विशेषता है। यद्यपि वृक्ष और उसके पत्ते एक ही हैं तथापि दोनोंके नाममें फर्क है, संख्यामें अंतर है, वृक्ष एक है, पत्ते अनेक हैं। वृक्षका लक्षण मूल, धड, शाखा, पत्रादि सहित फलना है। पत्तोंका लक्षण शाखाको शोभितकर हरेपने आदिको प्रगट करना है। वृक्षका प्रयोजन फल फूल व छाया देना है। पत्रोंका प्रयोजन वृक्षको पवन देना व उसको फलनेमें सहाई होना है। इस तरह द्रव्यमें गुण या पर्यायसे अनेकता है।

द्रव्य और पर्यायका नाम अलग२ है। द्रव्य एक है, पर्यायें अनेक हैं। यह संख्याका भेद है। द्रव्यका लक्षण गुण पर्यायवान है। पर्यायका लक्षण तद्भाव परिणाम है। द्रव्यका प्रयोजन एकपना या अन्यपनेका ज्ञान कराना है। पर्यायका प्रयोजन अनेकपना जुदापना बताना है। यहां श्लोकमें आदि शब्द है उससे मतलब यह है कि काल अपेक्षा भेद है द्रव्य त्रिकालगोचर है जब कि पर्याय वर्तमान-कालगोचर है। द्रव्य और पर्यायका भिन्न २ प्रतिभास है यह प्रतिमास भेद है। इस तरह द्रव्य और गुण या पर्याय प्रदेशोंके अपेक्षा एक हैं किन्तु स्वरूपादिकी अपेक्षा अनेक रूप हैं। दोनोंमें एकता और अन्यत्त्व भिन्न २ अपेक्षासे है। न सर्वथा एक हैं न सर्वथा भिन्न २ हैं।

स्याद्वादसे ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप मालूम होता है। वृत्तिकारके अनुसार मुक्तात्मा द्रव्यको और उसकी स्वरूप सत्ताको प्रदेशापेक्षा

एक तथा स्वरूपापेक्षा भिन्न २ जानकर भावनाके समय भेदरूप तथा एकरूप विचार करना इसी तरह अपने आत्माके भी स्वरूपको विचार करना इसी विचारकी प्रणालीसे स्वस्वरूपमे अनुभव प्राप्त होगा यही स्वानुभव रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग है और निराकुल अतीन्द्रिय आनदका देनेवाला है। तात्पर्य यह है कि आत्मद्रव्यका सच्चा स्वरूप समझकर उसीके मननसे अपना हित करना चाहिये।

उत्थानिका—आगे अन्यत्त्वका विशेप विस्तारके साथ कथन करते हैं—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो ।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१६॥

सद्द्रव्य सच्चगुण सच्चैव च पर्याय इति विस्तार ।
य खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भाव ॥ १६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सद्दव्व) सत्तारूप द्रव्य है। (सच्च गुणो) और सत्तारूप गुण है, (सच्चेव पज्जओत्ति) तथा सत्तारूप पर्याय है ऐसा (वित्थारो) सत्ताका विस्तार है। (खलु) निश्चय करके (तस्स अभावो) जो उस सत्ताका परस्पर अभाव है (सो तदभावो) वह उसका अभावरूप (अतब्भावो), अन्यत्व है।

विशेपार्थ—जैसे मोतीके हारमें सत्ता गुणकी जगहपर जो उसमें सफेदीका गुण है सो प्रदेशोंकी अपेक्षा एक रूप है तो भी उसको भेद करके इस तरह कहते हैं कि यह सफेद हार है, यह सफेद सूत है, यह सफेद मोती है तथा जो हार सूत या मोती है इन तीनोंके साथ प्रदेशोंका भेद न होते हुए सफेद गुण जाता है यह एकता या तन्मयपनाका लक्षण है।

सूत तथा मोतीका शुक्ल गुणके साथ तन्मयपना है अर्थात् प्रदेशोंका अभिन्नपना या एकपना है तैसे मुक्त आत्मा नामके पदार्थमें जो कोई शुद्ध सत्ता गुण है वह प्रदेशोंके अभेद होते हुए इस तरह कहा जाता है । सत्ता लक्षण परमात्मा पदार्थ, सत्ता लक्षण उसके केवलज्ञानादि गुण, सत्तालक्षण सिद्ध पर्याय । जो कोई परमात्म पदार्थ व केवलज्ञानादि गुण व सिद्ध पर्याय है इन तीनोंके साथ शुद्ध सत्ता गुण एक कहा जाता है यह तद्भाव या एकताका लक्षण है । तदभावका प्रयोजन यह है कि परमात्मा पदार्थ, केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व पर्याय इन तीनोंका शुद्ध सत्ता नामा गुणके साथ संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा तन्मयपना ही है अर्थात् एकता ही है–सत्ता गुण इन तीनोमें व्यापक है ।

निश्चय करके जो इस तदभाव या एकताका संज्ञा संख्या आदिकी अपेक्षासे परस्पर अभाव है उसको तदभाव या उस एकताका अभाव या अतदमाव या अन्यत्व कहते हैं । इस अन्यत्त्वका संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा जो स्वरूप है उसको दृष्टांत देकर बताते हैं ।

जैसे मोतीके हारमें जो कोई शुक्ल गुण है उसका वाचक जो शुक्ल नामका दो अक्षरका शब्द है उस शब्दसे हार, या सूत्र या मोती कोई वाच्य नहीं है अर्थात् शुक्ल शब्दसे हार. सूत्र या मोतीका ज्ञान नहीं होता है केवल सफेद गुणका ज्ञान होता है इसी तरह हार, सूत या मोती शब्दोंसे शुक्ल गुण नहीं कहा जाता है। इस तरह हार, सूत तथा मोतीके साथ शुक्ल गुणका प्रदेशोंकी

अपेक्षा अमेद या एकत्त्व होनेपर भी जो संज्ञा आदिका भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेका अभावरूप अतद्भाव है या अन्यत्त्व है अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिका भेद है। जैसे मुक्त जीवमें जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहनेवाले सत्ता शब्दसे मुक्त जीव नहीं कहा जाता न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते न सिद्ध पर्याय कही जाती है। और न मुक्त जीव केवलज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्यायसे शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुणका मुक्त जीवादिके साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो कोई संज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्वमें कहे हुए तद्-भाव या तन्मयपनेके लक्षणसे रहित अतद्भाव या अन्यत्त्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि कृत भेद है ऐसा अर्थ है। जैसे यहां शुद्धात्मामें शुद्ध सत्ता गुणके साथ अभेद स्थापित किया गया तैसे ही यथासंभव सर्व द्रव्योंमें जानना चाहिये यह अभिप्राय है–अर्थात् आत्माका और सत्ताका प्रदेशकी अपेक्षा अभेद है, मात्र संज्ञादि स्वरूपकी अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्योंमें समझना।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्वरूपकी अपेक्षा गुण गुणीका अन्यत्व या भिन्नपना है इसको अच्छी तरह दर्शा दिया है। द्रव्य गुण पर्यायवान है सत्ता इनमें व्यापक है इससे हम ऐसा कह सक्ते हैं कि सत्तारूप द्रव्य, सत्तारूप गुण, सत्तारूप पर्याय। जो प्रदेश द्रव्यकी सत्ताके हैं वे ही प्रदेश गुण और पर्यायकी सत्ताके हैं इस तरह सत्ताकी एकता द्रव्य गुण पर्यायके साथ है परन्तु गुण और गुणीको भेद करके विचारते हैं तो सत्ताका

रूपसे रहनेवाला है, गुण द्रव्यके आश्रय अन्य गुण रहित नित्य ठहरनेवाला है, पर्याय गुणका विकार क्षणभंगुर एक समय मात्र ठहरनेवाला है इस तरह इन तीनोंके स्वरूपमें परस्पर भेद है, प्रदेशभेद नहीं है। इसलिये इन तीनोंमें भी एकत्व और अन्यत्व है। और जब हम इन द्रव्यकी सत्ताके साथ एकताका विचार करते हैं तब प्रदेशोंकी अपेक्षा एकता है किन्तु स्वरूपकी अपेक्षा अन्यपन है। द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है-द्रव्य गुणपर्यायवानपनेका बोधक है सत्ता मात्र अस्तिपनेको बताती है। इसी तरह गुणकी सत्ताके साथ सत्ताकी प्रदेशापेक्षा एकता है परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा भिन्नता है। इसी तरह पर्यायकी सत्ताके साथ सत्ताकी प्रदेशापेक्षा एकता है परन्तु स्वरूपकी अपेक्षा भिन्नता है। जैसे मोतीकी सफेदी, सूतकी सफेदी, हारकी सफेदी इन तीनोंमें अलग अलग एकत्व तथा अन्यत्व है जैसे मोतीका सफेदीके साथ प्रदेशभेद नहीं है इससे एकता है परन्तु नाम व प्रयोजनादिसे भेद है यही अन्यत्व है इसी तरह हारकी सफेदी व सूतकी सफेदीमें एकत्व और अन्यत्व जानना चाहिये। ऐसे ही सिद्धात्माकी सत्ता, केवलज्ञानादि गुणोंकी सत्ता, सिद्धावस्थाकी सत्ता इन तीनोमें अलग २ एकत्व और अन्यत्व सिद्ध होसक्ता है। जैसे सिद्धात्माका और सत्ताका प्रदेश भेद न होनेसे एकत्व है परन्तु संज्ञा आदिसे भेद है इससे अन्यत्व है इसी तरह ज्ञानादि गुण तथा सिद्ध पर्यायके साथ सत्ताका एकत्व और अन्यत्व जानना चाहिये। यहां यह बात समझ लेना कि यद्यपि एक गुणमें दूसरा गुण नहीं रहता है तथापि जब द्रव्यमें सर्व ही सामान्य तथा विशेष गुण द्रव्यके सर्वस्वमें व्यापक हैं

तब एक गुणमें भी अनेक गुणोंका वैसा ही असर पड़ता है जैसे एक अखण्ड द्रव्यमें सब गुणोंका पड़ता है इसलिये यहां यह कहा गया कि द्रव्यकी सत्ता गुणकी सत्ता पर्यायकी सत्ता सो अपेक्षा, ठीक समझनेसे कोई विरोध नहीं होसक्ता। इस तरह वस्तुका स्वरूप समझकर एक मोक्षार्थी पुरुषको योग्य है कि वह निज आत्माके द्रव्य, गुण व पर्यायका भिन्न २ विचार करके व निजानुभव जगाकरके परमानन्दका लाभ करे।

उत्थानिका–और भी गुण और गुणीमें प्रदेश भेद नहीं हैं परन्तु संज्ञादि कृत भेद है इस तरह अन्यत्वको दृढ़ करते हैं–

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १७ ॥

यद्द्रव्य तन्न गुणो योपिगुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जं दव्वं) जो द्रव्य है (तण्ण गुणो) वह गुण नहीं है (जो वि गुणो) जो निश्चयसे गुण है (सो अत्थादो ण तच्चम्) वह स्वरूपके भेदसे द्रव्य नहीं है (एसो हि अतब्भावो) ऐसा ही स्वरूप भेदरूप अन्यत्व है (णेव अभोवोत्ति) निश्चयसे सर्वथा अभाव नहीं है ऐसा (णिद्दिट्ठो) सर्वज्ञ द्वारा कहा गया है ॥

विशेषार्थ–वृत्तिकार मुक्त जीवपर घटाकर समझाते हैं कि जो द्रव्य है सो स्वरूपसे गुण नहीं है। जो मुक्त जीव द्रव्य है सो शुद्ध है वह मात्र गुण नहीं है। उस मुक्त जीव द्रव्य शब्दसे सत्ता गुण वाच्य नहीं होता है अर्थात नहीं कहा जाता है।

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थसे मुक्तात्म द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्य नहीं कहा जाता। इस तरह गुण और गुणीमें स्वरूपकी अपेक्षा या संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है तौभी प्रदेशोंका भेद नहीं है इससे सर्वथा एकका दूसरेमें अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। यदि गुणीमें गुणका सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या २ दोष होंगे उनको समझाते हैं। जैसे सत्ता नामके वाचक शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्यवाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ताके प्रदेशोंसे भी सत्तागुणसे मुक्तात्म द्रव्य भिन्न होजावे तब जैसे जीवके प्रदेशोंमे पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुणके प्रदेशोंसे सत्तागुणसे मुक्त जीव द्रव्यभिन्न होता हुआ जुदा ही दूसरा द्रव्य प्राप्त होजावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप जुदा द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य जुदा इस तरह दो द्रव्य होजावेंगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुणके प्रदेशोंसे सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा तैसे ही सुवर्ण द्रव्यके प्रदेशोंसे सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप होजायगा तैसे सत्तागुणके प्रदेशोसे मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्यके प्रदेशोसे सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जायगा, इस तरह दोनोंका ही शून्यपना प्राप्त हो जायगा। इस तरह गुणी और गुणका सर्वथा भेद माननेसे दोष आ जावेंगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्यमें सत्ता गुणके साथ संज्ञा आदिके भेदसे अन्यपना है किन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया तैसे

ही सर्व द्रव्योंमें यथासंभव जान लेना चाहिये ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने गुण और गुणीके संबन्धको और भी साफ कर दिया है । गुणी द्रव्य है जो अनेक गुणोंका समुदायरूप अखंड पिंड है । गुण वह है जो द्रव्यमें पाया जाता है अपने स्वरूपसे एक है । गुणी द्रव्यका नाम जुदा है, गुणका नाम जुदा है–लक्षण, संज्ञा, प्रयोजन भी दोनोंका जुदा जुदा है इस तरह संज्ञा, संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा गुणी द्रव्यमें और गुणमें अन्यत्व है किन्तु जैसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न है और ऐसी भिन्नता नहीं है । जैसे एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंसे बिलकुल भिन्न हैं ऐसी प्रदेशोंकी भिन्नता द्रव्य और गुणमें नहीं है । जितने प्रदेश द्रव्यके हैं उतने ही प्रदेश गुणके हैं । जहां द्रव्य है वहीं गुण है । न द्रव्यके विना गुण कहीं पाया जाता है न गुणके विना द्रव्य कहीं पाया जाता है । दोनोंमें सदासे ही अमिट तादात्म्य सम्बन्ध है । मात्र स्वरूपसे भेद है । जैसे सोनेका पीलापन गुण है । दोनोंमें एकता है । जहां सोना है वही उसका पीलापन है । सोनेके पीलापनसे जुदा सोना नहीं पाया जाता और न सोनेसे जुदा सोनेका पीलापन पाया जाता तथापि सोनेका नाम जुदा है पीलेपनका नाम जुदा है । सोनेका लक्षण पीलापन, भारीपन आदि अनेक गुणोंका समूह है जब कि पीतपनेका लक्षण पीत वर्ण मात्रका बोध कराना है । सुवर्णकी संख्या एक व अनेक प्रकारकी खंडापेक्षा हो सक्ती है–पीतपनेकी संख्या अनेक सुवर्ण अंशोंमें एक रह सक्ती है । सुवर्णका प्रयोजन शोभा आदिके लिये आभूषणादि बनाना है । पीतपनेका प्रयोजन

पीतता झलकाना है इस तरह संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा सुवर्ण और पीतपनेमें भेद है ऐसे ही द्रव्य और गुणमें भेद या अन्यत्त्व है, प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है।

यदि द्रव्य और गुणमें सर्वथा भेद माना जावे तो जैसे कोई द्रव्य अपने प्रदेशोंसे एक द्रव्य है वैसे गुण भी अपने प्रदेशोंसे एक दूसरा द्रव्य हो जावे तब दो द्रव्य हो जावें। सो यह वस्तुका स्वरूप नहीं है। गुण द्रव्यमें ही पाए जाते हैं अलग अपनी सत्तामें नहीं रह सके। दूसरा दोष यह होगा कि जैसे द्रव्य गुणके विना नहीं होसक्ता वैसे गुण भी द्रव्यके विना नहीं होसक्ता। इस तरह सर्वथा जुदा माननेसे दोनोंका ही अभाव या शून्यपना होजायगा। तीसरा दोष यह होगा कि द्रव्यका अभाव सो गुण और गुणका अभाव सो द्रव्य जैसे घटका अभाव पट और पटका अभाव घट, इस दोषको अपोहरूपत्त्व दोष कहते हैं। इस तरह गुणी और गुणमें सर्वथा भेद माननेसे दोष प्राप्त होते हैं। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। द्रव्य और गुग किसी अपेक्षा एक और किसी अपेक्षा अन्य है।

इसी तरह जीव द्रव्य अपने ज्ञान सुख वीर्यादि गुणोंसे स्वरूपापेक्षा भेद रखता हुआ भी प्रदेशोंसे अभेद है। पुद्गल अपने स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुणमें व स्वरूपसे भेद रखता हुआ भी प्रदेशोंसे अभेद हैं। ऐसे ही अन्य द्रव्योंका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। इस तरह द्रव्यके अस्तित्वको कथन करते हुए प्रथम गाथा, पृथक्त्व लक्षण और अतद्भाव रूप अन्यत्त्व लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिसे भेदरूप अतद्भावको कहते हुए

तीसरी, उसीके दृढ़ करनेके लिये चौथी। इस तरह द्रव्य और गुणमें अभेद है इस विषयमें युक्ति द्वारा कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंसे पांचमा स्थल पूर्ण हुआ ॥ १७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठियं सहावे दव्वत्ति जिणोवदेसोयं ॥ १८ ॥

य खलु द्रव्यस्वभावः परिणामः स गुणः सदविशिष्टः ।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥ १८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(खलु) निश्चयसे (जो दव्वसहावो परिणामो) जो द्रव्यका स्वभावमई उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम है (सो सदविसिट्ठो गुणो) सो सत्तासे अभिन्न गुण है। (सहावे अवट्ठियं दव्वति सत्) अस्तित्व स्वभावमें तिष्ठता हुआ द्रव्य सत् है या सत्तारूप है (जिणोवदेसोयं) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—वृत्तिकार जीव द्रव्यपर घटाकर व्याख्या करते हैं कि जब आत्मामें पंचेंद्रियके विषयोंके अनुभवरूप मनके व्यापारसे पैदा होनेवाले सब मनोरथ रूप विकल्पजालोंका अभाव हो जाता है, तब चिदानंद मात्रकी अनुभूति रूप जो आत्मामें ठहरा हुआ भाव है उसका उत्पाद होता है और पूर्वमें कहे हुए विकल्पजालका नाश सो व्यय है, तथा इस उत्पाद और व्यय दोनोंका आधार रूप जीवपना ध्रौव्य है। इस तरह लक्षणके धारी उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप जीव द्रव्यका जो कोई स्वभावभूत परिणाम है वही सत्तासे

अभिन्न गुण है। जीवमें उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्‌गुण है जैसा कि कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्यका गुण है। इस तरह सत्ता गुणका व्याख्यान किया गया। परमात्मा द्रव्य अभेद नयसे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमें तिष्ठा हुआ सत् है ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है। "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादि आठवी गाथामें जो कहा था वही यहां कहा गया। मात्र गुणका कथन अधिक किया गया यह तात्पर्य है। जैसा जीव द्रव्यमें गुण और गुणीका व्याख्यान किया गया वैसा सर्व द्रव्यमें जानना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है, दोनोंकी एकता है–सत्ताबिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना सत्ता नहीं होती है–सत्ता गुण द्रव्यमें प्रधान है, द्रव्य सत्तामें सदा रहता है। क्योंकि हरएक द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाए जाते हैं इसलिये हरएक द्रव्य सत् है। द्रव्यमें अर्थ क्रिया होना तब ही संभव है जब द्रव्य परिणमन करे अर्थात् पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको प्राप्त हो तौ भी ध्रौव्य रहे। मिट्टी अपने ढेलेपनकी हालतको छोड़कर ही घड़ेकी अवस्थाको पैदा करती है तौ भी आप बनी रहती है। द्रव्यमें इन तीन प्रकार परिणामका होना ही द्रव्यके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योंकि हरएक द्रव्य सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप रहता है इसलिये वह सदा ही सतरूप है।

ऐसा स्वरूप द्रव्यका माननेसे ही संसार अवस्थाका
सिद्ध पर्यायका उत्पन्न होना तथा आत्माका दोनों अ

बना रहना संभव है। इसी ही स्वरूपको माननेसे ही एक तत्वज्ञानी सविकल्प अवस्थाको नाशकर निर्विकल्प अवस्थामें पहुंच जाता है।

इस तरह द्रव्य गुणी है, सत्ता गुण है। दोनोंका प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद है और संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है।

उत्थानिका—आगे गुण और पर्यायोंसे द्रव्यका अभेद दिखलाते हैं—

णत्थि गुणोत्ति व कोई, पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्त पुणभावो, तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १९ ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(इह) इस जगतमें (दव्वं विणा) द्रव्यके विना (कोई गुणोत्ति व पज्जाओत्ति णत्थि) न कोई गुण होता है न कोई पर्याय होती है (पुण दव्वत्तं भावो) तथा द्रव्यपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे परिणमनपना द्रव्यका स्वभाव है (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है।

विशेषार्थ—यहां मुक्तात्मा द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि मुक्तात्मा द्रव्यमें केवलज्ञानादि रूप गुणोंके समूह तथा 'परमपदकी प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय ये दोनों ही परमात्मा द्रव्यके विना नहीं पाए जाते क्योंकि गुण और पर्यायोंका द्रव्यके प्रदेशोंसे भेद नहीं है किंतु एकत्व है। तथा मुक्तात्मा द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई शुद्ध सत्तास्वरूप है इस लिये अभेदनयसे सत्ता ही द्रव्य है या द्रव्य ही सत्ता है। जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें गुणपर्यायोंके साथ अभेद व्याख्यान किया तैसे यथासम्भव सर्व द्रव्योंमें जान लेना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें इस बातको स्पष्ट किया गया है कि द्रव्य गुण पर्याय मय है। द्रव्यमें ही गुण होते हैं और द्रव्यमें ही पर्यायें होती हैं। गुण और पर्यायें द्रव्यको छोडकर स्वतंत्र नहीं हो सक्ते। वास्तवमें अनेक गुणोंका अखंड समुदाय द्रव्य है अर्थात् द्रव्यमें जितने गुण हैं वे सब द्रव्यके सर्व प्रदेशोंमें व्यापक हैं। उन सर्व गुणोंके ऐसे समूहको द्रव्य कहते हैं। गुणोंमें जो समय समय उत्पाद व्यय होता है इससे पर्यायें होतीं और नष्ट होती हैं—ये पर्यायें गुणोंके ही विकार हैं। जब गुण द्रव्यमें ही पाए जाते हैं तब उन गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्यमें ही पाई जाती हैं। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वे ही गुणोंके प्रदेश तथा वे ही पर्यायोंके प्रदेश हैं। एक आम्रफलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण हैं उनकी चिकनी, मीठी, सुगंधित तथा पीत अवस्था पर्यायें हैं अथवा आम्रका छोटेसे बड़ा होना पर्याय है। ये गुण पर्यायें आम्र द्रव्यमें ही होती हैं। सुवर्णमें पीतपना भारीपना आदि गुण तथा उसकी कुंडल व मुद्रिका आदि पर्यायें सुवर्णके विना नहीं होसक्ती हैं। आत्मामें चेतना, आनन्द, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र गुण तथा अशुद्ध या शुद्ध पर्यायें आत्मा विना नहीं होसक्ते हैं। इस तरह यह बात सिद्ध है कि हरएक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंसे अभेद है—ऐसा गुण पर्यायवान द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। क्योंकि पर्यायें क्षण क्षणमें नष्ट होकर नवीन पैदा होती रहती हैं और गुण सह-भावी हैं—सदा ही द्रव्यमें नित्य या ध्रौव्य रहते हैं इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। तथा जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौ- होता है उसीको सत् या सत्तारूप कहते हैं इसलिये द्रव्य

सत या सत्तारूप है अर्थात् द्रव्य गुणी है सत्ता उसका गुण है। द्रव्यका सत्तासे अभेद है। सत्तामई द्रव्य है इसीसे यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होकर गुण पर्यायवान है। ऐसा द्रव्यका स्वरूप निश्चय करना योग्य है।

श्री तत्वार्थसारमें श्री अमृतचंद्र महाराज कहते हैं:—

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्यैतरस्य च ।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः ॥ ६ ॥

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि ।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते ॥ ७ ॥

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते ।
अनादिना स्वभावेन तद्ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः ॥ ८ ॥

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्यविक्रिया ।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः ।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः ॥ १० ॥

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः ।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता ॥११॥

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः ।
वदन्त्यनन्यभूतत्वं द्वयोरपि महर्षयः ॥ १२ ॥

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य संभवः ।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च ॥१३॥

भावार्थ—वीतराग जिनेन्द्रोने उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणकाधारी गुण पर्यायवान द्रव्यको कहा है। जीव तथा अजीव द्रव्यका अपनी अपनी जातिको न छोड़ते हुए अन्य २ रूप अवस्थाको प्राप्त करना सो उत्पाद है। अपनी २ जातिमें विरोध न डालते हुए दोनों प्रकारके द्रव्यका अपनी २ पूर्व अवस्थाका त्यागना उसको व्यय कहते हैं। अनादिसे अपने २ स्वभावकी अपेक्षा द्रव्यका उत्पाद और व्ययका जो अभाव है उसको श्री जिनेन्द्रोंने ध्रौव्य कहा है। अर्थात् द्रव्योंमें अवस्थाका उत्पाद व्यय होते हुए भी द्रव्योंके स्वभावोंका स्थिर रहना ध्रौव्य है। द्रव्यका विधान या स्थापन करनेवाला गुण है। अर्थात् गुणोंका और द्रव्यका सदा हीसे एक रूप तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यमें जो विक्रिया या अवस्था होती है वह पर्याय है। द्रव्य इन दोनो गुण पर्यायोंका अयुत सिद्ध समुदाय है अर्थात् अमिट अनादि समुदाय है। कभी गुण या पर्याय कहींसे आकर द्रव्यमें मिले नहीं। सामान्य, अन्वय, उत्सर्ग शब्द गुणके वाचक हैं तथा व्यतिरेक, विशेष, भेद शब्द पर्यायके वाचक हैं। गुणोंके विना द्रव्य नहीं होता है न द्रव्यके विना गुण होते हैं इस लिये द्रव्य और गुणोंकी एकता है। पर्यायके विना भी द्रव्य नहीं होता न द्रव्यके विना पर्याय होती है इस लिये महर्षियोंने द्रव्य और पर्यायका अविनाभावपना या एकपना बताया है। सत् रूप पदार्थका नाश नहीं होता असत् रूप पदार्थका जन्म नहीं होता। सत् रूप पदार्थ ही अपने गुणपर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इस तरह निःसंदेह होकर ऐसा द्रव्यका स्वरूप समझकर अपनी ही आत्माकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। अपनी भ.

जो अशुद्ध संसार पर्याय हैं उसको त्यागने योग्य निश्चयकर उसकी शुद्ध पर्यायकी प्राप्तिका यत्न करना योग्य है जिसमें इस आत्माके सर्व गुण शुद्ध स्वभावमें परिणमन करते हुए अपनी सुन्दरतासे परमरमणीकताको विस्तारें। इस लिये अपने शुद्ध स्वभावपर लक्ष्य देते हुए व संसारमें रागद्वेष न करते हुए हमको साम्यभावरूप वीतराग विज्ञानमय भावका मनन करना चाहिये। यही शुद्ध पर्याय होनेका मंत्र है ॥ १९ ॥

इस तरह गुण और गुणीका व्याख्यान करते हुए प्रथम गाथा तथा द्रव्यका अपने गुण व पर्यायोंसे भेद नहीं है ऐसा कहते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतंत्र दो गाथाओंसे छठा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सत् उत्पाद और पर्यायार्थिक नयसे असत् उत्पाद दिखलाते हैं—

एवं विहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पाडुब्भावं सदा लहदि ॥ २० ॥

एवं विधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥ २० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एवं विहं) इस तरहके (सहावे) स्वभावको रखते हुए (दव्वं) द्रव्य (दव्वत्थ पज्जयत्थेहिं) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे (सदसब्भावणिबद्धं) सद्भावरूप और असद्भाव रूप (पाडुब्भावं) उत्पादको (सदा लहदी) सदा ही प्राप्त होता रहता है।

विशेषार्थः—जैसे सुवर्ण द्रव्यमें जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे विचार किया जाता

है उस समय ही कटक रूप पर्यायमें जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कंकन पर्यायमें है–दूसरा नहीं है। इस अवसरपर सद्भाव उत्पाद ही है क्योंकि द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे नष्ट नहीं हुआ किन्तु वरावर बना रहा। और जब पर्याय मात्रकी अपेक्षासे विचार किया जाता है तब सुवर्णकी जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमानकी कंकन रूप पर्याय भिन्न ही है। इस अवसरपर असत् उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट होगई और नई पर्याय पैदा हुई। तैसे ही यदि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्थामें ऐसा ऐसा गृहका व्यापार करता था वही पीछे जिन दीक्षा लेकर निश्चय रत्नत्रय मई परमात्माके ध्यानसे अनन्त सुखामृतमें तृप्त रामचंद्र आदि केवली पुरुष हुआ– अन्य कोई नहीं–यह सत् उत्पाद है। क्योंकि पुरुषकी अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ। और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचंद्र, पांडव आदि केवली पुरुषोंकी जो वीतराग परमात्म पर्याय है सो अन्य है वही नहीं है–यह असत् उत्पाद है। क्योंकि पूर्व पर्यायसे यह अन्य पर्य्याय है। जैसे यहां जीव द्रव्यमें सत् उत्पाद और असत् उत्पादका व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्योंमें यथासंभव जान लेना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य उत्पादके दो भेद भिन्न२ अपेक्षासे द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं। एक सत् उत्पाद दूसरा असत् उत्पाद। जो थी वही उपजनी इसको सत् उत्पाद और जो न थी वह उपजनी इसको असत् उत्पाद कहते

हैं । द्रव्यमें जितनी पर्यायें संभव हैं वे सब उसमें सत्तारूपसे या शक्ति रूपसे मौजूद रहती हैं उन्हीं पर्यायोंमेंसे कभी कोई कभी कोई पैदा या प्रगट हुआ करती हैं, शेष पर्यायें उसमें शक्ति रूपसे रहती हैं। इससे द्रव्य अपनी समस्त पर्यायोंका समुदाय है। द्रव्य अपनी किसी भी पर्यायमें हो वह द्रव्य ही है-द्रव्यपनेसे अलग नहीं है। द्रव्यने स्वयं ही अपनी पर्यायको धारण किया है इससे वह द्रव्य ही है इस द्रव्यकी अपेक्षा या दृष्टिको ध्यानमें लेकर जब देखा जायगा तब द्रव्य अपनी हरएक पर्यायमें द्रव्य ही दिखलाई पडेगा। इस दृष्टिसे द्रव्यके उत्पादको सत् या सद्भाव उत्पाद कहते हैं, परन्तु जब पर्याय मात्रका विचार करे तो द्रव्यमें एक पर्याय एक समयमें प्रगट रहेगी दूसरी अप्रगट रहेगी, तब जो प्रगट होगी वह वही प्रगट हुई जो पहले प्रगट नहीं थी तथा जब यह पर्याय प्रगट हुई तब पहली पर्याय नष्ट होगई या अप्रगट होगई इसलिये इस पर्यायकी दृष्टिमें जो द्रव्यकी पर्यायें होती हैं उनको असत् या असद्भाव उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिंडसे घट बनाया। इसमें घटकी पर्यायकी प्रगटता मिट्टीकी अपेक्षा सत् उत्पाद है क्योंकि मिट्टी ही घट रूप परिणमी है तथा पिंडकी दशामें घट न था इस अपेक्षा घटका उपजना असत् उत्पाद है। एक जीव निगोदकी पर्यायमें था वही जीव भ्रमण करते करते पंचेंद्री पशु होगया-यह पशु पर्याय उस जीवकी अपेक्षा सत् उत्पाद है परन्तु नवीन पर्यायकी अपेक्षा असत् उत्पाद है। द्रव्य जितनी भी पर्यायें धारण करे अपने स्वभाव या गुणको नहीं त्याग बैठता है। इसी बातको बतानेवाला सत् उत्पाद है। जीवकी हरएक पर्यायमें चेतनपना बना रहेगा। पुद्गलकी

हरएक पर्यायमें मूर्तिकपना बना रहेगा। अवस्था क्षणभंगुर है-समय समय भिन्न २ होती है, इसको जतानेवाला असत् उत्पाद है। श्री रामचंद्रजी मुक्त हुए तब मोक्ष पर्यायमें वही जीव है जो रामके शरीरमें था यह सत् उत्पाद है तथापि संसार अवस्थासे मोक्ष अवस्था हुई जो पहले प्रगट न थी सो असत् उत्पाद है। यहां तात्पर्य्य यह लेना चाहिये कि हमारी आत्मामें भी मोक्ष पर्याय शक्तिरूपसे मौजूद है इसलिये हमको उसकी प्रगटताके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और साम्यभावके अभ्यासमें नित्य लवलीन रहना चाहिये ॥ २० ॥

उत्थानिका-आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं-

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥ २१ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति ॥ २१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवो) यह आत्मा (भवं) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपनेको छोड़ बैठेगा ? (ण जहं अण्णो कहं होदि) नहीं छोड़ता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपनेसे अन्य नहीं होगा।

विशेषार्थ-यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोगसे विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोगसे परिणमन करके ...

देव, पशु या नारकी अथवा निर्विकार शुद्धोपयोगमें परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा । इस प्रकार होकरके भी अथवा वर्तमान कालमें होता हुआ भाविकालमें होगा व भूतकालमें हुआ था इस तरह तीनों कालोंमें पर्यायोंको बदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपनेको छोड़ देता है ? द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यपनेको कभी नहीं छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न २ पर्यायोंमें दूसरा कैसे हो सक्ता है ? अर्थात दूसरा नहीं होता। किंतु द्रव्यकी अन्वयरूप शक्तिसे सदभाव उत्पादरूप वही अपने द्रव्यसे अभिन्न है । यह भावार्थ है ।

भावार्थ—यहां आचार्यने सत् उत्पादका दृष्टांत देकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य नित्य है और सतरूप है·कभी अपनी सत्ताको छोड़ता नहीं-अपनी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंमें वही है—अन्य कभी नहीं होता है । बौद्ध मतकी तरह क्षणिक नहीं है किन्तु द्रव्यपनेकी अपेक्षा नित्य है । यही जीव अपने अशुद्ध उपयोगसे चार गतिका कर्म बांध उस कर्मके उदयसे कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी होजाता है तथा यही जीव अपने शुद्धोपयोगके बलसे कर्मोंको नाशकर सिद्ध होजाता है । इन अनेक अवस्थाओंमें वही जीव प्रगट हुआ है यह सत उत्पाद है। जीवने अपने गुणोंको किसी भी पर्यायमें नहीं छोड़ा है । इसी तरह पुद्गल पर भी लगा सक्ते हैं । पुद्गलके परमाणु परस्पर मिलने या बिछुड़नेसे नाना प्रकारके स्कंध बन जाते हैं कभी कार्माण वर्गणा रूप कभी तैजस वर्गणारूप, कभी आहार वर्गणारूप, कभी भाषा वर्गणारूप तथा कभी मनोवर्गणा रूप, तथापि पुद्गल रूप ही रहते हैं—वे परमाणु अपने स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंको कभी नहीं

त्यागते हैं। उनका हरएक पर्यायमें सत् उत्पाद ही होता है। इस कथनसे यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि जीवकी सर्व पर्यायें जीव रूप तथा पुद्गलकी सर्व पर्यायें पुद्गल रूप होंगी-एक द्रव्यकी पर्यायें अन्य द्रव्य रूप नहीं हो सक्ती हैं। जीव कभी पुद्गल नहीं होगा, पुद्गल कभी जीव नहीं होगा ऐसा वस्तुका स्वभाव समझकर हमको उचित है कि हम अपने आत्म द्रव्यको शुद्ध अवस्थामें रखनेके लिये साम्यभावका अभ्यास करें ॥२१॥

उत्थानिका-आगे द्रव्यके असत् उत्पादको पूर्व पर्यायसे भिन्न निश्चय करते हैं—

मणुओ ण होदि देवो, देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ २२ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते ॥ २२ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (मानुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एवं अहोज्जं माणो) ऐसा नहीं होता हुआ (अणण्ण भावं कधं लहदि) एक पनेको कैसे प्राप्त हो सक्ता है?

विशेषार्थ-देव मनुष्यादि विभाव पर्यायोंसे विलक्षण तथा निराकुल स्वरूप अपने स्वभावमें परिणमन रूप लक्षणको धरनेवाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय नयसे मनुष्यपर्यायमें तथा देवपर्यायमें समान है तथापि व्यवहारनयसे मनुष्य देव नहीं होता है क्योंकि देव पर्यायके कालमें मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति नहीं है तथा मनुष्य पर्यायके

कालमें देव पर्यायकी प्राप्ति नहीं है। इसी तरह कोई चार भेदोंसे देव है सो न मनुष्य है न अपने आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्ध अवस्थामे रहनेवाला सिद्ध है क्योंकि पर्यायोंका परस्पर भिन्न २ काल है जैसे सुवर्ण द्रव्यमें कुन्डल कंकण आदि पर्यायोंका भिन्न२ काल है। इस तरह एक दूसरे रूप न होता हुआ एकपनेको कैसे प्राप्त होसक्ता है? किसी भी तरह नहीं प्राप्त होसक्ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि असदभाव उत्पाद या असत् उत्पाद पूर्व २ पर्यायसे भिन्न २ होता है।

भावार्थ-पहली गाथामें सत् उत्पादको द्रव्यकी अपेक्षा कहा था। यहां असत् उत्पादको पर्यायकी अपेक्षा कहते हैं। यद्यपि द्रव्यमें शक्ति रूपसे उसमें, होने योग्य अनंत पर्यायें वास करती हैं परन्तु उनमेंसे एक समयमें एक ही पर्यायकी प्रगटता होती है। जब एक पर्याय प्रगट होती है तब ही पहली पर्याय नष्ट होजाती है इस तरह जब पर्यायकी अपेक्षा विचार किया जावे तो इस पर्यायको असत् उत्पाद कहेंगे। जो मनुष्य पर्यायमे जीव है वह पर्यायकी अपेक्षा मनुष्य पर्यायमे है न वह देव, नारकी या तिर्यंच पर्यायमें है। इसी तरह जो देव है वह देव पर्याय हीमे हैं अन्य नरक, पशु व मनुष्य या सिद्ध पर्यायमें नहीं है क्योंकि देवगतिमें जो जो अवस्था शरीर व विभूतिकी होती है वह अवस्था अन्य गतिमें नहीं होती। सिद्ध पर्यायमें शुद्ध अवस्था है। वह संसार पर्यायमें नहीं होती है इस.लिये सिद्ध जीवका पर्यायकी अपेक्षा असत् उत्पाद हुआ ऐसा समझना चाहिये। इस कथनका तात्पर्य यही है कि पर्याय बदलती है मूल द्रव्य नहीं बदलता है।

द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है, जिससे स्थूलपने यह भी समझना चाहिये कि अभी हमारा आत्मा जिस मनुष्य पर्यायमें है वह पर्याय कभी न कभी अवश्य बदल जायगी, यद्यपि हम नष्ट नहीं होंगे। इससे हमको इस पर्यायमें जो कुछ तप संयम व्रतादि बन सक्ता है सो अच्छी तरह कर लेना चाहिये, जिससे भविष्यमें योग्य पर्यायकी प्राप्ति हो।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अनन्यत्व नामका एकत्व है तथा अन्यत्व नामका अनेकत्व है ऐसा नयोंकी अपेक्षा दिखलाते हैं। अथवा पूर्वमें कहे गए सदभाव उत्पाद और असद्भाव उत्पादको एक साथ अन्य प्रकारसे दिखाते हैं—

दव्वट्ठिएण सव्वं सव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २३ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ २३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दव्वट्ठिएण) द्रव्यार्थिक नयसे (तं सव्वं) वह सब (दव्वं) द्रव्य (अणण्णं) अन्य नहीं है—वही है (पुणो) परंतु (पज्जयट्ठिएण) पर्यायार्थिक नयसे (अण्णम् य) अन्य भी (हवदि) है—क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) इस कालमें द्रव्य अपनी पर्यायसे तन्मई हो रहा है॥

विशेषार्थ—वृत्तिकार जीव द्रव्यपर घटाते हैं कि शुद्ध अन्वय रूप द्रवार्थिक नयसे यदि विचार किया जाय तो सर्व ही कोई विशेष या सामान्य जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायोंके समूहोंके साथ तथा केवलज्ञान

दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय शक्ति रूप सिद्ध पर्यायके साथ अन्य अन्य नहीं है किन्तु तन्मय है—एक है। जैसे कुंडल कंकण आदि पर्यायोंमें सुवर्णका भेद नहीं है। वही सुवर्ण है। परंतु यदि पर्यायकी अपेक्षासे विचार किया जावे तो वह द्रव्य अपनी अनेक पर्यायोंके साथ भिन्न२ ही है, क्योंकि जैसे अग्नि तृणकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि, पत्रकी अग्नि रूप अपनी पर्यायोंके साथ उस समय तन्मयी होकर एक रूप भी है और भिन्न २ रूप भी है। तैसे यह जीव द्रव्य अपनी पर्यायोंके साथ अन्य अन्य होकर भी भिन्न२ रूप भी है और एक रूप भी है। इससे यह बात कही गई कि जब द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुकी परीक्षा की जाती है तब पर्यायोंमें सन्तान रूपसे सर्व पर्यायोंका समूह द्रव्य ही प्रगट होता है। परंतु जब पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है तब वही द्रव्य पर्याय पर्याय रूपमें भिन्न२ झलकता है। और जब परस्पर अपेक्षासे दोनों नयोंके द्वारा एक ही काल विचार किया जाता है तब वह द्रव्य एक ही काल एक रूप और अनेक रूप मालूम होता है। जैसे यहां जीव द्रव्यके सम्बन्धमें व्याख्यान किया गया तैसे सर्व द्रव्योंमें यथा-संभव जान लेना चाहिये—यह अर्थ है।

भावार्थः—इस गाथामें आचार्यने अभेद और भेद स्वभावोंको जो हरएक द्रव्यमें पाए जाते हैं अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। द्रव्य अपनी सर्व भूत, वर्तमान, भविष्यकी पर्यायोंके साथ तन्मय रहता है—वही होता है—इस अपेक्षासे द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अभेद है। परंतु हरएक पर्याय अपनी पूर्व या उत्तर पर्यायसे

भिन्न २ है इसलिये वह द्रव्य अपनी हरएक विशेष अवस्थामें एकरूप नहीं किन्तु भिन्न २ है—इस तरह पर्यायोंकी अपेक्षा भेद है। वास्तवमें द्रव्यमें एक ही समयमें अभेद स्वभाव और भेद स्वभाव दोनों ही पाए जाते हैं। इन दो भिन्न २ स्वभावोंको जब हम अपनी पर्यायको देखनेवाली दृष्टिको बन्द कर द्रव्य सामान्यको देखनेवाली दृष्टिसे अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तब हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें वही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका अभेद स्वभाव प्रगट होता है। परन्तु जब हम द्रव्यको देखनेवाली दृष्टिको बंदकर पर्यायको देखनेवाली दृष्टिसे या पर्यार्थिक नयसे देखते हैं तब हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें अन्य २ ही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका भेद स्वभाव ही प्रगट होता है। परंतु जब हम दोनों दृष्टियोंसे एक काल देखने लगजावें तब वह द्रव्य एक काल द्रव्यकी अपेक्षा अभेद रूप और पर्यायकी अपेक्षा भेद रूप दिखता है। जैसे एक जीव जो निगोद पर्यायमें था वही एकेन्द्री, द्वेन्द्री, तेन्द्री, चौंद्री, पचेंन्द्री होकर मनुष्य हो, रत्नत्रय धर्मका लाभ पाकर केवलज्ञानी हो, सिद्ध होजाता है—वही जीव है यह प्रतीति अभेद स्वरूपकी बतानेवाली है परंतु जब पर्याय पर्यायका मिलान करते हैं तो बड़ा भेद है—एकेन्द्रीकी जो अवस्था है वह द्वेन्द्रिय त्रस आदिकी नहीं, द्वेन्द्रिय त्रसकी जो अवस्था है वह एकेन्द्रिय तेन्द्रिय आदिकी नहीं, पशुकी जो अवस्था है वह मनुष्यकी नहीं, मनुष्यकी जो अवस्था है वह देव आदिकी नहीं, मिथ्यादृष्टीकी जो अवस्था है वह सम्यग्दृष्टीकी नहीं, गृहस्थकी जो अवस्था है वह साधुकी नहीं, साधुकी

अवस्था है वह केवलज्ञानीकी नहीं, केवलज्ञानी अरहंतकी जो अवस्था है वह सिद्ध भगवानकी नहीं । इसतरह पर्यायकी अपेक्षा वही जीव अपनी भिन्न२ पर्यायोंमें भिन्न२ ही झलकता है-अर्थात् जीवका भेद स्वभाव प्रगट होता है । जब एक काल दोनोंका विचार करते हैं तो भिन्न२ अपेक्षासे वही जीव अभेदरूप तथा भेदरूप मालूम होता है । इसी तरह मिट्टी अपने प्याले, गिलास, कलस, घड़े, थाली आदि अनेक अवस्थाओंको रखती हुई भी मिट्टीके स्वभावकी अपेक्षा एक रूप मिट्टी ही है, परंतु जब अलग अलग हरएक मिट्टीकी अवस्थाको देखा जाता है तब प्याला है सो ग्लास आदि नहीं, ग्लास है सो प्याला आदि नहीं, कलस है सो प्यालाआदि नहीं, घड़ा है सो कलस आदि नहीं, थाली है सो घड़ा आदि नहीं । इसतरह हरएक मिट्टीकी पर्याय भिन्न२ ही झलकती है, परंतु जब एक मिट्टी और उसकी प्याले आदि पर्यायोंकी अपेक्षा एक साथ विचार किया जावे तब मिट्टीमें अभेद रूप और भेद रूप दोनों बातें दिखलाई पड़ती हैं ।

इन्हीं तीनों भंगोंका जब कथनकी अपेक्षा विचार किया जावे तब इसीके सात भंग बन जाते हैं जिसका वर्णन आगेकी गाथामें है । हरएक दो भिन्न२ स्वभावोंको समझने समझानेमें सात भंगोंका विचार हो सक्ता है । यहांपर द्रव्यके अभेद और भेद स्वभावको बताया गया है । ये दोनों ही स्वभाव द्रव्यमें एक काल पाए जाते हैं ।

इसी बातका विशेष वर्णन स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्त-मीमांसामें किया है कि यदि द्रव्यमें सर्वथा भेद माना जावे तो इस

तरह दोष आएगा । जैसा कहा है —

> सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुश ।
> प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

भावार्थ-यदि द्रव्यको अपनी पर्यायोंसे भी एक रूप न माना जावे तो पर्यायोंकी सतान न ठहरे । क्रम रूप होनेवाली पर्यायोंमें जो द्रव्य अन्वय रूप बराबर बना रहता है उसको सतान कहते हैं । तथा समुदाय कहना भी न बनेगा । अर्थात् यदि द्रव्यको अपने गुणोंसे तथा गुणके विकार पर्यायोंसे सर्वथा भेद मानें तो यह द्रव्य गुणोंका या पर्यायोंका समुदाय है ऐसा नहीं बनेगा । वैसे ही साधर्म भाव भी न बनेगा । जितनी पर्यायें जिस द्रव्यकी होती हैं उन पर्यायोंमें द्रव्यका समान जातीय स्वभाव पाया जाता है । जैसे जीवकी देव मनुष्यादि पर्यायोंमें ज्ञानपना, पुद्गलकी घटपट आदि पर्यायोंमें स्पर्श, रस, गध, वर्णपना, सत्ताकी अपेक्षा सर्व द्रव्योंमें सत् पना, ऐसा साधर्मीपना नहीं ठहरेगा यदि सर्वथा भेद माना जावे । वैसे ही परलोक भी न बनेगा—मरकर नया जन्म धारना परलोक है । सो यदि एक आत्मा अपनी देव मनुष्यादि पर्यायोंमे नहीं रहे तब यह नहीं मान सके कि अमुक जीवने पुण्य बाधके देव पर्याय पाई । परन्तु जब सतान समुदाय, साधर्म्य और परलोक अवश्य हैं तब अवश्य द्रव्यमें अभेद स्वभाव मानना होगा । सर्वथा द्रव्यका भेद अपने स्वभावों या पर्यायोंसे नहीं हो सक्ता है। इसी तरह यदि कोई द्रव्यका सर्वथा अभेद स्वभाव माने तो क्या दोष आवेगा उसके लिये स्वामी समतभद्रजी यहीं कहते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्या द्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

भावार्थ–यदि सर्वथा अभेद या अद्वैतका एकान्त पक्ष लिया जावे तो जो कारक और क्रियाके भेद प्रत्यक्ष सिद्ध हैं सो नहीं रहेंगे । अर्थात् यह जीव कर्ता है, इसने अपने भाव किये इससे कर्म है, जीवने अपने ज्ञानसे जाना इससे करण है इत्यादि कारक नहीं बनेंगे और न अभेद एक रूप द्रव्यमें क्रिया कोई हो सक्ती है जैसे ठहरना, चलना, आदि और न अभेदसे कोई वस्तु पैदा हो सक्ती है । मिट्टीसे घड़े, सुवर्णके कुंडल, जीवके क्रोधादि भाव नहीं पैदा हो सक्ते हैं । इसी तरह सर्वथा एक या अभेद रूप द्रव्यको माननेसे उसके द्वारा होनेवाले पुण्य या पाप कर्म, उनके सुख दुःख फल, यह लोक, परलोक, अज्ञानावस्था तथा सम्यग्ज्ञानावस्था, तथा बन्ध और मोक्ष–इत्यादि कुछ भी नहीं बनेगा । इसी लिये द्रव्यका स्वभाव किसी अपेक्षा अभेद तथा किसी अपेक्षा भेद रूप है ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ २३ ॥

इसतरह सत् उत्पादको कहते हुए प्रथम, सत् उत्पादका विशेष कथन करते हुए दूसरी तैसे ही असत् उत्पादका विशेष वर्णन करते हुए तीसरी तथा द्रव्य और पर्यायोंका एकत्व और अनेकत्व कहते हुए चौथी इसतरह सत् उत्पाद, असत् उत्पादके व्याख्यानकी मुख्यतासे गाथा चारमें सातवां स्थल पूर्ण हुआ ।

उत्थानिका–आगे सर्व खोटी नयोंके एकान्त रूप विवादको मेटनेवाली सप्तभंगी नयका विस्तार करते हैं–

अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २४ ॥
अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनापि तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥ २४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(दव्वं) द्रव्य (केणवि पज्जाएण) किसी एक पर्यायसे (दु) तो (अत्थित्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्यायसे (णत्थित्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्यायसे (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है । (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्यायसे अस्ति नास्ति दोनों रूप ही हैं (वा अण्णं) अथवा किसी अपेक्षासे अन्य तीन रूप अस्ति एव अवक्तव्य, नास्ति एव अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एव अवक्तव्य रूप (आदिट्ठम्) कहा गया है ।

विशेषार्थः–यहां स्याद्वादका कथन है । स्यातका अर्थ कथंचित् है अर्थात् किसी एक अपेक्षासे–वादके अर्थ-कथन करनेके हैं । वृत्तिकार यहां शुद्ध जीवके सम्बन्धमें स्याद्वादका या सप्तभंगका प्रयोग करके बताते हैं । शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावके चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है अर्थात् जीवमें अस्तिपना है । शुद्ध गुण तथा पर्यायोंका आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश हैं सो स्वक्षेत्र कहा जाता है । वर्तमान शुद्ध पर्यायमें परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा जाता है । शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीवमें अस्तित्व स्वभाव है । यह

अस्ति एव प्रथम भंग है। तथा पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल व परभाव रूप परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अर्थात् शुद्ध जीवमें अपने सिवाय सर्व द्रव्योंके द्रव्यादि चतुष्टयका अभाव है। यह स्यात् नास्ति एव दूसरा भंग है। एक समयमें ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षासे अस्तिरूप ही है व किसी अपेक्षासे नास्ति रूप ही है तथापि वचनोंसे एक समयमें कहा नहीं जासक्ता इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा स्यात् अवक्तव्य एव भंग है। वह परमात्म द्रव्य स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप है पर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप है ऐसे क्रमसे कहते हुए अस्तिनास्ति स्वरूप ही है यह चौथा स्यात् अस्तिनास्ति एव भंग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूप नय विभागसे जैसे ये चार भंग हुए तैसे तीन भंग और हैं जिनको संयोगी कहते हैं। स्व द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति ही है परन्तु एक समयमें स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति और पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् अस्ति एव अवक्तव्य है यह पांचवां भंग है। पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है परंतु एक समयमें स्व पर द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिनास्ति होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् नास्ति एव अवक्तव्य है यह छठा भंग है। क्रमसे कहते हुए स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है तथापि एक समयमें अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं जासक्ता इससे स्यात् अस्तिनास्ति एव अवक्तव्य रूप है यह सातवां भंग है। पहले पंचास्तिकाय ग्रंथमें स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्यसे प्रमाण सप्तभंगीका व्याख्यान

किया गया यहां स्यात् अस्ति एवके द्वारा जो एवका ग्रहण किया गया है वह नय सप्तभंगीके बतानेके लिये किया गया है। जैसे यहां शुद्ध आत्म द्रव्यमें सप्तभंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथा संभव सर्व पदार्थोंमें जान लेना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने सप्तभंग वाणीका स्वरूप इसी लिये दिखाया है कि इसकी पहली गाथामें जो द्रव्यमें द्रव्यकी अपेक्षा अभेद स्वभाव तथा पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वभाव बताया है उसकी सिद्धि सात भंगोंसे शिष्यके प्रश्नवश होसक्ती है उसको स्पष्ट कर दिया जाय।

शिष्यने प्रश्न किया कि द्रव्यका क्या स्वरूप है? आचार्य उत्तर देते हैं कि द्रव्य अपने गुण व पर्यायोंमें अन्वय रूप सदा चला जाता है इससे अभेद स्वरूप ही है, परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वरूप ही है। तथापि यदि अभेद स्वरूपको और भेद स्वरूपको दोनोको एक काल कहनेकी चेष्टा करें तो कह नहीं सक्ते इससे अवक्तव्य स्वरूप ही है। इस तरह स्याद् अभेद एव, स्यात् भेद एव, स्यात् अवक्तव्यम् एव। तीन भंग हुए।

शिष्यका प्रश्न–क्या ये अभेद तथा भेद दोनों स्वरूप है?

उत्तर–यह द्रव्य किसी अपेक्षासे अभेद व किसी अपेक्षा भेद इस तरह दोनो स्वरूप ही है। यह चौथा भंग स्यात् अभेद-भेद एव है।

शिष्य-प्रश्न–तब फिर जो आपने अवक्तव्य कहा था, क्या यह अभेद स्वरूपको नहीं रखता है?

उत्तर–अवश्य अभेद स्वरूको रखता है तथापि एक सम-

यमें कहनेकी अपेक्षा अवक्तव्य है। यह स्यात् अभेदः एव अवक्तव्यं पांचवां भंग है।

शिष्य प्रश्न—क्या अवक्तव्य होते हुए भेद स्वरूपको नहीं रखता है ?

उत्तर—अवश्य भेद स्वरूपको रखता है परंतु एक समयमें कहनेकी अपेक्षा अवक्तव्य है। यह स्यात् भेदः एव अवक्तव्यं छठा भंग है।

शिष्य प्रश्न—क्या अवक्तव्य होते हुए ये दोनों स्वभावोंको नहीं रखता है ?

उत्तर—यह अवश्य दोनों स्वभावोंको रखता है परंतु एक समयमें कहनेके अभावसे अवक्तव्य है। यह स्यात् अभेद भेद एव अवक्तव्यं सातवां भंग है। जहां एक पदार्थमें तीन स्वभाव पाए जांयगे वहां उसके सात भंग बन सक्ते हैं—जैसे यह कागज लाल, पीला, हरा है—एक तरफ लाल है, दूसरी तरफ पीला है और किनारेपर हरा है। ये तीन भंग तो ये हुए, चार इस तरहपर होंगे कि ये लाल और पीला है, लाल हरा है, पीला हरा है तथा लाल पीला हरा है। इसकोइस तरह कह सके हैं। किनारोंको छोड़कर दोनों तरफकी अपेक्षासे देखो तो ये लाल और पीला है। एक एक तरफको अलग२ देखो तो यह लाल हरा है तथा पीला हरा है। यदि सब तरफकी बात एक साथ देखो तो यह कागज लाल पीला हरा है।

अथवा हमारे पास नोन, मिर्च, खटाई हो तो इसको सात अवस्थाओंमें रख सक्ते हैं—

१ अलग नोन २ अलग मिर्च ३ अलग खटाई ४ नोन

मिर्च साथ ५ नोन खटाई साथ, ६ मिर्च खटाई साथ तथा ७ नोन मिर्च खटाई साथ। इससे अधिक भिन्न अवस्था तीन वस्तुओंकी नहीं होसक्ती।

इसी तरह दो विरोधी स्वभाव और एक अवक्तव्य ये तीन स्वभाव द्रव्यमें होकर उसका कथन सात तरहसे किया जासक्ता है, आठ तरहसे नहीं होसक्ता है। यदि छः तरहसे करें तो एक भेद शेष रह जायगा। दूसरा दृष्टान्त हम ले सक्के हैं कि किसीने हमको शक्कर चने और बादाम तीन वस्तुएं दीं और कहा कि इसकी मिश्रित मिठाइयें ऐसी बनाओ जो एक दूसरेसे भिन्न हों। ऐसी दशामें हम चार प्रकारकी ही बना सक्के हैं जैसे शक्कर और चनेके मिलानेसे एक प्रकारकी, शक्कर और बादामके मिलानेसे दूसरे प्रकारकी, चने और बादामको मिलाकर तीसरे प्रकारकी तथा शक्कर चने और बादामको मिलाकर चौथे प्रकारकी इस तरह तीन अलग व चार मिश्र ऐसे सात भेद तीनके होसक्के हैं। हरएक द्रव्यमें एक, अनेक, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, इत्यादि दो दो विरोधी स्वभाव पाए जाते हैं। तीसरा स्वभाव अवक्तव्य है। अवक्तव्य एक अनेक, अस्ति नास्ति, नित्त्य अनित्त्य, सबके साथ लगानेसे तीन स्वभाव होजावेंगे इनका खुलासा करनेके लिये सात तरहका उपाय है जिससे शिष्यके दिलमें विना शंकाके पदार्थ जम जावे। जैसे द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षा नित्त्य है, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। दोनोंको एक साथ एक समयमें नहीं कह सक्के इससे द्रव्य अवक्तव्य है।

शिष्यको समझानेके लिये इस तरह चार भंग कहेंगे। द्रव्य

नित्य और अनित्य दोनों स्वभाव है। जब नित्य है तब अवक्तव्य भी है। जब अनित्य है तब अवक्तव्य भी है। तथा जब नित्य अनित्य दोनों रूप है तब अवक्तव्य भी है। इस तरह सात भंग हो जायगे। एक स्वभाव रूप पदार्थको माननेसे पदार्थसे कोई भी काम नहीं लिया जासक्ता।

श्री समन्तभद्राचार्यजीने आप्तमीमांसामें स्याद्वादका अच्छा स्वरूप बताया है.—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैत सहावाच्यमशक्तितः ।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगा स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

भावार्थ—अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सर्व वस्तु सत्‌रूप ही है इस बातको कौन बुद्धिमान न मानेगा तथा इसके विरुद्ध पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सर्व वस्तु परस्पर असतरूप ही है। यदि द्रव्यमें अपने स्वरूपकी अपेक्षा सत् और पर स्वरूपकी अपेक्षा असत् न हो तो द्रव्य ठहर ही नहीं सक्ता है। जब हमने कहा कि घड़ा है तब घडेपनेके अस्तित्वको रखता हुआ वह घड़ा अपनेसे भिन्न कपड़ा, मकान आदि अन्य सर्व परके अभावको या नास्तित्वको भी रख रहा है। तब ही हम यह कह सके हैं कि यह घडा है तथा घड़ेके सिवाय और कुछ नहीं है। इसी दो प्रकारके स्वभावको क्रमक्रमसे एक साथ बतानेके लिये तीसरा भंग यह कहा जायगा कि द्रव्य स्वस्वरूपसे अस्ति तथा पर स्वरूपसे स्वरूप है यह तीसरा भंग अस्ति नास्ति बनता है। यद्यपि

द्रव्यमे दो स्वभाव है पन्तु एक साथ नहीं कहे जासक्ते क्योंकि वचनोंमें ऐसी शक्ति नही है इसलिये चौथा भग अवक्तव्य हो जाता है । इसी तरह अपनी २ भिन्न अपेक्षाके कारण अवक्तव्यके आगेके शेष तीन भग बन जायगे अर्थात् स्वरूपसे अस्ति है तथापि दोनों अस्तिनास्तिको एक समय रखते हुए अवक्तव्य है। यह अस्ति च अवक्तव्य पाचवा भग हुआ--पर स्वरूपसे नास्ति है तथापि दोनो अस्ति नास्तिको एक समय रखते हुए अवक्तव्य है यह नास्ति च अवक्तव्य नामका छठा भग है। क्रमसे कहते हुए स्वरूपसे अस्ति तथा पर स्वरूपसे नास्ति है तथापि एक समय दोनोंको रखते हुए अवक्तव्य है यह अस्ति नास्ति च अवक्तव्य नामका सातवा भग हुआ। आगे कहते हैं--

विधेय प्रतिषेध्यात्मा विशेष्य शब्दगोचर ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

भावार्थ--जो कोई विशेष्य पदार्थ शब्दसे कहनेमे आनेगा वह साध्य असाध्य स्वरूप अवश्य होगा। जैसे साध्यका स्वभाव अपने लिये तो हेतु है परन्तु परके लिये अहेतु है। जहा अग्निपना साधन करेंगे वहा धूम हेतु है यही हेतु जलपना साधनेमें अहेतु है-हेतु नही है। किसी अपेक्षासे धूम हेतु है, किसी अन्य अपेक्षा धूम अहेतु है। इसी तरह जीव अपने स्वरूपसे साध्य है परन्तु अजीवके स्वरूपसे असाध्य है अर्थात् जीवमें जीवकी अपेक्षा अस्तिपना तथा अजीवकी अपेक्षा नास्तिपना है। ऐसा यदि न हो तथा दोनो एक स्वरूप हो तब न जीव शब्द कह सके न अजीव शब्द कह सक्ते। स्वयभूस्तोत्रमें भी स्वामीने श्री पुष्पदन्त

भगवानकी स्तुति करते हुए कहा है—

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथा प्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥४२॥

भावार्थ–जीवादि पदार्थ अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप हैं तथा पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति रूप हैं। आपके मतमें जो जीवादिका स्वरूप है वह एक समयमें प्रमाण दृष्टिसे अस्ति नास्ति रूप प्रतिभासता है। भिन्न २ अपेक्षासे वस्तु तत् तथा अतत् स्वभावसिद्ध है। अस्ति तथा नास्ति धर्मकी सर्वथा भिन्नता नहीं है। यदि सर्वथा भिन्न माने जावे तो दोनोंकी शून्यता आजावेगी क्योंकि अस्ति विना नास्ति नहीं। नास्ति विना अस्ति नहीं होसके। और यदि दोनोंकी सब तरहसे अभिन्नता या एकता मानी जायगी तब भी दोनोंका अभाव हो जायगा। एक द्रव्यमें रहते हुए अपेक्षाकी भी एकता माननेसे कुछ न रहेगा। इसलिये अस्तिधर्म नास्तिधर्मसे किसी अपेक्षा भेद रूप व किसी अपेक्षा अभेद रूप है। इस स्याद्वाद कथनसे ही अपना आत्मा सर्व अनात्म द्रव्योंसे व सर्व रागादि नैमित्तिक भावोंसे जुदा भासता है और उस आत्माका पृथक् अनुभव होता है। स्याद्वादका प्रयोजन यथार्थ वस्तु स्वभावका ज्ञान प्राप्त करना व अन्यको प्राप्त कराना है।

तात्पर्य यह है कि स्याद्वादके द्वारा यथार्थ स्वरूप समझकर हमें निज हितमें प्रवर्तना योग्य है।

इस तरह सप्तभंगीके व्याख्यानकी गाथाके द्वारा आठवां पूर्ण हुआ। इस तरह जैसा पहले कह चुके हैं पहले एक

नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्यायको कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमय परसमयको दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्यके सत्ता आदि तीन लक्षण होते हैं इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतंत्र गाथा चारसे पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ताको कहते हुए पहली, महासत्ताको कहते हुए दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी इस तरह चार गाथाओंसे सत्ताका लक्षण मुख्यतासे कहा गया। फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको कहते हुए गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्यायको कहते हुए व गुण पर्यायको कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्यके अस्तित्वको स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नामके लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भावको कहते हुए तीसरी, उसीके ही दृढ़ करनेके लिये चौथी इस तरह गाथा चारसे सत्ता और द्रव्य अभेद हैं इसको युक्तिपूर्वक कहा गया। इसके पीछे सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुए पहली, गुण पर्यायोंका द्रव्यके साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वतंत्र गाथाएं दो हैं। फिर द्रव्यके सत् उत्पाद असत् उत्पादका सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथाएं चार हैं। फिर सप्तभंगीको कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदायसे चौवीस गाथाओंके द्वारा आठ स्थलोंसे सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमें सामान्य द्रव्यका वर्णन पूर्ण हुआ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्यके निर्णयके मध्यमें सामान्य भेदकी भावनाकी मुख्यता करके ग्यारह गाथाओं तक व्याख्यान

करते हैं। इसमें क्रमसे पांच स्थान हैं। पहले वार्तिकके व्याख्यानके अभिप्रायसे सांख्यके एकांतका खंडन है। अथवा शुद्ध निश्चयनयसे फल कर्म रूप है शुद्धात्माका स्वरूप नहीं है ऐसी गाथा एक है। फिर इसी अधिकार सूत्रके वर्णनके लिये "कम्मं णाम समक्खं" इत्यादि पाठ क्रमसे चार गाथाएं हैं। इसके आगे रागादि परिणाम ही द्रव्य कर्मोंके कारण हैं इसलिये भाव कर्म कहे जाते हैं इसतरह परिणामकी मुख्यतासे "आदा कम्म मलिमसो" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर कर्मफल चेतना, कर्म चेतना, ज्ञान चेतना इसतरह तीन प्रकार चेतनाको कहते हुए "परिणमदि चदेणाए" इत्यादि तीन सूत्र हैं। फिर शुद्धात्माकी भेद भावनाका फल कहते हुए "कत्ताकरणं" इत्यादि एक सूत्रमें उपसंहार है या संकोच है—इसतरह भेद भावनाके अधिकारमें पांच स्थलसे समुदाय पातनिका है ॥ २४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि नारक आदि पर्याय कर्मके आधीन हैं इससे नाशवंत हैं। इस कारण शुद्ध निश्चयनयसे ये नारकादि पर्यायें जीवका स्वरूप नहीं है ऐसी भेद भावनाको कहते हैं:—

एसोत्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥२५॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ॥ २५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(एसोत्ति णत्थि कोई) कोई भी मनुष्यादि पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो (ण सहावणिव्वत्ता किरिया णत्थि) और रागादि विभाव स्वभावसे होनेवाली क्रिया नहीं है ऐसा नहीं है अर्थात् रागादि रूप क्रिया भी अवश्य है।

(किरियां हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चयसे विना फलके नहीं होती हैं अर्थात् मनुष्यादि पर्यायरूप फलको देती है (जदि परमो धम्मो णिप्फलो) यदि उत्कृष्ट वीतराग धर्म मनुष्यादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित है ।

विशेषार्थ—जैसे टंकोत्कीर्ण (टांकीसे उकेरेके समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस संसारमें मनुष्य आदि पर्यायोंमेंसे कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो । तब क्या मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली संसारकी क्रिया भी नहीं है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया नहीं है ऐसा नहीं है । इन मनुष्यादि चारों गतियोंको उत्पन्न करनेवाली रागादि क्रिया अवश्य है । यह क्रिया शुद्धात्माके स्वभावसे विपरीत होनेपर भी नर नारकादि विभाव पर्यायके स्वभावसे उत्पन्न हुई है । तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी ?–इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप वैभाविक क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमई मोक्षके कार्यको पैदा करनेके लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकारके दुःखोंको देनेवाली अपनी अपनी क्रियासे होनेवाली कार्यरूप मनुष्यादि पर्यायको पैदा करनेके कारण फल सहित है, निष्फल नहीं है—इस रागादि क्रियाका फल मनुष्यादि पर्यायको उत्पन्न करना है । यह बात कैसे मालूम होती है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि वीतराग परमात्माकी प्राप्तिमें परिणमन करनेवाली क्रिया जिसको आगमकी भाषामें परम यथाख्यात चारित्र रूप परमधर्म कहते हैं, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटता रूप

कार्य समयसारको उत्पन्न करनेके कारण फल सहित है तथापि नर नारक आदि पर्यायोंके कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मबंधको नहीं पैदा करती है इसलिये निष्फल है । इससे यह ज्ञात होता है कि नरनारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रियाके फल हैं।

अथवा इस सूत्रका दूसरा व्याख्यान ऐसा भी किया जासक्ता है—कि जैसे शुद्ध निश्चयनयसे यह जीव रागादि विभाव भावोंसे नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नयसे भी नहीं परिणमन करता है ऐसा जो सांख्यमत कहता है उसका निषेध है, क्योंकि जो जीव मिथ्यात्व व रागादि विभावोंमें परिणमन करते हैं उन्हींको नर नारक आदि पर्यायोंकी प्राप्ति है ऐसा देखा जाता है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्य इस बातको स्पष्ट करते हैं कि यह संसारी जीव अपने मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि भावोंके फलसे ही मनुष्यादि पर्यायोंके फलको पाता है । जबतक जिस आयुका उदय रहता है तबतक ही यह जीव किसी मनुष्य या देव आदि पर्यायमें रहता है। ये नरनारकादि पर्यायें नित्य नहीं हैं। इस संसारकी नर नारक देव मनुष्य चारों ही गतिरूप पर्यायें जीवके रागादिभावोंसे बांधे हुए कर्मोंके आधीन हैं। इन रागादि भावोंका कर्ता यह संसारी जीव है। सांख्यमत जैसे इस जीवको सर्वथा रागादिका अकर्ता कहता है सो बात नहीं है । यह जीव परिणमनशील है । जब यह अपने वीतराग परम धर्ममें परिणमन करता है तब यह मनुष्यादि पर्यायोंमें जानेवाले कर्मोंको नहीं बांधता है किन्तु अपने इस परम धर्ममई वीतराग भावसे अरहंत या सिद्ध परमात्मा होजाता है । जब वीतराग भावसे शुद्ध होता है तब रागादिभावोंमें स्वतः

होता है अर्थात् कर्म बांधता है यह बात सिद्ध है । कर्मके फलसे मनुष्यादि गति पाकर सांसारिक दुःखसुखको भोगता है। जैसा कर्मका उदय क्षणिक है वैसे ये नरनारकादि पर्यायें भी क्षणिक हैं।

तात्पर्य यह है कि संसारका भ्रमण अपने ही मिथ्यात्व व रागादि भावोंकी क्रियाका फल है तथा संसारका नाश होकर परमात्मपदका लाभ वीतरागरूप परमधर्मसे होता है ऐसा ज्ञानकर संसारके नाशके लिये वीतराग धर्ममें वर्तन करना योग्य है।

इस कथनसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि यह संसारी जीव अनादिकालसे रागादिरूप परिणमन कर रहा है इसीसे नाना प्रकार कर्मबांध देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें वारवार चक्कर लगाया करता है। जब अपने आत्माके श्रद्धान ज्ञान चरित्रमें तन्मई होगा तब आप ही अपने शुद्ध भावोंसे कर्मबंध काटकर मुक्त हो जायगा। यदि यह विभाव और स्वभावरूप परिणमन करनेकी शक्ति न रखता तो न कभी संसारी रहता और न कभी संसारीसे सिद्ध होता। यह भी झलका दिया है कि वीतरागरूप धर्ममें क्रिया करना संसाररूपी कार्य पैदा करनेके लिये निष्फल है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमें बंध मोक्षके सम्बन्धमें अच्छा वर्णन किया है—

इदमिदमतिरम्यं नेदमित्यादिभेदा—द्विदधति पदमेते रागरोषादयस्ते ।
तदलममलमेकं निष्कलं निष्क्रियस्सन् भज भजसि समाधेः सत्फलं येन नित्यम् ॥ ६६ ॥

तावत्क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद् द्वैतस्य गोचरः ।
अद्वये निष्कले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया ॥ ६७ ॥

अहमहमिद् भावाद् भावना यावदन्तर्भवति भवति बंधस्तावदेषोऽपि नित्यः।
क्षणिकमिदमशेषं विश्वमालोक्य तस्माद्भज शरणमवन्द्यः शान्तये त्वं समाधेः॥८

भावार्थः—यह बहुत रमणीक है, यह बहुत सुन्दर है तथा यह अशोभनीक है, यह कुत्सित है इत्यादि भेदोंके कारण तेरेमें ये रागद्वेषादि अपना पैर रखते हैं इससे आत्मकार्य सिद्ध न होगा। इसलिये तू रागादि क्रियाओंको छोड़कर निष्क्रिय होता हुआ सर्व शरीरादि पर पुद्गलसे रहित निर्मल एक आत्माको भज। इसी उपायसे तू समाधि भावका अविनाशी और सच्चा फल प्राप्त करेगा। जबतक तेरेमें द्वैतभाव हो रहा है अर्थात् तू रागद्वेषमें वर्त रहा है तबतक क्रियाएं हो रही हैं। जब तुझे अद्वैतरूप एक कर्मबन्धादि रहित शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो जावेगी तब तू निष्क्रिय हो जायगा और फिर कहां तेरेमें क्रिया मिल सक्ती है? इस जगतमें मैं ऐसा हूं, मैं ऐसा हूं इस भावसे जबतक अंतरंगमें भावना रहती है तबतक यह बंध बराबर होता रहता है इसलिये तू इस सर्व लोकको क्षणभंगुर देखकर तथा निश्चल एकाग्र होकर अर्थात् पूजा वन्दनाका भाव भी छोड़कर तू शांतिकी प्राप्तिके लिये समाधिकी शरणमें जा ॥२९॥

इस गाथामें यह बता दिया है कि नर नारकादि पर्यायें व उनके कारण रागादि भाव इस आत्माका निज स्वभाव नहीं है— शुद्ध निश्चय नयसे आत्मा इन सर्व अशुद्ध कारण तथा कार्योंसे भिन्न है।

ऐसे प्रथम स्थलमें सूत्ररूप गाथा वर्णन की।

उत्थानिका—आगे इसी सूत्रका विशेष कहते हुए बताते हैं कि मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा पैदा होती हैं—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २६ ॥
कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यंचं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ २६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(अथ) तथा (णामसमक्खं कम्मं) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभावसे (अप्पणो सभावं) आत्माके स्वभावको (अभिभूय) ढककर (णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है।

विशेषार्थः-कर्मोंसे रहित परमात्मासे विलक्षण ऐसा जो नाम नामका कर्म जो नामरहित गोत्ररहित परमात्मासे विपरीत है अपने ही सहभावी ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभावको आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यंच या देवरूपमें कर देता है। यहां यह अर्थ है-जैसे अग्नि कर्त्ता होकर तेलके स्वभावको तिरस्कार करके वत्तीके आधारसे उस तेलको दीपककी शिखारूपमें परिणमन कर देती है तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेलके स्थानमें शुद्ध आत्माके स्वभावको तिरस्कार करके बत्तीके समान शरीरके आधारसे उसे दीपककी शिखाके समान नर, नारकादि पर्यायोंके रूपसे परिणमन कर देती है। इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध अवस्थाके सिवाय और सर्व संसारीक पर्यायें इस जीवके कर्मोंके उदयसे होती हैं। सिद्धगतिरूप पर्याय जब कर्मोंके क्षयसे होती है तब मनुष्यगति, देवगति, पशुगति

नरकगति–मनुष्यादि आयु तथा गति जाति शरीर अंगोपांग स्पर्श आदि नाम कर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे होती हैं। यदि नाम कर्मका उदय न हो तो आत्माके प्रदेशोंमें कोई भी सकम्पपना या हलन-चलन न हो। आकारके पलटनेरूप व्यजन पर्याय जिसमें आत्माके प्रदेश संकोच विस्ताररूप होजाते हैं, नामकर्मके उदयसे ही होती है। यह नाम कर्म अघातिया है—आत्माके ज्ञानादि गुणोका घातक नहीं है परन्तु नाम कर्मके साथमें जो मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्म हैं उनका जितना उदय है उसके कारण आत्माके शुद्ध गुण ढकरहे हैं या कलुषित होरहे हैं। इसलिये यह जीव नाम, गोत्र, वेदनी, आयु इन अघातिया कर्मोंके उदयसे जब मनुष्य आदि शरीरको व उसमें अच्छे या बुरे सम्बन्धोंको प्राप्त करता है तब वहां घातिया कर्मोंका उदय होनेसे आत्माकी शक्ति बहुभाग या अल्पभाग ढकी रहती है। इन घातिया कर्मोंमें मुख्य प्रबल मोह कर्म है। इस मोहके आधीन हो यह अज्ञानी आत्मा रागद्वेष, मोह भावोंको कर लेता है। इन रागादि अशुद्ध भावोंके कारण फिर भी कभी आठ कभी सात प्रकार कर्मोंको बांध लेता है और उन कर्मोंके उदयसे फिर नर, नारकादि गतियोंमें जाता है। वहां फिर अच्छे बुरे संयोग पाकर राग द्वेष मोह करलेता है। इस तरह इस संसारमे अनादिकालसे प्रवाहरूप यह आत्मा कर्मोंको आप ही बांधकर आप ही उसके फलसे चार गतियोंमें दुःख उठाता है। जैसे तेल अग्निके सम्बन्धसे वत्तीके द्वारा दीपकी शिखारूप हो जाता है ऐसे यह संसारी आत्मा कर्मोंके उदयरूप अग्निके संबन्धसे शरीर द्वारा मनुष्यादि

पर्यायरूप प्रगट होता रहता है। यदि अग्निका सम्बन्ध न हो तो तेल अपने द्रवण व सुचिक्कण स्वभावको बिगाड़कर कभी दीपशिखामें परिणमन न करे ऐसे ही जो कर्मोंका बन्ध न हो तो कभी आत्मा मनुष्यादि गतियोंको धारण न करे। वास्तवमें पुद्गल कर्म ही भवभवमें जीवको फिरानेवाले हैं—

श्री समयसारकलशमें श्री अमृतचंद्रजी कहते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः॥
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः॥ १२॥

भावार्थ—इस अनादिकालके महान अज्ञानके नाट्यरूप संसारमें वर्णादिरूप पुद्गल ही नृत्य कररहा है दूसरा कोई नहीं। अर्थात् पुद्गलके निमित्तसे ही जीव संसारचक्रमें घूम रहा है। यदि जीवके यथार्थ स्वभावका विचार करें तो यह जीव रागद्वेषादि पुद्गलके विकारोंसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुकी एक अपूर्व मूर्ति है।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषितरत्नसंदोहमें कर्मोदयकी महिमा बताते हैं—

दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वन्ति मनः क्षतिं नात्र॥३६७॥

भावार्थ—तीन लोकमें सर्व ही जीवोंके जो कुछ सुख या दुःखकी अवस्था होती है सो सर्व कर्मोंके उदयसे होती है, ऐसा जानकर निर्मल बुद्धिवाले कभी मनमें खेद नहीं करते हैं—वस्तुस्वरूप विचारकर समताभाव रखते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्यजीने स्वयंभूस्तोत्रमें भी
अलघ्य शक्तिर्भवितव्यतेयं
अनीश्वरो जंतुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति

भावार्थ–कर्मके उदयकी शक्तिको
जितने कार्य हैं वे बाह्य और अंतरंग निमित्तों
एक अहंकारी पुरुष जिसको कर्मके उदयकी
अपने पुरुषार्थके अहंकारसे पीडित है, सुख
करनेमें सहकारी कारणोंको मिलाकर भी
लाचार हो जाता है। श्री सुपार्श्वनाथ आपने
दिया है। प्रयोजन यह है कि संसारी जी
बांधे हुए कर्मोंके कारण ही चारों गतिमें
संसारके भ्रमणसे बचनेके लिये कर्मबंधके
भावोंको दूर करना चाहिये ॥ २६ ॥

उत्थानिका–आगे शिष्यने प्रश्न
पर्यायोंमें किस तरह जीवके स्वभावका
जीवका अभाव होगया है ? इसका समाधान

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णाम
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः खलु नामकर्मनिर्वृत्ता
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्म

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(
नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायमें तिष्ठनेवाले (
(णाम कम्मणिव्वत्ता) नाम कर्म द्वारा

गए हैं। इस कारण (ते)वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने२ कर्मोंके उदयमें परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभावको निश्चयसे नहीं प्राप्त होते हैं। .

विशेषार्थ—नर, नारक, तिर्यंच, देव ये चारों गतिके जीव अपने अपने नर नारकादि गति शरीर आदि रूप नाम कर्मके उदयसे उन पर्यायोंमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे अपने२ उदय प्राप्त कर्मोंके अनुसार सुख तथा दुःखको भोगते हुए अपने चिदानंदमई एक शुद्ध आत्म स्वभावको नहीं पाते हुए रहते हैं। जैसे माणिक्य रत्न सुवर्णके कंकणमें जड़ा हुआ अपने माणिक्यपनेके स्वभावको पूर्णपने नहीं प्रगट करता हुआ रहता है उस समय मुख्यता कंकणकी है, माणिक्य रत्नकी नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावकी मात्र अप्रगटता है। जीवका अभाव नहीं होजाता है। अथवा यह मान लेना चाहिये कि जैसे जलका प्रवाह वृक्षोंके सींचनेमें परिणमन करता हुआ चंदन व नीम आदि वनके वृक्षोंमें जाकर उन रूप मीठा, कडुवा, सुगंधित, दुर्गंधित होता हुआ अपने—जलके कोमल, शीतल, निर्मल स्वभावको नहीं रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षोंके स्थानमें कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन करता हुआ-परमानन्दरूप एक लक्षणमई सुखामृतका स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणोंको नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि कर्मोंके उदयके कारणसे जीवका अभाव नहीं होता न उसके भीतर पाए जानेवाले गुणोंका अभाव होता है। कर्मोंके उदयके असरसे वे गुण प्रगट नहीं होते। ये संसारी जीव नामकर्मके उदयसे ही एक

श्री समन्तभद्राचार्यजीने स्वयंभूस्तोत्रमें भी कहा है—

अलंघ्य शक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जंतुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

भावार्थ-कर्मके उदयकी शक्तिको लांघना बहुत कठिन है। जितने कार्य हैं वे बाह्य और अंतरंग निमित्तोंके होनेपर होते हैं। एक अहंकारी पुरुष जिसको कर्मके उदयकी अपेक्षा नहीं है केवल अपने पुरुषार्थके अहंकारसे पीडित है, सुख आदिके लिये कार्योंको करनेमें सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्यमें असफल होकर लाचार हो जाता है। श्री सुपार्श्वनाथ आपने ऐसा यथार्थ उपदेश दिया है। प्रयोजन यह है कि संसारी जीव अपने ही भावोंसे बांधे हुए कर्मोंके कारण ही चारों गतिमें भ्रमण करते हैं इस लिये संसारके भ्रमणसे बचनेके लिये कर्मबंधके कारण राग, द्वेष, मोहादि भावोंको दूर करना चाहिये ॥ २६ ॥

उत्थानिका-आगे शिष्यने प्रश्न किया कि नरनारकादि पर्यायोंमें किस तरह जीवके स्वभावका तिरस्कार हुआ है। क्या जीवका अभाव होगया है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णाम कम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥ २७ ॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः ।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि ॥ २७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायमें तिष्ठनेवाले (जीवा) जीव (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नाम कर्म द्वारा उन गतियोंमें रचे

गए हैं। इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने२ कर्मोंके उदयमें परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभावको निश्चयसे नहीं प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—नर, नारक, तिर्यञ्च, देव ये चारों गतिके जीव अपने अपने नर नारकादि गति शरीर आदि रूप नाम कर्मके उदयसे उन पर्यायोंमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे अपने२ उदय प्राप्त कर्मोंके अनुसार सुख तथा दुःखको भोगते हुए अपने चिदानंदमई एक शुद्ध आत्म स्वभावको नहीं पाते हुए रहते हैं। जैसे माणिकका रत्न सुवर्णके कंकणमें जड़ा हुआ अपने माणिक्यपनेके स्वभावको पूर्णपने नहीं प्रगट करता हुआ रहता है उस समय मुख्यता कंकण-की है, माणिक्य रत्नकी नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावकी मात्र अप्रगटता है। जीवका अभाव नहीं होजाता है। अथवा यह भाव लेना चाहिये कि जैसे जलका प्रवाह वृक्षोंके सींचनेमें परिणमन करता हुआ चंदन व नीम आदि वनके वृक्षोंमें जाकर उन रूप मीठा, कडुवा, सुगंधित, दुर्गंधित होता हुआ अपने—जलके कोमल, शीतल, निर्मल स्वभावको नहीं रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षोंके स्थानमें कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन करता हुआ-परमानन्दरूप एक लक्षणमई सुखामृतका स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणोंको नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि कर्मोंके उदयके कारणसे जीवका अभाव नहीं होता न उसके भीतर पाए जानेवाले गुणोंका अभाव होता है। कर्मोंके उदयके असरसे वे गुण प्रगट नहीं होते। ये संसारी जीव नामकर्मके उदयसे ही एक

शरीरमें आकर अपने साथ बंधे हुए आठ प्रकारके कर्मोंके उदयके अनुसार कर्मोंका फल सुख दुःख भोगते हैं। उस दशामें जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी हैं उनको अपने स्वभावका श्रृद्धान तक नहीं होता है, परन्तु जो योग्य कारणोंको पाकर सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हो जाते हैं उनको अपने स्वभावका लाभ हो जाता है। वे श्रृद्धावान व ज्ञानवान होकर अपने आत्मानन्दका अनुभव भी करते हैं तथा चारित्रको बढ़ाते हुए वे चार घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञानी अर्हंत परमात्मा हो जाते हैं-वहां उनको साक्षात् आत्माका लाभ हो जाता है, क्योंकि इस अनन्तानन्त संसारी जीवराशिमें सम्यग्दृष्टी बहुत थोड़े होते हैं इससे बहुतकी अपेक्षा लेकर आचार्यने कहा है कि चार गतिके जीव कर्मोंके उदयमें तन्मय होते हुए तथा कभी अपनेको सुखी व कभी दुःखी मानते हुए आकुलित रहते हैं-तब वे अपने आत्माके शुद्ध स्वभावको न पाते हुए संसार भ्रमणके कारण-बीज रूप रागद्वेष मोह भावोंका अन्त नहीं कर पाते हैं। ऐसी दशामें यद्यपि अनादिकालसे जीव मिथ्यादृष्टी व अज्ञानी हैं तथापि जीवके स्वाभाविक गुणोंका अभाव जीवकी सत्तासे नहीं होजाता है। सर्व ही ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण आत्मामें ही रहते हैं परंतु उनके ऊपर ज्ञानावरणीय आदि घातिया कर्मोंका परदा ऐसा पड़ जाता है कि जिसके कारण इन गुणोंका औपाधिक या हीन शक्तिरूप प्रगटपना रहता है। कर्मोंमें यह शक्ति नहीं है कि जीवके गुणोंका सर्वथा नाश करके उसको गुण रहित अवस्तु करदें। जैसे एक अच्छा भला आदमी भंगको पीकर कुछ कालके लिये मदोन्मत्त होजाता है परंतु जब भंगका नशा उतर जाता है तब

फिर जैसाका तैसा समझदार होकर अपना काम करने लगता है। वैसेही अनादिकालसे मोहके नशेमें चूर यह आत्मा अपने विभावमें वर्तन कर रहा है, मोहका नशा उतरते ही अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। वृत्तिकारने दो दृष्टान्त दिये हैं-एक तो माणिकरत्नका-यह रत्न किसी अंगूठीमें जड़ा हुआ अपने कुछ भागको मात्र छिपा देता है। जब उसको अंगूठीसे अलग करो तब फिर वह सर्वांग स्वभावमें झलकता है, इसी तरह कर्म बन्धनमें पड़ा हुआ यह आत्मा अपने स्वभावको छिपाए रहता है। बन्धके हटते ही स्वभाव जैसेका तैसा प्रगट होजाता है। दूसरा पानीका, कि पानी स्वभावसे शीतल मीठा व निर्मल होता है परन्तु नीममें जाकर अपने स्वभावको छिपाकर कडुवा, नींबूमें जाकर खट्टा, आंवलेमें जाकर कषायला, ईखमें जाकर बहुत मीठा इत्यादि रूप हो जाता है। कोई प्रयोग करे तो वही पानी फिर अपने स्वभावमें आसक्ता है। इसी तरह यह संसारी जीव जो स्वभावसे सिद्ध भगवानके समान है कर्मोंके मध्यमें पड़ा हुआ अज्ञानी व रागी द्वेषी हो रहा है। कर्मोके संयोगके दूर होते ही फिर स्वभावमें शुद्ध होजाता है। इससे यही सिद्ध किया गया कि कर्म हमारे स्वभावको तिरस्कार कर देते हैं परन्तु अभाव नहीं कर सक्ते हैं। श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं—कि यह प्राणी अपनी मूलसे ही संसारमें भ्रमण कर रहा है।

मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे ।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽ योऽहमस्ति न ॥ २४३ ॥

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणाः ॥ २५४ ॥

अनादिचयसबद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्द्ध्व विशुद्ध्यति ॥ २५५ ॥

भावार्थ—यह भ्रममें पड़ा हुआ प्राणी अपनेको दूसरा—दूसरेको अपना मानकर संसारसमुद्रमें गोते खा रहा है। मैं वास्तवमें अन्य नहीं हूं, मैं मैं ही हूं, अन्य अन्य ही है, अन्य मेरे रूप नहीं है यही बुद्धि अपना उद्धार करनेवाली है। मैं इस शरीरके संयोगसे उसी तरह संतापित रहा हूं जिस तरह अग्निके संयोगसे जल तप्त होजाता है। मोक्षके इच्छुकोंने इस देहके ममत्वको त्यागा है तब वे शांत हुए हैं। हृदयमें अनादिकालका संबद्ध किये हुए महामोहरूपी पिशाच चला आया है। जिन्होंने सम्यक् प्रकार ध्यानके बलसे उसे अन्त कर दिया है उनको पूर्ण शुद्धता प्राप्त हो जाती है।

स्वामी समंतभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें श्री अनंतनाथकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥६६॥

भावार्थ—अनादिकालसे अनंत दोषोंके स्थान रूप शरीरको रखनेवाला जो मोह रूपी पिशाच हृदयमें वास कररहा था उसीको आपने तत्वकी रुचिमें प्रसन्नता लाभ करके जीत लिया इसीलिये हे भगवान ! आप अनंतजित हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्मोसे हमारा स्वभाव ढक रहा है उसीकी प्रगटता मोहके त्यागसे होने लगती है जिसका उपाय हमको करना चाहिये ॥ २७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि द्रव्यकी अपेक्षा जीव नित्य है तथापि पर्यायकी अपेक्षा विनाशीक या अनित्य है—

जायदि णेव ण णस्सदि, खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ, संभवविलयत्ति ते णाणा ॥२८॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभंगसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भवः सो विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(खणभंगसमुब्भवे जणे) क्षण क्षणमें नाश होनेवाले लोकमें (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है । कारण (जो हि भवो सो विलओ) जो निश्चयसे उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है । (ते संभव विलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश अवश्य भिन्न २ हैं ।

विशेषार्थ–क्षण क्षणमें जहां पर्यायार्थिक नयसे अवस्थाका नाश होता है ऐसे इस लोकमें कोई भी जीव द्रव्यार्थिक नयसे न नया पैदा होता है न पुराना नाश होता है । इसका कारण यह है कि द्रव्यकी अपेक्षा जो निश्चयसे उपजा है वही नाश हुआ है। जैसे मुक्त आत्माओंका जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवल ज्ञानादिरूप मोक्षकी अवस्थासे उत्पन्न होना है सो ही निश्चय रत्नत्रयमई निश्चय मोक्ष मार्गकी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होना है । वे मोक्ष पर्याय और मोक्ष मार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूपसे परस्पर भिन्न २ हैं तथापि इन पर्यायोंका आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है अन्य नहीं है । अथवा जैसे मिट्टीके पिंडके नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी वही है । अथवा मनुष्य पर्यायको नष्ट होकर देव पर्यायको पाते हुए इन दोनोंका आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है ।

पर्यायार्थिक नयसे विचार करें तो वे उत्पाद और व्यय परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे पहली कही हुई बातमें जो कोई मोक्ष अवस्थाका उत्पाद है तथा मोक्षमार्गकी पर्यायका नाश है ये दोनों ही एक नहीं हैं किन्तु भिन्न२ हैं। यद्यपि इन दोनोंका आधाररूप परमात्म द्रव्य भिन्न नहीं है अर्थात् वही एक है--इससे यह जाना जाता है कि द्रव्यार्थिक नयसे द्रव्यमें नित्यपना होते हुए भी, पर्यायकी अपेक्षा नाश है।

भावार्थ--इस गाथामें आचार्यने जगतमें द्रव्योंका स्वभाव स्पष्ट किया है हरएक द्रव्य सत् है और नित्य है। न कभी पैदा होता है न नाश होता है। इसलिये जब द्रव्यको द्रव्यार्थिक नयसे देखा जावे तब यह द्रव्य सदाकाल अपनी सत्ताको प्रगट करेगा और यदि उस द्रव्यको पर्यायकी अपेक्षासे देखा जावे तो वह द्रव्य अपनी अनंत अगली व पिछली पर्यायोंमें भिन्न २ दिखलाई देगा क्योंकि द्रव्य नित्य होने पर भी समय समय एक अवस्थासे अन्य अवस्था रूप होता है।

ये पर्यायें हरएक समयमें ही नष्ट होती हैं। जब दूसरी पर्याय पैदा होती है तब पहली पर्याय नष्ट होती है। पर्यायदृष्टिसे द्रव्य अनित्य है। यह सर्व लोक द्रव्योंका समुदाय है। जब द्रव्योंकी पर्यायें अनित्य या विनाशीक हैं तब यह लोक भी अनित्य, विनाशीक, या क्षणभंगुर है।

इसी तरहसे हरएक जीव भी द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है परन्तु पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। एक ही जीव अनादिकालसे निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वेन्द्रिय,

तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेंद्रियरूप तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकीकी पर्यायोंमें अनन्तवार उत्पन्न होकर मरा है वही जीव इस समय इस मेरी मनुष्यपर्यायमें है। यहां भी यह बाल अवस्थासे बदलता युवा वस्थामें आता है फिर युवावस्थासे वृद्धावस्थामें समय समय बदलता जारहा है। इसकी हरएक पर्याय क्षणभंगुर है जब कि जीव नित्य है। मोक्षपर्याय या सिद्धपर्याय जब पैदा होती है तब ही संसार पर्याय जो चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानके अंत समयमें जहां शेष तेरह प्रकृतियें नाश होती हैं–समाप्त होती है। अर्थात मोक्षमार्ग बदलकर मोक्षरूप पर्याय हो जाती है। पुद्गलमें यदि सुवर्ण धातुको द्रव्य माना जावे तो उस सुवर्णके पहले कड़े बनाओ, फिर तोडकर भुजबंध बनाओ फिर मुद्रिका बनाओ इत्यादि चाहे जितनी अवस्थाओंमें बदलो वह सुवर्णका सुवर्ण ही रहेगा। सुवर्णकी अपेक्षासे नित्य है यद्यपि अपनी अवस्थाको बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। द्रव्यकी अपेक्षा हरएक द्रव्यकी पर्यायमें एकता है जब कि पर्यायकी अपेक्षा अनेकता या भिन्नता है। ऐसा ही जगतका स्वभाव है। यह पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। जो कुछ रचना नगर मकान, कपड़े, वर्तन आदिकी व चेतन पुरुष, स्त्री, घोड़ा, हाथी, ऊंट, बंदर, आदिकी देख रहे हैं सो सब क्षणभंगुर हैं–इन अवस्थाओंको नित्य मानना अज्ञान है व इनके मोहमें फंस जाना मूढ़ता या मिथ्यात्व है। मोही प्राणी इन ही अवस्थाओंमें राग करके इनका बना रहना चाहता है परन्तु वे एकसी रह नहीं सक्ती हैं–अवश्य बदल जाती हैं तब इस मोहीको महा कष्ट होता है। एक गृहस्थ अपनी पत्नीके शरीरकी सुन्दरतासे अधिक मोह कर रहा

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे ।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा दु) इसी कारणसे (संसारे) इस संसारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (संसरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (संसारो) संसार है।

विशेषार्थः–जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे ही यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमें परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस संसार रहित शुद्धात्मासे विपरीत संसारमें नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण संसारमें भ्रमण करते हुए इस संसारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमें परिणमन रूप क्रिया है सो ही संसारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगतके नाशमें कारण है।

भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि इस जगतमें द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य है परंतु पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य हैं। इसी बातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमें भ्रमण रूप संसारमें कोई भी जीव अपने स्वभावमें स्थिर नहीं है। वास्तवमें संसार

है। कालांतरमें रोगके कारण सुन्दरता बिगड़ जाती या शरीर छूट जाता है तब उसको महान कष्ट होता है। संसारमें दुःखोंका कारण पर्यायोंमें राग द्वेष मोह है। जो ज्ञानी जगतकी क्षणभंगुरताका निश्चय करके द्रव्यको नित्य मानते हुए उसकी पर्यायोंको विनाशीक मानते हैं वे दिखनेवाली अवस्थाओंमें रागद्वेष नहीं करके समता-भाव रखते हैं इसलिये वे ज्ञानी सदा शांत और संतोषी रहते हैं। यह जगत उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है यही सत्य ज्ञान है। स्वामी समंतभद्र श्री मुनिसुव्रतनाथकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

स्थितिजननिरोधलक्षणं, चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलांछनं, वचनमिदं वदतां वरस्य ते ॥११४॥

हे मुनिसुव्रतनाथ जिनेन्द्र ! आप तत्त्वके उपदेशकर्ताओंमें बड़े हैं। आपका जो यह वचन है कि यह चेतन अचेतनरूप जगत प्रतिक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप है सोही इस बातका लक्षण है कि आप सर्वज्ञ हैं—सर्वज्ञने ऐसा ही देखा सो ही कहा, वैसा ही हम इस जगतको अनुभव कर रहे हैं ॥ २८ ॥

तात्पर्य यह है कि पर्यायबुद्धि छोड़कर मूल द्रव्यपर ध्यान रख पर्यायोंमें रागद्वेष त्याग तत्वके विचारमें संलग्न रहना चाहिये।

उत्थानिका—आगे इस विनाश स्वरूप जगतके लिये कारण क्या है उसको संक्षेपमें कहते हैं अथवा पहले स्थलमें अधिकार सूत्रसे जो यह सूचित किया था कि मनुष्यादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे हुई हैं इससे विनाशीक हैं इसी ही बातको तीन गाथाओंसे विशेष करके व्याख्यान किया गया अब उसीको संकोचते हुए कहते हैं—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे ।
ससारः पुनः क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा दु) इसी कारणसे (संसारे) इस ससारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (ससरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (संसारो) संसार है।

विशेषार्थ–जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे ही यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमें परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस ससार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमे नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण ससारमे भ्रमण करते हुए इस ससारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमे परिणमन रूप क्रिया है सो ही संसारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगतके नाशमे कारण है।

भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि इस जगतमे द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य है परंतु पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। इसी वातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमें भ्रमण रूप ससारमें कोई भी जीव अपने स्वभावमे स्थिर नहीं है। वास्तवमें संसार

ही उसीको कहते हैं जहां यह जीव द्रव्य मनुष्यादि पर्यायोंको धारण करकर उन पर्यायोंके अनुकूल कार्य करता रहे। संसार ही विभाव क्रिया रूप है। यह जीव अनादिसे रागद्वेष मोहरूप परिणमन करता है इसी परिणमनसे गति आदि शुभ अशुभ कर्म बांधता है और उस कर्मके अनुसार चार गतिमेंसे किसी गतिमें कुछ कालके लिये जाता है। वहां फिर रागद्वेष मोहके द्वारा गति आदि कर्म बांधता है उस कर्मके अनुसार फिर किसी गतिमें चला जाता है, वहां फिर कर्म बांधता है, इस तरह संसारका प्रवाह बराबर चल रहा है। यह संसार रागद्वेष मई क्रियारूप है। जहां रागद्वेष रूप क्रियाका बिलकुल अभाव है वहां संसारका भी अभाव है। मुक्तात्मामें रागद्वेष रूप क्रिया नहीं होती है। इसीसे सिद्ध भगवान सदाकाल अपने वीतराग परमानंदमई स्वभावमें स्थिर रहते हैं। वे कर्मबंध रहित हैं इसीसे क्रिया रहित हैं। संसारी जीव कर्मबंध सहित हैं, इसीसे क्रिया रूप हैं। इससे यह तात्पर्य है कि रागद्वेष मोहरूप क्रिया ही संसारके भ्रमणका हेतु है। वास्तवमें इसी रागद्वेष मोहके परिणमनको ही संसार कहते हैं। इसलिये निज अविनाशी ज्ञानानंदमई स्वभावके लाभके लिये हमको राग द्वेषके परिणमनको त्यागकर वीतरागमई समताभावमें ही वर्तन करना चाहिये। यही वर्तन संसारके नाशका उपाय है। स्वामी समंतभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें संसारका स्वरूप कहते हैं:—

अनित्यमत्राणमहं क्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसाय दोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्त निरंजनां शांतिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

हे श्री संभवनाथ ! यह प्रतीतिमें आनेवाला संसार अनित्य

है तथा अशरण है और इस अहंकारके कारण कि मैं पर पदार्थका कर्ता हूं मिथ्या अभिप्रायके दोषसे भरा हुआ है अर्थात् संसारी जीव अनित्य और अशरण होकरके भी रातदिन धनादिके उपार्जन, रक्षण आदि अहंकार रूप मिथ्या भावमें अत्यन्त लगे हुए हैं इसीसे यह जगत् अर्थात् जगतके प्राणी जन्म, जरा मरणसे पीड़ित हैं परन्तु आपने कर्मोंके बन्धनसे रहित परम शांतिरूप कल्याणके स्थान स्वाधीन पदको जगतके प्राणियोंको प्राप्त कराया है अर्थात् आपका उपदेश ध्यानमें लेकर अनेक संसारी प्राणी भवसागरके पार पहुंचकर परम सुखी होगए हैं।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें संसारका स्वरूप बताते हैं।

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्मणो ।
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बंधनम् ॥
निद्राविश्रमणं मृते प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं ।
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्र महत् ॥५८॥

हे संसारी प्राणी! यह संसार ऐसा है कि जहां तू शरीरसे एकमेक होरहा है, पाप कर्मोंके फलको भोगता है। समय २ स्वयं कर्मोंकी प्रकृतियोंसे अच्छी तरहसे बन्धनमें पड़ना यही तेरा व्यापार है। निद्रासे विश्रांति लेता है। मरणसे सदा भय करता है तौभी जहां सदा जन्म मरण होता रहता है तथापि तू ऐसे संसारमें रमता है यही बड़ा आश्चर्य है।

प्रयोजन यह है कि संसारको कष्टोंका मूल जानकर इससे उदासीन होना योग्य है॥ २९॥

इस तरह शुद्धात्मासे भिन्न कर्मोंसे उत्पन्न मनुष्यादि पर्याय

नाशवंत हैं इस कथनकी मुख्यतासे चार गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि संसारका कारण ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म है और इस द्रव्य कर्मके बंधका कारण मिथ्या-दर्शन व राग आदि रूप परिणाम है–

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥३०॥

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसयुक्तम् ।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः ॥३०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(आदा कम्ममलिमसो) आत्मा द्रव्य कर्मोसे अनादि कालसे मेला है इसलिये (कम्मसंजुत्तं परिणामं) मिथ्यात्व आदि भाव कर्म रूप परिणामको (लहदि) प्राप्त होता है । (तत्तो) उस मिथ्यात्व आदि परिणामसे (कम्मं सिलिसदि) पुद्गल कर्म जीवके साथ बंध जाता है (तम्हा) इसलिये (परिणामो) मिथ्यात्व व रागादि रूप परिणाम (कम्मं तु) ही भाव कर्म है अर्थात् द्रव्य कर्मके बन्धका कारण है ।

विशेषार्थ–निश्चय नयसे यह दोष रहित परमात्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला होनेपर भी व्यवहार नयसे अनादि कर्म बन्धके कारण कर्मोसे मेला होरहा है। इसलिये कर्मरहित परमात्मासे विरुद्ध कर्म सहित मिथ्यात्व व रागादि परिणामको प्राप्त होता है–इस परि-णामसे द्रव्य कर्मोंको बांधता है । और जब निर्मल भेद विज्ञानकी ज्योतिरूप परिणाममें परिणमता है तब कर्मोसे छूट जाता है, क्योंकि रागद्वेष आदि परिणामसे कर्म बंधता है। इसलिये राग आदि विकल्परूप

जो भाव कर्म या सराग परिणाम सो ही द्रव्य कर्मोंका कारण होनेसे उपचारसे कर्म कहलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बंधका कारण है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने संसारके बीजको बताया है। यह आत्मा इस अनादि अनंत जगतमें यद्यपि अपने स्वभावकी अपेक्षा निश्चय नयसे सिद्ध परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध आनन्दमई तथा कर्मबंधसे रहित है तथापि अपने विभावकी अपेक्षा व्यवहार नयसे अनादि कालसे ही प्रवाहरूप कर्मोंसे मैला चला आरहा है। कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा कभी नहीं होसक्ता है। शुद्ध सुवर्ण अशुद्ध नहीं होसक्ता वैसे ही मुक्तात्मा या परमात्मा कभी अशुद्ध अथवा संसारी नहीं होसक्ता। इस संसारी आत्माके ज्ञानावरण आदि आठ कर्मका वन्ध होरहा है। और इन्हीं कर्मोंके उदय या फलसे यह संसारी जीव देव, मनुष्य, पशु या नरक इन चार गतियोंमेंसे किसी न किसी गतिमें अवश्य रहता है। वहां जैसे वाहरी निमित्त होते हैं उनके अनुकूल यह मोही जीव रागद्वेप मोह भाव करता है। यह रागद्वेप मोह भाव भी मोह कर्मके असरसे होता है। यह अशुद्ध भाव उसी समय द्रव्य कर्म वर्गणाओंको आश्रव रूप करके आत्माके प्रदेशोंसे उनका एक क्षेत्रावगाह रूप वन्ध करा देता है। यह निमित्त नैमित्तिक संबंध है। जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर जल स्वयं भापकी दशामें बदल जाता है ऐसे ही जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं आकर कभी आठ कर्म रूपसे व कभी सात कर्म रूपसे बंध जाती हैं।

इस तरह पूर्वबद्ध कर्मके असरसे रागादि परिणाम होते हैं और रागादि भावसे नया कर्म बन्धता है। इस तरह रागी द्वेषी मोही जीवके सदा ही कर्मबंध हुआ करता है और उस बंधके कारण यह जीव चारो गतियोमें सदा भ्रमण किया करता है। यदि यह सम्यग्दर्शनके प्रतापसे विवेक प्राप्त करे और अपने शुद्ध आत्माके स्वभावका श्रद्धान और ज्ञान करके उसीके अनुभवका प्रेमी होजावे तथा संसार शरीर भोगसे उदासीन रहे तो इसके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होने लगती है। ज्यों ज्यों शुद्ध भाव बढ़ते हैं निर्जरा अधिक होती है, नया कर्मबंध कम होता है। इसतरह बंध कम व निर्जरा अधिक होते होते यह आत्मा स्वयं अरहंत और फिर सर्व कर्मरहित सिद्ध परमात्मा होजाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वीतरागभाव मुक्तिका बीज है तब सरागभाव संसारका बीज है। सरागभावको ही कर्मोंके बंधका कारण होनेसे भावकर्म कहते हैं।

श्री अमृतचंद्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है —

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसंतत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ—अनादि परिपाटीसे नित्य ज्ञानावरणादि कर्मोंसे परिणमता हुआ अर्थात उनके उदयको भोगता हुआ यह जीव अपने ही रागादि परिणामोंका आप ही कर्त्ता और भोक्ता होता है तब इस जीवके किये हुए रागादि परिणामका निमित्त पाकर फिर दूसरे इस लोकमें भरे हुए कर्म पुद्गल आप ही कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

रागद्वेषमयो जीव कामक्रोधवश यत ।
लोभमोहमदाविष्ट, ससारे ससरत्यसौ ॥ २४ ॥

भावार्थ—क्योंकि यह जीव रागद्वेष मई होरहा है, काम तथा क्रोधके आधीन है, लोभ, मोह व मदसे घिरा हुआ है इसीसे ससारमें भ्रमण करता है ।

अनादिकालजीवेन प्राप्त दु ख पुन पुन ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्तिना ॥ ४८ ॥

भावार्थ—इस मिथ्या मोह और कषायोंके आधीन होकर इस जीवने अनादिकालसे वार वार दु ख उठाये हैं ।

वास्तवमें भाव कर्म ही ससारके बीज हैं ॥३०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि निश्चयसे यह आत्मा अपने ही परिणामका कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है। अथवा दूसरी उत्थानिका यह है कि शुद्ध पारिणामिक परम भावको ग्रहण करनेवाली शुद्धनयसे जैसे यह जीव अकर्ता है वैसे ही अशुद्ध निश्चय नयसे भी साख्य मतके कहे अनुसार जीव अकर्ता है। इस बातके निषेधके लिये तथा आत्माके बन्ध व मोक्ष सिद्ध करनेके लिये किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते हैं। इस तरह दो उत्थानिका मनमें रखके आगेका सूत्र आचार्य कहते हैं—

परिणामो सयमादा सा पुण किरियत्ति होइ जीवमया ।
किरिया कम्मत्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥३१॥

परिणाम स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥ ३१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वयं आत्मा है (पुण सा जीवमया किरियत्ति होइ) तथा वही परिणाम जीवसे की हुई एक क्रिया है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसीको जीवका कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है ।

विशेषार्थ-आत्माका जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योंकि परिणाम और परिणाम करनेवाला दोनों तन्मयी होते हैं । इस परिणामको ही क्रिया कहते हैं क्योंकि यह परिणाम जीवसे उत्पन्न हुआ है । जो क्रिया जीवने स्वाधीनतासे शुद्ध या अशुद्ध उपादान कारण रूपसे प्राप्त की है वह क्रिया जीवका कर्म है यह सम्मत है । यहां कर्म शब्दसे जीवसे अभिन्न चैतन्य कर्मको लेना चाहिये । इसीको भाव कर्म या निश्चय कर्म भी कहते हैं । इस कारण यह आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है । यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीवके कर्तापना है तथापि निश्चयसे यह जीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, व्यवहार मात्रसे ही पुद्गल कर्मोंका कर्त्ता कहलाता है । इनमेंसे भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूपसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमन करता है तब मोक्षको साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूपसे परिणमता है तब बन्धको साधता है । इसी तरह पुद्गल भी जीवके समान निश्चयसे अपने परिणामोंका ही कर्ता है । व्यवहारसे जीवके परिणामोंका कर्त्ता है, ऐसा जानना ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि-आत्मा

अपने परमाणोंका ही करनेवाला होसक्ता है-वह कभी भी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा चैतन्यमई है जब कि द्रव्य कर्म पुद्गलके रचे हुए हैं। हरएक द्रव्य अपने स्वभावमें ही क्रिया या परिणमन कर सक्ता है और जो परिणमन होता है उसीको उस परिणमन रूप क्रियाका कर्म कहते हैं। जैसे जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलमई कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप स्वयं अपनी परिणमन शक्तिसे परिणमन कर जाती हैं वैसे ही मोहनीय कर्मके उदयके असरके निमित्तसे जीवका उपयोग राग द्वेष मोह रूप परिणमन कर जाता है। इसलिये अशुद्ध उपादान या अशुद्ध निश्चय नयसे इन रागादि भावोंको जीवके परिणाम कहते हैं-ये ही भाव जीवकी अशुद्ध परिणमन क्रियासे उत्पन्न हुए भाव कर्म हैं। यदि शुद्ध उपादान या शुद्ध निश्चय नयसे विचार करें तो यह आत्मा कर्मके उदयके निमित्तकी अपेक्षा विना अपने शुद्ध उपयोगका ही करनेवाला है। वास्तवमें आत्मामें दो प्रकारके भावोंके होनेकी शक्ति है-एक अपने स्वाभाविक भाव, दूसरे नैमित्तिक या वैभाविक भावकी। जब ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयका निमित्त होता है तब वैभाविक भाव रूप कर्म होता है और जब कर्मोंका निमित्त नहीं होता तब स्वाभाविक ज्ञानानंद मई भावरूप कर्म होता है। यदि सांख्यमतके अनुसार ऐसा माना जावे कि आत्मा सदा ही शुद्ध रहता है-उसमें नैमित्तिक भाव नहीं होता है तो आत्माके लिये संसारको दूरकर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न निष्फल हो जायगा। कूटस्थ नित्य पदार्थमें किसी तरहका परिणमन नहीं होसक्ता है। सो यह बात द्रव्यके स्वभावके विरुद्ध है,

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वयं आत्मा है (पुण सा जीवमया किरियत्ति होइ) तथा वही परिणाम जीवसे की हुई एक क्रिया है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसीको जीवका कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है ।

विशेषार्थ-आत्माका जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योंकि परिणाम और परिणाम करनेवाला दोनों तन्मयी होते हैं । इस परिणामको ही क्रिया कहते हैं क्योंकि यह परिणाम जीवसे उत्पन्न हुआ है । जो क्रिया जीवने स्वाधीनतासे शुद्ध या अशुद्ध उपादान कारण रूपसे प्राप्त की है वह क्रिया जीवका कर्म है यह सम्मत है । यहां कर्म शब्दसे जीवसे अभिन्न चैतन्य कर्मको लेना चाहिये । इसीको भाव कर्म या निश्चय कर्म भी कहते हैं । इस कारण यह आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है । यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीवके कर्तापना है तथापि निश्चयसे यह जीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, व्यहार मात्रसे ही पुद्गल कर्मोंका कर्ता कहलाता है । इनमेंसे भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूपसे शुद्धोपयोग रूपसे परिणमन है तब मोक्षको साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूपसे णमता है तब बन्धको साधता है । इसी तरह पुद्गल भी समान निश्चयसे अपने परिणामोंका ही कर्ता है । . . . परिणामोंका कर्त्ता है, ऐसा जानना ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है

इस लिये ध्यान करनेवालोंको उचित है कि वे इन कामादि भाव कर्मोंको दूरसे ही त्याग देवें। और भी कहा है–

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं ।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणी ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनां ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ–हे आत्मन्! तू सर्वथा पापकर्मको लानेवाली इस कल्पनाको छोड कि मैं शूर हूं, सुबुद्धि हूं, चतुर हूं, महान् लक्ष्मीवान हूं, मान्य हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं, सब पुरुषोंमें मुख्य हूं और निरन्तर उस निर्मल आत्म-तत्वका ध्यानकर जिसके प्रतापसे मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंधके कारण हैं उन्हींका कर्त्ता जीव है, इस कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिस परिणामसे आत्मा परिणमन करता है वह परिणाम क्या है–

परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३२॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता ।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आदा) आत्मा (चेयणाए) चेतनाके स्वभाव रूपसे (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई

द्रव्य अपने नामसे ही द्रवणपने या परिणमनपनेको सिद्ध करता है। जैसे स्फटिक मणिको लाल पीले डांकका निमित्त मिलता है तब वह स्वयं लाल पीली वर्णरूप कांतिमें परिणमन कर जाती है और जब कोई पर निमित्त नहीं होता है तब अपनी निर्मल कांतिमें ही परिणमन करती है। इसी तरह आत्मा मोह आदि कर्मोंके निमित्तसे भाव कर्म रूप परिणमता है। यदि निमित्त न हों तो अपने शुद्ध भावमें ही परिणमन करता है। आत्माके ही अशुद्ध रागादि भावोंका निमित्त पाकर द्रव्य कर्मका बंध होता है जिससे यह जीव चारों गतियोंमें जन्म लेकर कष्ट उठाता है। संसारके बीज रागादिभाव कर्म्म हैं। इन बीजोंको दग्ध कर देनेसे ही जीव संसारके भ्रमणसे मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस आत्माको अपने रागादि भावोंके परिणमनको वीतराग परिणमनमें बदल देना चाहिये। यही साम्यभावकी प्राप्तिका या निज स्वरूपाचरण चारित्रकी प्राप्तिका उपाय है।

श्री अमितिगति महाराजने बड़े सामायिक पाठमें कहा है:—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः
शुद्धध्यानविवृद्धकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते ॥
काठिन्यं परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यानविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ॥५३॥

भावार्थ-जैसे आताप देनेमें प्रवीण अग्निके द्वारा सुवर्णकी कठिनता नहीं रहती है—वह मुलायम व चलायमान हो जाता है, ऐसे ही काम, क्रोध, विषाद, मत्सर, मद, द्वेष व प्रमादादि कार-
ी थिरता नष्ट हो जाती है।

इस लिये ध्यान करनेवालोंको उचित है कि वे इन कामादि भाव कर्मोंको दूरसे ही त्याग देवें। **और** भी कहा है—

> शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं ।
> मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणी ॥
> इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पना ।
> शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू सर्वथा पापकर्मको लानेवाली इस कल्पनाको छोड कि मैं शूर हूं, सुबुद्धि हूं, चतुर हूं, महान् लक्ष्मीवान हूं, मान्य हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं, सब पुरुषोंमें मुख्य हूं और निरन्तर उस निर्मल आत्म-तत्वका ध्यानकर जिसके प्रतापसे मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंधके कारण हैं उन्हींका कर्त्ता जीव है, इस कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिस परिणामसे आत्मा परिणमन करता है वह परिणाम क्या है—

> **परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।**
> **सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३२॥**
>
> परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता ।
> सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आदा) आत्मा (चेयणाए) चेतनाके स्वभाव रूपसे (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई

है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञानके सम्बन्धमें (कम्मे) कर्म या कार्यके सम्बन्धमें (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मके फलमें (भणिदा) कही गई है।

विशेषार्थ–हरएक आत्मा चेतनापनेसे परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्माका शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतनाको नहीं छोड़ता है। वह चेतना जब ज्ञानको विषय करती है अर्थात ज्ञानकी परिणतिमें वर्तन करती है तब उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्मके करनेमें उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मोंके फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकारकी होती है।

भावार्थ–आत्माका स्वभाव चेतना है। जो चेते वह चेतना। यहां चेतनासे मतलब तन्मय होकर जाननेका है। उपयोग आत्मा-की चेतना गुणकी परिणतिको कहते हैं। आत्मा उपयोगवान है। इससे वह अपनी चेतनाकी परिणतिमें या उपयोगमें सदा वर्तन करता रहता है। उसी चेतनाके तीन भेद किये हैं। जब आत्मा ज्ञान मात्र भावमें परिणमन कर रहा है तब उसके ज्ञान चेतना है क्योंकि उसका उपयोग किसी भी पदार्थकी तरफ रागद्वेषके साथमें उपयुक्त नहीं है, वह उपयोग मात्र ज्ञान स्वभावमें वर्तन कररहा है। वह उपयोग जानता मात्र है परन्तु रागद्वेप सहित नहीं जानता है। उस चेतनाकी परिणतिमें न किसी [illegible]

नाकी परिणति किसी भी कार्यके करनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मचेतना और जो पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे प्रगट हुए सुख अथवा दुःखरूप फलोंके भोगनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतनाके तीन भेद हैं- ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ॥३२॥

उत्थानिका-आगे तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाके स्वरूपका विशेष विचार करते हैं-

णाणं अत्थवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥३३॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ।।
तदनेकविधं भणित फलमिति सौख्य वा दुःखं वा ॥३३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(अत्थवियप्पो) पदार्थोंके जाननेमें समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञानचेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कम्मं) जीवके द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेकविधं भणिदं) वह अनेक प्रकारका कहा गया है-इस कर्मका चेतना सो कर्मचेतना है (वा सोक्खं व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःखरूप फलमें चेतना सो कर्मफल चेतना है।

विशेषार्थ-ज्ञानको अर्थका विकल्प कहते हैं-जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकारको झलकानेवाले दर्पणके समान स्वपर पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादिरूप मैं परमात्मा पदार्थ हूं तथा रागादि आश्रवको आदि लेकर सर्व ही पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्पको ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीवने

है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञानके सम्बन्धमें (कम्मे) कर्म या कार्यके सम्बन्धमें (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मोंके फलमें (भणिदा) कही गई है।

विशेषार्थ–हरएक आत्मा चेतनापनेसे परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्माका शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतनाको नहीं छोडता है। वह चेतना जब ज्ञानको विषय करती है अर्थात् ज्ञानकी परिणतिमें वर्तन करती है तब उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्मके करनेमे उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मोंके फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकारकी होती है।

भावार्थ–आत्माका स्वभाव चेतना है। जो चेते वह चेतना। यहा चेतनासे मतलब तन्मय होकर जाननेका है। उपयोग आत्माकी चेतना गुणकी परिणतिको कहते है। आत्मा उपयोगवान है। इससे वह अपनी चेतनाकी परिणतिमें या उपयोगमे सदा वर्तन करता रहता है। उसी चेतनाके तीन भेद किये है। जब आत्मा ज्ञान मात्र भावमें परिणमन कर रहा है तब उसके ज्ञान चेतना है क्योंकि उसका उपयोग किसी भी पदार्थकी तरफ रागद्वेषके साथमें उपयुक्त नहीं है, वह उपयोग मात्र ज्ञान स्वभावमे वर्तन कररहा है। वह उपयोग जानता मात्र है परन्तु रागद्वेप सहित नहीं जानता है। उस चेतनाकी परिणतिमें न किसी रागद्वेप पूर्वक कार्य करनेकी ओर ध्यान है न सुख दुःखकी तरफ ध्यान है जो कर्मोंके फल है इसलिये ज्ञान चेतनाको शुद्ध चेतना भी कह सक्ते हैं। जो चेत-

नाकी परिणति किसी भी कार्यके करनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मचेतना और जो पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे प्रगट हुए सुख अथवा दुःखरूप फलोंके भोगनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतनाके तीन भेद हैं-ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ॥३२॥

उत्थानिका-आगे तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाके स्वरूपका विशेष विचार करते हैं-

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥३३॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ॥
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥३३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(अत्थवियप्पो) पदार्थोंके जाननेमें समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञानचेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कम्मं) जीवके द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेकविधं भणिदं) वह अनेक प्रकारका कहा गया है-इस कर्मका चेतना सो कर्मचेतना है (वा सोक्खं व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःखरूप फलमें चेतना सो कर्मफल चेतना है।

विशेषार्थ-ज्ञानको अर्थका विकल्प कहते हैं-जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकारको झलकानेवाले दर्पणके समान स्वपर पदार्थोंको जाननेमें समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादिरूप मैं परमात्मा पदार्थ हूं *तथा रागादि आश्रवको आदि लेकर सर्व ही पुद्गलादि द्रव्य मुझसे* भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्पको ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीवने

है । (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञानके सम्बन्धमें (कम्मे) कर्म या कार्यके सम्बन्धमें (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मोंके फलमें (भणिदा) कही गई है ।

विशेषार्थ–हरएक आत्मा चेतनापनेसे परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्माका शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतनाको नहीं छोडता है । वह चेतना जब ज्ञानको विषय करती है अर्थात् ज्ञानकी परिणतिमें वर्तन करती है तब उसको ज्ञानचेतना कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्मके करनेमें उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मोंके फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफलचेतना कहते हैं । इस तरह चेतना तीन प्रकारकी होती है ।

भावार्थ–आत्माका स्वभाव चेतना है। जो चेते वह चेतना। यहां चेतनासे मतलब तन्मय होकर जाननेका है । उपयोग आत्माकी चेतना गुणकी परिणतिको कहते हैं । आत्मा उपयोगवान है। इससे वह अपनी चेतनाकी परिणतिमें या उपयोगमें सदा वर्तन करता रहता है । उसी चेतनाके तीन भेद किये हैं । जब आत्मा ज्ञान मात्र भावमें परिणमन कर रहा है तब उसके ज्ञान चेतना है क्योंकि उसका उपयोग किसी भी पदार्थकी तरफ रागद्वेषके साथमें उपयुक्त नहीं है, वह उपयोग मात्र ज्ञान स्वभावमें वर्तन कररहा है । वह उपयोग जानता मात्र है परन्तु रागद्वेष सहित नहीं जानता है । उस चेतनाकी परिणतिमें न किसी रागद्वेष पूर्वक कार्य करनेकी ओर ध्यान है न सुख दु खकी तरफ ध्यान है जो कर्मोंके फल हैं इसलिये ज्ञान चेतनाको शुद्ध चेतना भी कह सक्ते हैं । जो चेत-

नाकी परिणति किसी भी कार्यके करनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मचेतना और जो पूर्वकृत कर्मोके उदयसे प्रगट हुए सुख अथवा दुःखरूप फलोंके भोगनेमें वर्तन कर रही है उसको कर्मफलचेतना कहते हैं। इस तरह चेतनाके तीन भेद हैं- ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना ॥३२॥

उत्थानिका—आगे तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाके स्वरूपका विशेष विचार करते हैं—

णाणं अत्थवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं भणिदं फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥३३॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ॥
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥३३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(अत्थवियप्पो) पदार्थोके जाननेमें समर्थ जो विकल्प है (णाणं) वह ज्ञान या ज्ञानचेतना है। (जीवेण जं समारद्धं कम्मं) जीवके द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेकविधं भणिदं) वह अनेक प्रकारका कहा गया है-इस कर्मका चेतना सो कर्मचेतना है (वा सोक्खं व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःखरूप फलमें चेतना सो कर्मफल चेतना है।

विशेषार्थ—ज्ञानको अर्थका विकल्प कहते हैं—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकारको झलकानेवाले दर्पणके समान स्वपर पदार्थोको जाननेमें समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादिरूप मैं परमात्मा पदार्थ हूं तथा रागादि आश्रवको आदि लेकर सर्व ही पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। इसी अर्थ विकल्पको ज्ञान चेतना कहते हैं। इस जीवने

अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन कायके व्यापार रूपसे जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्म चेतना है। सो कर्मचेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोगके भेदसे तीन प्रकारकी कही गई है। सुख तथा दुःखको कर्मका फल कहते हैं उसको अनुभव करना सो कर्मफल चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलताको पैदा करनेवाला नारक आदिका दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल चक्रवर्ती आदिके पंचेंद्रियोंके भोगोंका भोगना है। यद्यपि इस सुखको अशुद्ध निश्चय नयसे सुख कहते हैं तथापि यह आकुलताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे शुद्ध निश्चय नयसे दुःख ही है। और जो रागादि रहित शुद्धोपयोगमें परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलताको पैदा करनेवाला परमानंदमई एक रूप सुखामृतका स्वाद है। इस तरह ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका स्वरूप जानना चाहिये।

भावार्थ यहां आचार्यने तीन प्रकार चेतनाका स्वरूप बताया है—जहां न सुख तथा दुःखके भोगनेमें विकल्प है, न किसी कार्यको मन वचन कायके द्वारा करनेमें विकल्प है किन्तु जहां मात्र अपने स्वरूपका—कि मैं परमात्म स्वरूप हूं तथा परके स्वरूपका कि पर पदार्थ मुझसे भिन्न हैं—यथार्थ और पूर्ण ज्ञान है ऐसा जो ज्ञान उसे ही अर्थ विकल्प कहते हैं। इसी ज्ञानको चेतना—ज्ञान चेतना है। तथा जहां अपनी२ बुद्धिपूर्वक मन, वचन, कायके द्वारा जो कुछ काम किया जाय चाहे वह अशुभ कर्म हो या शुभ हो या शुद्ध हो उसको कर्म कहते हैं उस कर्मको चेतना कर्मचेतना है। जहां सुख

या दुःखका अनुभव किया जावे सो कर्मफल चेतना है। यहां कर्मके तीन भेद किये गए हैं-एक अशुभोपयोगरूप कर्म जिसका फल नारक, पशु, मनुष्यादि गतियोंमें दुःखोंका भोगना है, दूसरा शुभोपयोग रूप कर्म जिसका फल पशु, मनुष्य या देवगतिमें पंचेन्द्रियोंके भोगोंको यथासम्भव भोगकर इन्द्रियजनित सुखका भोगना है। तीसरा आत्माका अनुभव रूप शुद्धोपयोग कर्म है इसका फल परमानन्दमई आत्मीक अतींद्रिय सुखका भोगना है। इस तरह जैसे कर्मचेतना तीन प्रकार है वैसे कर्मफल चेतना भी तीन प्रकार है।

इस तरह यह बात समझमें आती है कि ज्ञान चेतना उन्हींको है जिनको शुद्धोपयोगका फलरूप परमात्मपद प्राप्त हो गया है। वहां मन, वचन, कायके व्यापार बुद्धिपूर्वक नहीं होते हैं। सिद्ध भगवानके तो मन वचन कायका सम्बन्ध ही नहीं है तथा अरहंत भगवानके यद्यपि मन वचन कायका सम्बन्ध है तथा सयोग अवस्थामें उनका परिणमन भी है तथापि वह बुद्धिपूर्वक नहीं है इसीसे अर्हंत और सिद्ध भगवानके कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना नहीं है किन्तु एक मात्र ज्ञान चेतना है। परमात्म प्रभु विना जाननेका विकल्प उठाए स्वभावसे ही स्वपरके ज्ञाता होकर परम वीतराग हैं। अपने शुद्ध ज्ञानमें ही मगन हैं। इस लिये वे ही ज्ञानचेतना स्वरूप हैं। शेष जो छद्मस्थ संसारी जीव हैं उनके दो चेतना पाई जाती हैं। संसारी जीव दो प्रकारके हैं एक स्थावर दूसरे त्रस। जो एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं उनके ज्ञान अति मंद है यद्यपि अशुभ तीन लेश्याओंके कारण तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओंके कारण उनके अशुभोपयोगरूप

कर्मचेतना है जिससे वे पापकर्मको बांधते हैं तथापि इस कर्मचेतनाकी उनमें मुख्यता नहीं है क्योंकि वे बुद्धिमें अतिशय करके हीन हैं—उनके बुद्धि पूर्वक कार्य प्रगट देखनेमें नहीं आते हैं। परंतु कर्म-फल चेतना तो प्रधानतासे उनमें है ही क्योंकि वे दुःखोंका अनुभव कररहे हैं।

जो त्रस जीव हैं उनमें कर्मफलचेतना भी है और कर्मचेतना भी है। मिथ्यादृष्टी द्वेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पयत जीवोंमें शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग बुद्धिपूर्वक नहीं होता है किन्तु अशु-भोपयोग होता है इससे इनके अशुभोपयोग कर्म चेतना है परन्तु पूर्वबद्ध पुण्य पापकर्मके फलसे सुख तथा दुःख दोनों भोगते हैं इससे संसारीक सुख तथा दुःख भोगने रूप कर्म- फल-चेतना दो रूप है-इनको शुद्धोपयोगरूपसे पैदा होनेवाला आत्मि-कसुखकी चेतना नहीं है। जो सम्यग्दृष्टी जीव हैं वे शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग तीनों रूप कार्योमें यथासम्भव बुद्धिपूर्वक वर्तन करते हैं इससे उनके तीनों प्रकारकी कर्मचेतना है तथा वे इंद्रियजनित सुख, दुःख तथा आत्मानंद तीनोंको ही यथा-सम्भव भोगते हैं। यहां इतना और समझना चाहिये कि मिथ्या-दृष्टी पंचेन्द्रिय सैनीमें यद्यपि व्यवहारमें दान, पूजा, जप, तप आदि शुभ कार्य देखनेमें आते हैं परन्तु उसके भीतरसे इन्द्रियसु-खकी वासना नहीं मिटी है इससे सिद्धांतमें उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग सम्यग्दृष्टीके ही होता है। गृहस्थ सम्यक्तीके यद्यपि श्रद्धानकी अपेक्षा उपयोग अशुभ नहीं है तथापि चारित्रकी अपेक्षा जब विषयकषायोंमें प्रवर्तन करता है तब

अशुभ उपयोग होता है। जब पूजा, पाठ, जप, तप आदिमें प्रवर्तन करता है तब शुभोपयोग होता है और जब बुद्धिपूर्वक अपने उपयोगको रागद्वेषसे दूरकर आत्माके शुद्ध स्वभावके विचारमें लगाता है और इस शुभ क्रियाके कारण जब उपयोग आत्मस्थ होजाता है अर्थात् स्वानुभवमें एकता रूप होजाता है तब शुद्धोपयोग होता है। यद्यपि इस शुद्धोपयोगका प्रारम्भ सम्यक्ती अवस्थासे होजाता है तथापि इसकी मुख्यता मुनि महाराजोंके होती है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय पर्यंत शुद्धोपयोग कर्म है, ध्यानमय अवस्था है। यदि कोई लगातार सातवें गुणस्थानसे बारहवें तक चला जाय तो अंतर्मुहूर्त काल ही लगेगा। क्योंकि सातवेंमें ध्याताने अपने उपयोगको बुद्धिपूर्वक आत्मामें उपयुक्त किया है इस लिये इस शुद्धोपयोगको कर्मचेतना कहते हैं। वास्तवमें यह शुद्धोपयोगका कारण है। साक्षात् कार्यरूप शुद्धोपयोग अरहंत सिद्ध परमात्माके है। वे अपने ज्ञानमें मग्न हैं और आत्म स्वभावसे निष्कर्म हैं—उनके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं पाई जाती है, इसलिये वहां ज्ञान चेतना ही है।

इस कथनसे यही झलकता है कि ज्ञानचेतना अरहंत अवस्थासे प्रारम्भ होती है उसके पहले कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दो ही हैं, क्योंकि अप्रमत्त सातवेंसे बारहवें तकमें मैं सुखी या दुःखी ऐसी चेतना नहीं है इससे इंद्रियजनित सुख दुःखकी चेतना नहीं है, परन्तु जब शुद्धोपयोग कर्म है तब उसके फलसे आत्मीक सुखका भोग है। इस हेतुसे कर्मफलचेतना कह सक्ते हैं। यद्यपि केवलज्ञानी भी आत्मानंदका भोग करते हैं परन्तु उनके

कर्मचेतना है जिससे वे पापकर्मको बांधते हैं तथापि इस कर्मचेतनाकी उनमें मुख्यता नहीं है क्योंकि वे बुद्धिमें अतिशय करके हीन हैं—उनके बुद्धि पूर्वक कार्य प्रगट देखनेमें नहीं आते हैं। परंतु कर्म-फल चेतना तो प्रधानतासे उनमें है ही क्योंकि वे दुःखोंका अनुभव कररहे हैं।

जो त्रस जीव हैं उनमें कर्मफलचेतना भी है और कर्मचेतना भी है। मिथ्यादृष्टी द्वेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पयत जीवोंमें शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग बुद्धिपूर्वक नहीं होता है किन्तु अशुभोपयोग होता है इससे इनके अशुभोपयोग कर्म चेतना है परन्तु पूर्वबद्ध पुण्य पापकर्मके फलसे सुख तथा दुःख दोनों भोगते हैं इससे संसारीक सुख तथा दुःख भोगने रूप कर्म- फल-चेतना दो रूप है-इनको शुद्धोपयोगरूपसे पैदा होनेवाला आत्मिकसुखकी चेतना नहीं है। जो सम्यग्दृष्टी जीव हैं वे शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग तीनों रूप कार्योंमें यथासम्भव बुद्धिपूर्वक वर्तन करते हैं इससे उनके तीनों प्रकारकी कर्मचेतना है तथा वे इंद्रियजनित सुख, दुःख तथा आत्मानंद तीनोंको ही यथा-सम्भव भोगते हैं। यहां इतना और समझना चाहिये कि मिथ्या-दृष्टी पंचेन्द्रिय सैनीमें यद्यपि व्यवहारमें दान, पूजा, जप, तप आदि शुभ कार्य देखनेमें आते हैं परन्तु उसके भीतरसे इन्द्रियसु-खकी वासना नहीं मिटी है इससे सिद्धांतमें उसको अशुभोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग सम्यग्दृष्टीके ही होता है। गृहस्थ सम्यक्तीके यद्यपि श्रद्धानकी अपेक्षा उपयोग अशुभ नहीं है तथापि चारित्रकी अपेक्षा जब विषयकषायोंमें प्रवर्तन करता है तब

अशुभ उपयोग होता है। जब पूजा, पाठ, जप, तप आदिमें प्रवर्तन करता है तब शुभोपयोग होता है और जब बुद्धिपूर्वक अपने उपयोगको रागद्वेषसे दूरकर आत्माके शुद्ध स्वभावके विचारमें लगाता है और इस शुभ क्रियाके कारण जब उपयोग आत्मस्थ होजाता है अर्थात् स्वानुभवमें एकता रूप होजाता है तब शुद्धोपयोग होता है। यद्यपि इस शुद्धोपयोगका प्रारम्भ सम्यक्तकी अवस्थासे होजाता है तथापि इसकी मुख्यता मुनि महाराजोंके होती है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय पर्यंत शुद्धोपयोग कर्म है, ध्यानमय अवस्था है। यदि कोई लगातार सातवें गुणस्थानसे बारहवें तक चला जाय तो अंतर्मुहूर्त काल ही लगेगा। क्योंकि सातवेंमें ध्याताने अपने उपयोगको बुद्धिपूर्वक आत्मामें उपयुक्त किया है इसलिये इस शुद्धोपयोगको कर्मचेतना कहते हैं। वास्तवमें यह शुद्धोपयोगका कारण है। साक्षात् कार्यरूप शुद्धोपयोग अरहंत सिद्ध परमात्माके है। वे अपने ज्ञानमें मग्न हैं और आत्म स्वभावसे निष्कर्म हैं–उनके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं पाई जाती है, इसलिये वहां ज्ञान चेतना ही है।

इस कथनसे यही झलकता है कि ज्ञानचेतना अरहंत अवस्थासे प्रारम्भ होती है उसके पहले कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दो ही हैं, क्योंकि अप्रमत्त सातवेंसे बारहवें तकमें में सुखी या दुःखी ऐसी चेतना नहीं है इससे इंद्रियजनित सुख दुःखकी चेतना नहीं है, परन्तु जब शुद्धोपयोग कर्म है तब उसके फलसे आत्मीक सुखका भोग है। इस हेतुसे कर्मफलचेतना कह सक्ते हैं। यद्यपि केवलज्ञानी भी आत्मानंदका भोग कररहे हैं परन्तु उनके

कर्मफलचेतना इसलिये नहीं है कि यहां शुद्धोपयोगरूप कर्मचेतना भी नहीं है।

इन तीन प्रकार चेतनाओंके स्वामी कौन कौन होते हैं इसका वर्णन महाराज कुंद कुंदाचार्यने श्री पंचास्तिकायमें इसतरह किया है:-

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥ ३९ ॥

टीका अमृतचंद्र कृत इस भांति है—

चेतयंतेऽनुभवन्ति उपलभंते विंदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धि-वेदनानामेकार्थत्वात् । तत्र स्थावराः कर्मफलं चेतयते, त्रसाः कार्यं चेतयंते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयंत इति ।

पं० हेमराजजीने इसकी भाषा इसतरह की है:-

निश्चयसे पृथिवी काय आदि जे समस्त ही पांच प्रकार स्थावर जीव हैं ते कर्मोका जो दुःख सुख फल तिसको प्रगटपने रागद्वेषकी विशेषता रहित अप्रगट रूप अपनी शक्तिके अनुसार वेदते हैं। क्योंकि इनि य जीवोंके केवल मात्र कर्मफलचेतना रूप ही मुख्य है। निश्चयसे द्वेन्द्रियादिक जीव हैं ते कर्मका जो फल सुख दुख रूप है तिसको राग द्वेष मोहकी विशेषता लिये उद्यमी हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें कार्य करते संते भोगते हैं। इस कारण वे जीव कर्मफलचेतनाकी मुख्यता सहित जान लेना और जो जीव दश प्राणोंसे रहित हैं, अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं वे शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव केवलज्ञान चैतन्यभाव ही को साक्षात् परमानन्द सुख-रूप अनुभवे हैं। ऐसे जीव ज्ञानचेतना संयुक्त कहाते हैं। ये तीन प्रकारके जीव तीन प्रकारकी चेतनाके धरनहारे जानने।

श्री जयसेनाचार्यने इसी गाथाकी जो संस्कृत वृत्ति दी हैं उसका अनुवाद यह है कि वे सर्व प्रसिद्ध पांच प्रकारके स्थावर जीव अप्रगट रूप सुखदुःखका अनुभवरूप शुभ अशुभ कर्मोंके फलको अनुभव करते हैं। द्वेंद्रियादि त्रस जीव उसी ही कर्मफलको निर्विकार परमानंदमई एक स्वभावरूप आत्मसुखको नहीं प्राप्त करते हुए विशेष रागद्वेषरूप जो कार्यचेतना है उस सहित अनुभव करते हैं। और जो विशेष शुद्धात्माके अनुभवकी भावनासे उत्पन्न परम आनंदमई एक सुखामृतरूप समरसी भावके बलसे दश तरहके प्राणोंसे रहित जो सिद्ध जीव हैं वे केवलज्ञानको अनुभव करते हैं। इसका भाव यही है कि स्थावर जीव कर्मफलचेतना तथा त्रस जीव कर्मफलचेतना सहित कर्म चेतना तथा केवलज्ञानी ज्ञान चेतनाको अनुभव करते हैं।

श्री समयसार आत्मख्यातिमें पं० जयचंदजीने प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान कल्पको वर्णन करके कर्म चेतना और कर्मफलचेतनाके त्यागकी भावनाका वर्णन किया है वहां यह लिखा है कि "*जब सम्यग्दृष्टि होता है तब ज्ञान श्रद्धान तो हो* ही जाता है कि मैं शुद्ध नयकर समस्त कर्मोंसे और कर्मोंके फलसे रहित हूं। अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत अवस्थामें तो ज्ञान श्रद्धानमें निरन्तर भावना है ही, परन्तु जब अप्रमत्त दशा हो एकाग्र चित्तकर ध्यान करे तब केवल चैतन्य मात्र आत्मामें उपयोग लगावे और शुद्धोपयोग रूप होय तब निश्चय चारित्ररूप शुद्धोपयोग भावसे श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाता है। उस समय इस भावनाका फल कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान-

चेतनारूप होना है। फिर अनंतकाल तक ज्ञान चेतना रूप ही हुआ वह आत्मा परमानंदमें मग्न रहता है।" इस भावसे भी यही बात झलकती है कि ज्ञानचेतनाकी भावना तो केवलज्ञान पहले होती है परंतु ज्ञानचेतना केवलज्ञानीके ही होती है। श्री जयसेनाचार्यने इसीलिये शुद्धोपयोग कर्मचेतना केवलज्ञानके पहले बताई है। पंचाध्यायी ग्रंथमें इन चेतनाओंके सम्बन्धमें श्लोक १९१ द्वि० खंडसे व्याख्यान प्रारंभ किया है वहां ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टीके लब्धिरूप सदा मानी है तथा साक्षात् तब मानी है जब वह स्वानुभव रूप होवे। जैसा कहा है–

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः ।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥१०४॥

अर्थ–शुद्धचेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है। और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञानरूप है इसलिये उसे ज्ञानचेतना कहते हैं–

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना ।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात् कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

अर्थ–अशुद्ध चेतना दो प्रकार है–एक कर्मचेतना दूसरी कर्मफलचेतना। कर्मफल चेतनामें फल भोगनेकी मुख्यता है।

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात् ॥१९८॥

अर्थ–वह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है। मिथ्यादृष्टिके कहीं भी नहीं होसक्ती क्योंकि वहां उसका होना असंभव है।

किंच सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५२ ॥
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतना लब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥
कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

अर्थ—सर्व सम्यग्दृष्टियोंके सदा ज्ञानचेतना रहती है वह निरन्तर प्रवाह रूपसे रहती है अथवा अखंड एक धारारूपसे रहती है। निरंतर ज्ञानचेतनाके रहनेमें भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय रूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतना लब्धि है। वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है। ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी कभी होती है वह लब्धिका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। 'इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति नहीं है।

इस कथनसे यह प्रगट होता है कि ज्ञानचेतनाका ज्ञानश्रद्धान तथा उस रूप होनेकी शक्तिकी लब्धि तो सम्यग्दृष्टीको हो जाती है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा जब वह शुद्धात्मानुभव करता है तब ज्ञानचेतना एकांशी रहती है। ज्यों ज्यों स्वरूप मगनता बढ़ती जाती है ज्ञानचेतनाके अंशोंकी वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञानीके सर्वांश ज्ञानचेतना हो जाती है। श्री जयसेनाचार्यने सम्यग्दृष्टीकी इस ज्ञानचेतनाको शुद्धोपयोग कर्मचेतना कही है सो मात्र अपेक्षाकृत भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है। शुद्ध आत्माकी प्रत्यक्ष चेतना वास्तवमें केवलज्ञानी हीके है जैसा पंचाध्यायीकारने श्लोक १९४में कहा है। उसके नीचे स्वानुभवकी अपेक्षा ज्ञानचेतना तथा

अशुद्ध आत्माकी अपेक्षा अशुद्ध चेतना या शुद्धोपयोग कर्मचेतना कह सक्ते हैं। तात्पर्य यह है कि हमको ज्ञानचेतनाको ही उपादेय मानके उसी रूप रहनेकी भावना करनी चाहिये–सदा ही अपने आत्माको कर्म और कर्मफलचेतनासे भिन्न भावना चाहिए।

श्री अमृतचंद्र स्वामीने समयसारकलशमें कहा है:–

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिला ज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥

भावार्थ–कर्मसे व कर्मफलसे अत्यन्त विरक्तभावकी निरंतर भावना करके और सर्व अज्ञान चेतनाके नाशको प्रगटपने नचाकरके तथा अपने आत्मीकरससे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द सहित नचाते हुए अबसे अनन्त कालतक शांतरसका पान करो अर्थात् केवलज्ञानी होकर निरन्तर ज्ञानचेतनामय रहो।

यहां व्याख्यामें मिथ्यादृष्टीके मात्र अशुभोपयोग कहा है शुभोपयोग नहीं कहा है उसका प्रयोजन यह है कि धर्मध्यान जहां है वहीं शुभोपयोग है। निश्चयसे मिथ्यादृष्टी द्रव्यलिंगी साधुके भी धर्मध्यान नहीं है। इसलिये वास्तवमें तो शुभोपयोग नहीं है, किन्तु यदि कषायकी मन्दताकी अपेक्षासे विचार करें तो शुभोपयोग है और इस कारण उसके अतिशय रहित पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है। क्योंकि यह शुभोपयोग सम्यक्त रहित है इसीसे मोक्षमार्गमें अशुभोपयोग नाम पाता है।

प्रयोजन यह है कि सम्यक्त विना सब असार है जब कि सम्यक्त सहित सब कुछ सार है ॥ ३३ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि यह आत्मा ही अभेद नयसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप होजाता है।

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं, फलं च आदा मुणेदव्वो॥ ३४ ॥

आत्मा परिणात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी ।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा मंतव्यः ॥ ३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफल रूप होजाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्मं च फलं) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म फल रूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये ।

विशेषार्थ–आत्मा परिणमनस्वभाव है यह बात पहले ही " परिणामो सयमादा " इस गाथामें कही जाचुकी है। उसी परिणमन स्वभावमें यह शक्ति है कि आत्माका भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्म चेतनारूप व कर्मफलचेतनारूप होजावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतनारूप अभेद नयसे आत्माको ही जानना चाहिये। इस कथनसे यह अभिप्राय प्रगट किया गया कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतनाके परिणामोंसे परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध परिणामसे मोक्षको साधन करता है। *तथा शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे बंधको साधता है।*

भावार्थ–इस गाथामें यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं

परिणमनस्वभाव है। जो परिणमन स्वभाव होता है उसीमें शुद्ध या अशुद्ध परिणमन होना संभव है । जब उस द्रव्यको पर द्रव्यका वैभाविक परिणमन करानेवाला निमित्त नहीं मिलता है तब वह द्रव्य अपने शुद्ध स्वभाव हीमें परिणमन करता है और जब उसको परका निमित्त होता है तब वह अशुद्ध भावसे परिणमन करता है।

आत्मा उपयोगमई है-यह स्वभावसे अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूपसे परिणमन करनेवाला है, परंतु इस संसारमें यह संसारी प्राणी अनादिकालसे पुद्गलमई आठ प्रकार द्रव्यकर्मोसे प्रवाहरूपसे बंधा चला आरहा है-उनही कर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है । जब इस कर्मका उदय होता है तब उस कर्मके अनुभागकी शक्तिके अनुसार आत्माका उपयोग भी राग, द्वेष, मोह रूप परिणमन कर जाता है । जब निज आत्माके ज्ञानानंदमें उपयुक्त है तब ज्ञानचेतनारूप आ परिणमन करता है । तब किसी कामके करनेका भाव करता है तब अपने भावानुसार कर्मचेतनारूप आप ही परिणमता है और जब साता या असाताके उदयके साथ मोहके उदयमें परिणमन करता है तब मैं सुखी हूं या दुःखी हूं इस विकल्पसे परिणमन करके कर्मफलचेतना रूप परिणमता है। इस तरह आत्मा ही इन तीन रूप परिणामोंको करनेवाला है । दूसरा कोई द्रव्य नहीं । इनमें ज्ञानचेतना स्वाभाविक परिणमन है, कर्मचेतना कर्मफलचेतना वैभाविक परिणमन है । इनमें वैभाविक परिणाम त्यागनेके योग्य है और स्वाभाविक परिणामरूप ज्ञानचेतना ग्रहण करने योग्य है।

जितना हमारेमें ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपश-

मसे ज्ञान दर्शन, व अंतरायके क्षयोपशमसे आत्मवीर्य, व मोहके उपशमसे वीतरागताके अंश प्रगट हैं, इस हीको पुरुषार्थ कहते हैं। इस पुरुषार्थके बलसे हमको मोहके उदयके बलको घटाना चाहिये। हमारा यह अभ्यास कुछ कालमें हमारे आत्माके परिणमनको वैभाविकसे हटाकर स्वभावमें परिणमन करने देगा। इसलिये हमें कर्मोंके प्रबल निर्बलके विकल्पमें न पड़ अपना पुरुषार्थ स्वाभाविक भावोंमें होनेके लिये करना चाहिये। पुरुषार्थके विना कार्यकी सिद्धि नहीं हो सक्ती है। श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

> भवभोगशरीरेषु भावनीयः सदा बुधैः।
> निर्वेदः परया बुद्ध्या कर्मारातिं जिगीषुभिः॥१२७॥
>
> यावन्न मृत्युवज्रेण देहशैलो निपात्यते।
> नियुज्यतां मनस्तावत् कर्मारातिपरिक्षये॥ १२८॥

भावार्थ—उन बुद्धिमानोंको, जो कर्म शत्रुओंका नाश करना चाहते हैं उत्कृष्ट बुद्धिसे संसार शरीर भोगोंमें सदा वैराग्यभावना भानी चाहिये। जबतक मरणरूपी वज्रसे शरीररूपी पहाड़ न गिरे तबतक अपने मनको कर्मशत्रुओंके नाशमें लगाए रहो॥३४॥

इस तरह तीन प्रकार चेतनाके कथनकी मुख्यतासे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे सामान्य ज्ञेय अधिकारकी समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञानकी भावनाका फल शुद्धात्माकी प्राप्ति है ऐसा दिखाते हैं:—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥३५॥

कर्ता करणं कर्मफलं चात्मेति निश्चित: श्रमण: ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धं ॥ ३५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(कत्ता, करणं, कम्मफलं च अप्पत्ति) कर्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करनेवाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्णं) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्धं अप्पाणं लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूपको पाता है ।

विशेषार्थ–मैं एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूतिका अपने विकार रहित परम चैतन्यके परिणामसे परिणमन करता हुआ साधन करनेवाला हूं इससे मैं ही कर्ता हूं। तथा मैं ही रागादि विकल्पोंसे रहित अपनी स्वसंवेदन ज्ञानकी परिणतिके बलसे सहज शुद्ध परमात्माकी अनुभूतिका साधकतम हूं, अर्थात् अवश्य साधनेवाला हूं इसलिये मैं ही करण स्वरूप हूं और मैं ही शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माके स्वरूपसे प्राप्ति योग्य हूं इसलिये मैं ही कर्म हूं। तथा मैं ही शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावरूप परमात्मासे साधने योग्य अपने ही शुद्धात्माकी रुचि, व उसीका ज्ञान व उसीमें निश्चल अनुभूतिरूप अभेद रत्नत्रयमई परम समाधिसे पैदा होनेवाले सुखामृतरसके आस्वादमें परिणमनरूप हूं इससे मैं ही फलरूप हूं। इस तरह निश्चयनयसे बुद्धिको रखनेवाला परम मुनि जो सुखदुःख, जन्ममरण, शत्रु मित्र आदिमें समताकी भावनासे परिणमन कररहा है अपनेसे अन्य रागादि परिणामोंमें नहीं परिणमन करता है तो

भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवका है।

भावार्थ इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि हरएक कार्यमें कर्ता, करण, कर्म और फल ये चार बातें होती हैं। इन्हीं चार बातोंका भेदकी अपेक्षा विचार करें तो यह दृष्टांत होगा कि देवदत्तने अपने मुंहसे आम खाया जिससे वह बड़ा संतोषी हुआ। यहांपर कर्ता देवदत्त, मुंह करण, आम खाना कर्म तथा संतोष पाना फल है। इसी दृष्टांतको यदि अभेदमें घटाएं तो इस तरह कह सक्ते हैं कि देवदत्तने अपने ही शरीरके अंग मुंहसे अपने ही मुखके व्यापाररूप कर्मको किया और आप ही संतोषी होगया—इसतरह निश्चयसे देवदत्तही कर्ता, करण, कर्म और फलरूप हुआ।

इसी तरह जब भेद करके कहें तो इसतरह कह सक्ते हैं कि आत्माने अपने अशुद्ध परिणामोंसे कर्म बांधकर दुःख उठाया। यहां आत्मा कर्ता, अशुद्ध परिणाम करण, कर्मबंधन कर्म व दुःख पाना फल है। इसी बातको अभेदसे विचार करें तो आत्माने अपने ही आत्माके अशुद्ध परिणामोंसे परिणमन करके रागादि भाव कर्म किये और आप ही दुःखी हुआ। इसतरह अशुद्ध निश्चय नयसे आत्मा ही कर्ता, करण, कर्म तथा फलरूप हुआ। अज्ञान दशामें भी उपादान कर्ता, करण, कर्म और फल यह आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है। आप ही अपने सराग भावसे रागी हो आकुलतारूप होता है। जैसे मिट्टी अपनी मिट्टीकी परिणतिसे घटरूप होकरके घटके कार्यमें आप ही परिणमन करती है तैसे यह आत्मा अपनी परिणतिमें आपको ही परिणमन करके अपनेको आकुलित

तथा निराकुलित बनाता है। जैसे उपादान रूपसे मिट्टी स्वयं कर्ता, करण, कर्म तथा फलरूप है इसी तरह उपादान रूपसे यह आत्मा ही अपने भावोंका कर्ता करण कर्म और फल रूप है। परिणमन स्वभाव आत्माका है। अज्ञान दशामें अज्ञानरूप परिणमता है। ज्ञान दशामें ज्ञानरूप परिणमन करता है।

जिस तरह यह आत्मा स्वयं ही सराग भावसे परिणमन करके कर्मबंधका हेतु होजाता है उसी तरह यदि वह अभेदरत्नत्रय रूप स्वात्मानुभव रूपसे अपनी शुद्ध परिणतिको करे तो आप ही स्वयं परमात्म स्वरूप होजावे। जैसे सराग अवस्थामें आप ही कर्ता आदि है वैसे वीतराग अवस्थामें भी आप ही कर्ता, कारण, कर्म और फल रूप है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि यदि हमें निजानंदका भोग करना है तो हमें पुरुषार्थ करके अपने अभेद रत्नत्रय स्वभावमें परिणमन करना चाहिये। हमारा ही परिणमन शुद्धताकी तरफ बढ़ता २ एक समय पूर्ण शुद्ध रूप परिणमन रूपी फलको पैदाकर देता है।

वास्तवमें यह आत्मा आप ही उपादान कारणसे परमात्मा होता है—जैसा श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें, कहा है—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णतामता।
द्रव्यादि स्वादि संपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

भावार्थ-जैसे खानसे निकला सुवर्ण पाषाण आप ही अपने योग्य उपादान कारणसे स्वर्णपनेको प्राप्त होजाता है ऐसे ही स्व-द्रव्यादि या सुद्रव्यादि चतुष्टयकी प्राप्ति होनेपर यह आत्मा ही स्वयं परमात्मपनेको प्राप्त होजाता है।

जिस ध्यानसे यह आत्मा शुद्ध होता है वह ध्यान भी अभेदसे आत्मा ही है। श्री तत्वानुशासनमें मुनि नागसेन कहते हैं—

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

भावार्थ—क्योंकि यह आत्मा स्वस्वरूपसे ही अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको अपने ही द्वारा अपने ही लिये ध्याता है इसलिये षट् कारकमई यह आत्मा ही निश्चयसे ध्यान है।

अतएव स्वावलम्बन द्वारा अपना उद्धार आप करना चाहिये ॥३८

इस तरह एक सूत्रसे पांचमा स्थल पूर्ण हुआ—

इस तरह सामान्य ज्ञेयके अधिकारके मध्यमें पांच स्थलोंसे भेद भावना कही गई। ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइं" इत्यादि पेंतीस सूत्रोंके द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकारका व्याख्यान पूर्ण हुआ। आगे उन्नीस गाथाओंसे जीव अजीव द्रव्यादिका विवरण करते हुए विशेष ज्ञेयका व्याख्यान करते हैं। इसमें आठ स्थान हैं। इन आठमेंसे पहले स्थलमें प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्वको कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपनेको कहते हुए दूसरी, सक्रिय और निःक्रियपनेका व्याख्यान करते हुए तीसरी इस तरह "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादि तीन गाथाओंसे पहला स्थल है। इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणोंका स्वरूप कहते हुए "लिंगेहिं जेहिं" इत्यादि दो गाथाओंसे दूसरा स्थल है। आगे अपने अपने गुणोंसे द्रव्य पहचाने जाते हैं इसके निर्णयके लिये "वण्णरसं" इत्यादि तीन गाथाओंसे तीसरा स्थल है। आगे पंचास्तिकायके कथनकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गल काया" इत्यादि दो गाथाओंसे चौथा

स्थल है । इसके पीछे द्रव्योंका आधार लोकाकाश है ऐसा कहते हुए पहली, जैसा आकाश द्रव्यका प्रदेश लक्षण है वैसा ही शेष द्रव्योंका है ऐसा कहते हुए दूसरी, इसतरह "लोयालोएसु" इत्यादि दो सूत्रोंसे पांचवां स्थल है । इसके पीछे काल द्रव्यको अप्रदेशी स्थापित करते हुए पहली, समयरूप पर्याय काल है कालाणुरूप द्रव्यकाल है ऐसा कहते हुए दूसरी, इसतरह 'समओ दु अप्पदेसो' इत्यादि दो गाथाओंसे छठा स्थल है । आगे प्रदेशका लक्षण कहते हुए पहली, फिर तिर्यक् प्रचय ऊर्ध्व प्रचयको कहते हुए दूसरी इसतरह "आयासमणु णिविट्ठं" इत्यादि दो सूत्रोंसे सातवां स्थल है । फिर कालाणुको द्रव्यकाल स्थापित करते हुए "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादि तीन गाथाओंसे आठवां स्थल है इसतरह विशेष ज्ञेयके अधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—आगे जीव अजीवका लक्षण कहते हैं—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवयोगमयो ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं ॥ ३६ ॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखो चेतनो भवति चाजीवः ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(दव्वं) द्रव्य (जीवमजीवं) जीव और अजीव हैं (पुण) और (जीवो) जीव द्रव्य (चेदणा उपयोगमयो) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान है (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्गल द्रव्य आदि (अचेदणं) चेतना रहित (अजीवं) अजीव हैं ।

विशेषार्थः—द्रव्यके दो भेद हैं—जीव और अजीव, इनमेंसे

जीव द्रव्य स्वयं सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षा विना अंतरङ्ग व बाहरमें प्रकाशमान नित्य रूप निश्चयसे परम शुद्ध चेतनासे तथा व्यवहारमें अशुद्ध चेतनासे युक्त होनेके कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनयसे अखंड व एक रूप प्रकाशमान व सर्व तरहसे शुद्ध केवलज्ञान तथा केवल दर्शन लक्षणधारी पदार्थोंके जानने देखनेके व्यापार गुणवाले शुद्धोपयोगसे तथा व्यवहारनयसे मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोगसे जो वर्तन करता है इससे उपयोगमई है। तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य पूर्वमें कही हुई चेतनासे तथा उपयोगसे भिन्न अजीव हैं, अचेतन हैं, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ—पहले आचार्यने संग्रहनयसे सामान्य द्रव्यका व्याख्यान किया। अब यहां व्यवहारयसे विशेष भेद द्रव्यका दिखाते हैं। जगतमें यदि प्रत्यक्ष देखा जावे तो जीवत्व और अजीवत्व झलक जाते हैं। जहां चेतना है—देखने जाननेका काम हो रहा है वह जीवत्व है। जहां यह नहीं है वह अजीवत्व है। एक सजीव प्राणीमें इंद्रियोंके व्यापारसे जानन क्रिया होरही है वही जब जीव रहित होकर मात्र शरीरको ही छोड़ देता है तब उस मृतक शरीरमें सब कुछ रचना बनी रहने पर भी जानन क्रिया इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होती है—इसीसे सिद्ध है कि जानन क्रियाका करनेवाला जीव है और जिसमें जानन क्रिया नहीं वह यह शरीर है जो पुद्गलसे रचा है। प्रत्यक्षमें हरएक बुद्धिवान जीव अजीवको देख सक्ता है इस लिये आचार्यने प्रथम द्रव्यको दो भेद किये हैं—जीव और अजीव। इस जीवमें निश्चय प्राण चेतना है वह इसमें सदा रहती है—वही

चेतना शुद्ध जीवमें शुद्ध है और अशुद्ध जीवमें अशुद्ध है। अथवा निश्चय नयसे हरएक जीवमें शुद्ध है व्यवहार नयसे अशुद्ध है। वही चेतना निश्चय नयसे केवलज्ञान और केवलदर्शनमई शुद्ध उपयोगसे वर्तन करती हुई सबको और सर्व लोकालोक सम्बन्धी तीन काल वर्ती द्रव्यको उनके गुण और पर्यायोंके साथ जानती है तथा व्यवहार नयसे मतिज्ञान आदि रूप व चक्षु अचक्षु आदि दर्शन रूप परिणमती हुई द्रव्योंको परोक्ष रूपसे उनकी कुछ पर्यायोंके साथ जानती है। इसी उपयोगसे जीव द्रव्यकी सत्ता पृथक् झलकती है। जिसमें न चेतना है न ज्ञान दर्शन उपयोगके शुद्ध या अशुद्ध व्यापार हैं वह अजीव है–उस अजीवके पांच भेद हैं अर्थात् वे अजीव द्रव्य पांच प्रकारके भिन्न २ इस लोकमें पाए जाते हैं–वर्ण गंध रस स्पर्शवान पुद्गल है, गति सहकारी धर्म द्रव्य है, स्थिति सहकारी अधर्म द्रव्य है, अवकाश सहकारी आकाश द्रव्य है, परिणमन सहकारी काल द्रव्य है। ये पांचों ही चेतना तथा उपयोगसे शून्य हैं–इसलिये अचेतन और अनुपयोगमई अजीव हैं।

इस जगतमें अपना आत्मा पुद्गलके साथ ऐसा मिल रहा है कि उसकी पृथक् सत्ता अज्ञानी जीवको नहीं जाननेमें आती है इसलिये वह भ्रमसे अपनी आत्माको क्रोधी, मानी, लोभी, मोही आदि व मनुष्य शरीर रूप ही मान लेता है उसको जुदा अपना जीव नहीं मालूम होता है। इसलिये आचार्यने बताया है कि तुम जीव हो, तुम्हारा स्वभाव निश्चयसे शुद्धचेतनामय तथा परम शुद्ध केवलज्ञान व केवलदर्शन उपयोगमई है–तुम अपनेको ऐसा जान-

कर अनुभव करो यही अनुभव एक दिन अजीवसे दूर करके तुम्हें स्वाधीन बना देगा। पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्णवान बनता, बिगड़ता, प्रत्यक्ष झलकता है इससे इसकी सत्ताको समझनेमें कोई कठिनता नहीं है। परंतु धर्मादि चार द्रव्य अमूर्तीक हैं-अदृश्य हैं-प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सत्ताको कैसे माना जावे? इसलिये आचार्य कहते हैं कि युक्तिसे उनकी सत्ता भी प्रगट होजायगी। इस लोकमें जीव पुद्गल दो द्रव्य हलनचलन क्रिया करते तथा ठहरते हुए मालूम पड़ते हैं।

इन क्रियाओंमें उपादान कारण वे स्वयं हैं परंतु उनकी इन क्रियाओंमें कोई सर्वसाधारण तथा अविनाशी ऐसे निमित्त कारण भी चाहिये। केवली भगवानने अपने ज्ञान नेत्रसे जानकर उपदेश दिया कि जो एक अमूर्तीक द्रव्य इस लोकाकाशमें सर्वत्र अखंड रूपसे व्यापक है वही धर्मद्रव्य व वैसा ही अधर्म द्रव्य है जिनका काम उदासीन रूपसे जीव व पुद्गलोंकी गतिमें व स्थितिमें क्रमसे सहाय करना है।

सर्व द्रव्य अवकाश पारहे हैं व स्थानान्तर होते हुए भी अवकाश पा लेते हैं इसलिये जिसके विना द्रव्य अवकाश नहीं पा सके व जिसके होते हुए पा सकेहैं वह आकाश द्रव्य है। आकाश अनंत और सबसे बड़ा है उसीके मध्यभागमें जहांतक हर जगह जीव पुद्गलादि पांच द्रव्य पाए जाते हैं उस भागको लोकाकाश शेषको अलोकाकाश कहते हैं। द्रव्योंमें हम परिणमन क्रिया देख रहे हैं। जैसे हमारे परिणमन शांतिसे छूटकर क्रोधमई होगए व हमारा कोई अज्ञान कुछ ज्ञानके होनेसे नष्ट होता है तथा पुद्गल

सुन्दरसे असुन्दर व वर्णसे वर्णान्तर होजाता है-इस अवस्थाके बदलनेमें सर्वसाधारण कारण कालद्रव्य है। इस तरह अमूर्तीक अचेतन धर्मादि चार द्रव्योंकी सत्ता जानने योग्य है। इस कथनको जानकर एक अपना शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है शेष सर्व हेय हैं ऐसा निश्चय करके निज स्वरूपका अनुभव करना योग्य है।

श्री अमृतचंद आचार्यने तत्वार्थसारमें इन्हीं द्रव्योंको कहा है-

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः।
अजीवाः खलु पंचैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः॥ २॥

एते धर्मादयः पंच जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः।
षड्द्रव्याणि निगद्यते द्रव्ययाथात्म्यवेदिभिः॥ ३॥

भावार्थ-सर्वदर्शीने धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गलोंको अजीव कहा है तथा जीव अलग है इनको मिलाकर द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंने छः द्रव्य कहे हैं॥ ३६॥

उत्थानिका-आगे लोक और अलोकके भेदसे आकाश पदार्थके दो भेद बताते हैं:-

पुग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आयासे जो लोगो सो सव्वकाले दु॥ ३७॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु॥ ३७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जो) जितना क्षेत्र (आयासे) इस आकाशमें (पुग्गलजीवणिबद्धो) पुद्गल और जीवोंसे भरा हुआ तथा (धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो) धर्मास्तिकाय, अधर्म-

स्तिकाय, और कालसे भराहुआ (वट्टदि) वर्तन करता है (सो दु) वही क्षेत्र (सव्वकाले) सदा ही (लोगो) लोक है।

विशेषार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कंध तथा जीव सब निश्चयसे अमूर्तीक अतींद्रिय ज्ञानमई तथा निर्विकार परमानन्द रूप एक सुखमई आदि लक्षणोंके धारी हैं इनसे जितना आकाश भरा हुआ है व जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य भी व्यापक हैं इस तरह जो पांचों द्रव्योंके समूहको रखता हुआ वर्तता है वह इस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें रहनेवाला लोकाकाश है। वास्तवमें आकाश सहित जो इन पांच द्रव्योंका आधार है वह छः द्रव्यका समूहरूप लोक सदा ही है उसके बाहर अनन्तानन्त खाली जो आकाश है वह अलोकाकाश है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—आचार्य इस गाथामें छः द्रव्योंके क्षेत्रको बताते हैं। सबसे बड़ा आकारवाला अनन्त आकाश द्रव्य है। इसके मध्यमें अन्य पांच द्रव्य भरे हुए हैं। जितनेमें ये पांच द्रव्य हैं उसको लोक या जगत् कहते हैं। इसके बाहरके आकाशको अलोक कहते हैं—धर्मास्तिकाय लोकाकाशके बराबर एक अखंड द्रव्य है—अधर्मास्तिकाय भी ऐसा ही है—ये दोनों लोकाकाशमें व्यापक हैं। कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं। वे एक दूसरेसे कभी मिलते नहीं परंतु लोकाकाशमें इसतरह फैले हैं कि कोई प्रदेश कालद्रव्यके विना शेष नहीं है। यदि प्रदेशरूपी गजसे माप करें तो लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश होंगे इस तरह हरएक प्रदेश कालद्रव्यसे छाया हुआ है। जीव अनन्तानंत हैं—सो लोकाकाशमें खचाखच भरे हैं—

उनमें बहुत भाग ऐसे शरीरधारियोंका है जो एक शरीरमें अनता नत एक साथ रह सक्ते हैं जैसे निगोद शरीरधारी जीव-सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति जो किसी इद्रियके गोचर नहीं है व जो पर्वतादिके भीतरसे भी निकल जाते हैं तथा निराधार हैं, इस सर्वलोकमें खचाखच भरे हैं तथा बादर एकेन्द्रियसे पचेंद्री पर्यंत जीव जो आधारमें उत्पन्न होते है तथा यथासभव रुकते है व रोकते हैं वे भी यथासभव यत्र तत्र पाए जाते हैं। प्रयोजन यह है कि कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहा ससारी जीव न हों। जीवोंसे भी अनन्तानतगुणे पुद्गल हैं। परमाणु अविभागी पुद्गलके खडको कहते है। दो या अधिक परमाणुओंसे बने हुए बधरूप समुदायको स्कध कहते है। इनमें बहुत भाग सूक्ष्म है वे एक दूसरेको अवकाश देते हुए रहते हैं इसतरह पुद्गलोंसे भी कोई आकाशका प्रदेश खाली नहीं है। छः द्रव्य जहा हर जगह पाए जाते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। इसके बाहर जहा केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है।

श्री नेमिचद्रसिद्धातचक्रवर्तीने द्रव्यसग्रहमें कहा है—

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य सति जावदिये ।
आयासे सो लोगो ततो परदो अलोगुत्तो ॥

अर्थात्-धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाशमें हैं वह लोक है उसके बाहर अलोक है।

प्रयोजन यह है कि इस छः द्रव्यमई लोकमें निज आत्मा ही उपादेय है, अन्य सब ज्ञेय है। इस भावनासे ही वह साम्यभाव प्राप्त होता है जिसकी आवश्यक्ता सम्यक्चारित्रके लिये है॥३७॥

उत्थानिका–आगे द्रव्योंमें सक्रिय और निःक्रिय भेदको दिखलाते हैं यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गलमें अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं जबकि शेष द्रव्योंमें मुख्यतासे अर्थपर्याय होती है इसको सिद्ध करते हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो॥ ३८॥

उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य।
परिणामा जायन्ते संघाताद्वा भेदात्॥ ३८॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(लोगस्स) इस छः द्रव्यमई लोकके (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपी अर्थ पर्याय होते हैं तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमई लोकके अर्थात् पुद्गल और जीवोंके (परिणामा) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (संघादादो) संघातसे (व) या (भेदादो) भेदसे (जायंते) होते हैं।

नोट–यहां वृत्तिकारकी अपेक्षा छोड़कर अपनी समझसे अन्वय किया है।

विशेषार्थ–यह लोक छः द्रव्यमई है। इन सब द्रव्योंमें सत्पना होनेसे समय समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते हैं उनको अर्थ पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलोंमें केवल अर्थ पर्याय ही नहीं होती किन्तु संघात या भेदसे व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालकी मुख्यतासे एकसमयवर्ती अर्थ पर्यायें ही होती हैं तथा जीव और पुद्गलोंके अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं। किस तरह होती हैं सो कहते हैं। जो समय समय परिणमन रूप अवस्था है उसको

अर्थ पर्याय कहते हैं। जब यह जीव इस शरीरसे छूटकर अन्य भवके शरीरके साथ मिलाप करता है तब जीवके प्रदेशोंका आकार बदलता है तब विभाव व्यंजन पर्याय होती है। इसी ही कारणसे कि यह जीव एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाता है इसको क्रियावान कहते हैं। तैसे ही पुद्गलोंकी भी व्यंजन पर्याय होती हैं। जब कोई विशेष स्कंधसे छूटकर एक पुद्गल अपने क्रियावानपनेसे दूसरे स्कंधमें मिल जाता है तब आकार बदलनेसे विभाव व्यंजन पर्याय होती है। मुक्त जीवोंके स्वभाव व्यंजन पर्याय इस तरह होती है सो कहते हैं। निश्चय रत्नत्रयमई परम कारण समयसाररूप निश्चय मोक्षमार्गके बलसे अयोगी गुणस्थानके अंत समयमें नख केशोंको छोड़कर परमौदारिक शरीरका विलय होता है इस तरहका नाश होते हुए केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयकी व्यक्तिरूप परम कार्य समयसार रूप सिद्ध अवस्थाका स्वभाव व्यंजन पर्यायरूप उत्पाद होता है यह भेदसे ही होता है संघातसे नहीं होता है क्योंकि मुक्तात्माके अन्य शरीरके सम्बन्धका अभाव है।

भावार्थ—यह लोक छ: द्रव्योंका समुदाय है। हरएक द्रव्य सामान्य और विशेष रूप गुणोंका समुदाय है—गुणोंमें सदा परिणमन या पर्याय हुआ करती हैं—इस परिणमनको अर्थ पर्याय कहते हैं। ऐसी अर्थपर्यायें छः द्रव्योंमें होती रहती हैं। इनके भी दो भेद हैं—एक स्वभाव अर्थपर्याय, एक विभाव अर्थपर्याय। स्वभाव अर्थपर्याय अगुरुलघु नामके सामान्य गुणके विकार हैं। ये स्वभाव पर्यायें बारह तरहकी होती हैं—छः वृद्धिरूप छः हानिरूप। अर्थात् अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात

गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, इसी तरह अनंत भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुण हानि, असंख्यात गुण हानि, अनंतगुण हानि। श्री देवसेन आचार्य कृत आलाप पद्धतिमें कहा है:—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले॥ १॥

अर्थ-अनादि अनंत द्रव्यके भीतर स्वभाव पर्यायें प्रति समयमें इस तरह होती रहती हैं जैसे जलके भीतर लहरें उठती हैं बैठती हैं। इस दृष्टांतसे यह भाव झलकता है कि जैसे निर्मल क्षीर समुद्रके जलमें जब तरंगें होती हैं तब कहीं पर पानी कुछ ऊंचा व कहींपर कुछ नीचा होजाता है परन्तु न पानी कमबढ़ होता न मैला होता है तैसे द्रव्योंके भीतर जो अगुरुलघुगुण है उसमें परिणमन होता है। केवल अवस्थामें परिणमन होते हुए भी गुण कम बढ़ नहीं होता है न विभाव रूप परिणमता है। इन स्वभाव पर्यायोंका स्वरूप क्या है सो अच्छी तरह नहीं प्रगटा है इसको आगम प्रमाणसे गृहण करना योग्य है। ये स्वभाव अर्थ पर्यायें तो सब द्रव्योंमें सदा होती रहती हैं। जीव और पुद्गलोंमें विभाव अर्थ पर्याय भी होती हैं जैसे जीवोंमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानगुणका विभावपरिणमन है। संक्लेश रूप तथा विशुद्ध रूप चारित्र गुणका विभाव परिणमन है। पुद्गलोंमें एक रससे अन्य रस रूप, एक गंधसे अन्य गंध रूप, एक स्पर्शसे अन्य स्पर्श रूप, एक वर्णसे अन्य वर्णरूप परिणमन विभाव गुणपर्यायें हैं या विभाव अर्थ पर्यायें हैं।

एक आकारमें हलन चलन या बदलनेको व्यंजन पर्याय कहते हैं। ये पर्यायें धर्म अधर्म आकाश कालमें नहीं होती हैं। किन्तु जीव और पुद्गलोंमें होती हैं। जब यह जीव एक शरीरमें रहता हुआ भी हलन चलन करता है, मन वचन कायके कार्यके द्वारा सकम्प होता है, तथा समुदायके द्वारा फैलता है, और फिर शरीर प्रमाण होता है तथा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाकर उस शरीरप्रमाण होजाता है, उस शरीरमें रहते हुए शरीरकी वृद्धिके साथ फैलता है तब जीवके विभाव व्यंजन पर्याय होती हैं। जब यह जीव संसार अवस्थाको त्यागकर मुक्त अवस्थामें पहुंचता है तब इसका आकार अंतिम शरीरसे कुछ कम रहता है—अरहंतका देह अयोगी गुणस्थानमें कपूरके समान उड़ जाता है केवल नख केश रह जाते हैं। इससे यह झलकता है कि जहां आत्माके प्रदेश व्यापक हैं वह सब भाग उड़ जाता है और जहां आत्माके प्रदेश नहीं हैं वह भाग पडा रहता है जैसे नख केश, क्योंकि शरीर सहित आत्माकी माप करनेसे नख-केशोंकी भी माप होजायगी इसीलिये नखकेशोंकी कमीको निकालकर जो कुछ आकार आत्माका शरीर रहते हुए रहता है वही सिद्ध अवस्थामें होता है इसीसे इस आकारको अंतिम शरीरसे कुछ कम कहते हैं, क्योंकि अब सिद्धोंका आकार नहीं बदलेगा न हलन चलन करेगा इसलिये सिद्धोंके आकारको स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। पुद्गलोंमें परमाणुओंका परस्पर मेल होनेसे व कुछ परमाणुओंका व कोई स्कंधके भागका किसी स्कंधसे भेद होनेपर उन ही परमाणुओंका व स्कंधके भागका व उनमेंसे कुछका अन्य

स्कंधके साथ संघात या मेल होनेपर जो विशेष स्कंध होता है वह विभावव्यंजनपर्याय है। अविभागी परमाणु विना किसीके मिलापके जबतक है तबतक स्वभाव व्यंजन पर्यायरूप है। इस तरह व्यंजन पर्यायें जीव और पुद्गलोंमें होती है। ऐसा ही आलापपद्धतिमें कहा है:—

धर्माधर्मनभः काला अर्थपर्यायगोचराः।
व्यञ्जनेन तु संबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और कालमें अर्थ पर्यायें ही होती हैं किन्तु जीव पुद्गलोंमें अर्थ पर्याय भी होती है व व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। इसी कारणसे चार द्रव्य क्रिया रहित अर्थात् हलनचलन रहित निःक्रिय हैं और जीव पुद्गल क्रियावान अर्थात् हलनचलन सहित हैं।

प्रयोजन यह है कि अपने आत्माको संसार अवस्थामें आवागमनरूप क्रियाके भीतर चौरासी लाख योनियोंके द्वारा क्लेश उठाते जानकर उसको सिद्ध अवस्थामें पहुंचानेका यत्न करना चाहिये जिससे यह जीव भी निःक्रिय होजावे क्योंकि सिद्धात्मा हलनचलन क्रिया रहित है। स्वभावमें लोकाग्र एक आकारमें विना सकम्प हुए विराजमान हैं। इसीलिये अभेद रत्नत्रय स्वरूप साम्यभावका आश्रयकर स्वानुभवका अभ्यास करना चाहिये ऐसा तात्पर्य है। इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय निष्क्रियपनाको क्रमसे कहते हुए प्रथम स्थलमें तीन गाथाएं समाप्त हुईं॥ ३८॥

उत्थानिका—आगे ज्ञानादि विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंके भेदोंको बताते हैं:—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जोवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ ३९ ॥
लिङ्गैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम् ।
ते तद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जेहिं लिंगेहिं) जिन लक्षणोंसे (जीवमजीवं दव्वं) जीव और अजीव द्रव्य (विण्णादं हवदि) जाने जाते हैं (ते) वे लक्षण या चिन्ह (तब्भावविसिट्ठा) उनके साथ तन्मयताको रखनेवाले (मुत्तामुत्ता गुणा) मूर्तीक और अमूर्तीक गुण (णेया) जानने चाहिये ।

विशेषार्थ-स्वाभाविक शुद्ध परम चैतन्यके विलास रूप विशेष गुणोंसे जीव द्रव्य तथा अचेतन या जड़रूप विशेष गुणोंसे अजीव द्रव्य पहचाने जाते हैं। ये चेतन तथा अचेतन गुण अपने२ द्रव्यसे तन्मय हैं । जैसे शुद्ध जीव द्रव्यमें जो केवल ज्ञान आदि गुण हैं उनकी शुद्ध जीवके प्रदेशोंके साथ जो एकता, अभिन्नता तथा तन्मयता है उसको तद्भाव कहते हैं। इस तरह शुद्ध जीव द्रव्य अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा अपने शुद्ध गुणोंसे तन्मय है परन्तु जब गुणोंका और उन प्रदेशोंका जहां वे गुण पाए जाते हैं संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद किया जाता है तब गुण और द्रव्यमें अतद्भावपना या भेदपना भी सिद्ध होता है। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा अभेदरूप व किसी अपेक्षा भेदरूप हैं । अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि जिस द्रव्यके जो विशेष गुण हैं वे अपने द्रव्यसे तो तद्भावरूप या तन्मय हैं परन्तु अन्य द्रव्योंसे वे अतद्भावरूप या भिन्न हैं । ये चेतन अचेतन गुण दो प्रकारके जानने चाहिये-मूर्तीक और अमू-

र्तीक अर्थात् मूर्तीक द्रव्योंके मूर्तीक गुण और अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक गुण समझने चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य यह बताते हैं कि जीव और अजीव द्रव्योंको किस तरह पहचाना जाता है। जो अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व तथा प्रमेयत्व सामान्यगुण हैं वे तो सर्व छहों द्रव्योंमें व्यापक हैं उनसे जीव और अजीव द्रव्योंकी भिन्नता नहीं जानी जा सक्ती है। इसलिये भिन्न २ द्रव्योंमें भिन्न २ विशेष गुण हैं जिनसे वह विशेष द्रव्य जाना जा सक्ता है। वे विशेष गुण अपने २ द्रव्यसे तो तन्मयपना रखते हैं परन्तु अन्य द्रव्यसे बिलकुल भिन्न हैं। तथा अपने २ द्रव्यके साथ भी वे गुण प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेदरूप हैं परन्तु सज्ञादिकी अपेक्षा भेदरूप या भिन्न हैं। जिन लक्षणोंसे द्रव्योंको भिन्न २ जाने उन लक्षणोंको किसी अपेक्षा मूर्तीक और अमूर्तीक गुण कह सक्ते हैं। अर्थात् जो मूर्तीक द्रव्य हैं उनके विशेष गुण मूर्तीक हैं तथा जो अमूर्तीक द्रव्य हैं उनके विशेष गुण अमूर्तीक हैं। छ द्रव्योंमे पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है इसलिये उसके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भी मूर्तीक हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अमूर्तीक हैं इसलिये उनके विशेष गुण चेतन्यादि भी अमूर्तीक हैं। ये छहों द्रव्य अपने अपने विशेष गुणोंसे ही भिन्न २ जाने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें निज आत्मा ही उपादेय है।

श्री योगेन्द्राचार्यने योगसारमें कहा है —

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्ण वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहु भवपारु॥ ५४॥

भावार्थ-पुद्गलादि द्रव्य अन्य हैं, जीव अन्य है तथा जगतका सब व्यवहार भी अन्य है। यदि यह जीव पुद्गलादि सर्वको त्याग करके निज आत्माको ग्रहण करे तो शीघ्र मोक्षकी प्राप्ति करे ॥३९॥

इस तरह गुणोंके भेदसे द्रव्यका भेद जानना चाहिये।

उत्थानिका-आगे मूर्तीक और अमूर्तीक गुणोंका लक्षण और सम्बन्ध कहते हैं —

मुत्ता इन्दियगेज्झा पोग्गलद व्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ ४० ॥

मूर्ता इंद्रियग्राह्या पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा ।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः ॥ ४० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ (इंदियगेज्झा) इंद्रियोंके ग्रहण करने योग्य गुण (मुत्ता) मूर्तीक होते हैं वे गुण (अणेगविधा) वर्ण आदिके भेदसे अनेक प्रकार हैं तथा (पोग्गल दव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी हैं। (अमुत्ताण दव्वाण) अमूर्तीक द्रव्योंके (गुणा) गुण (अमुत्ता) अमूर्तीक (मुणेदव्वा) जानने योग्य हैं।

विशेषार्थ-जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे मूर्तीक गुण हैं और जो इंद्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण किये जावें वे अमूर्तीक गुण हैं इसतरह मूर्तीक गुणोंका लक्षण इंद्रियोंका विषयपना है जब कि अमूर्तीक गुणोंका लक्षण इंद्रियोंका विषयपना नहीं है। मूर्तीक गुण अनेक प्रकारके पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी होते हैं तथा केवलज्ञान आदि अमूर्तीक गुण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्मा द्रव्यको आदि लेकर अमूर्तीक द्रव्योंके होते हैं। इसतरह मूर्त और अमूर्त गुणोंके लक्षण और सम्बन्ध जानने योग्य हैं।

भावार्थ–इस लोकमें छः द्रव्य हैं उनमेंसे केवल एक पुद्गल मूर्तीक है क्योंकि उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्शन इंद्रियोंके द्वारा क्रमसे जाननेमें आते हैं। और इसी लिये इस पुद्गलके वर्णादि गुणोंको मूर्तीक गुण कहते हैं तथा जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं क्योंकि इनके विशेष गुण पांचों ही इंद्रियोंसे नहीं जाने जासक्ते। जीवके केवलज्ञानादि गुण, धर्मका गतिहेतुपना, अधर्मका स्थितिहेतुपना कालका वर्तना तथा आकाशका अवगाह देना ये सर्व कोई भी इंद्रियोंसे देखे, सूंघे, चखे, स्पर्शे तथा सुने नहीं जाते हैं इसलिये जैसे ये पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं वैसे इनके विशेष गुण भी अमूर्तीक हैं। क्योंकि गुण और गुणी तादात्म्य सम्बन्ध रखते हैं तथा गुणोंके अखंड सर्वांग व्यापक समूहका ही नाम द्रव्य है इसलिये मूर्तीक गुणधारी द्रव्य मूर्तीक होते हैं और अमूर्तीक गुणधारी द्रव्य अमूर्तीक होते हैं। यद्यपि पुद्गलके बहुतसे सूक्ष्म स्कंध तथा सर्व ही अविभागी परमाणु किसी भी इंद्रियसे नहीं जाननेमें आते तथापि जब भेदसंघातसे वे सूक्ष्म स्कंध स्थूल होजाते हैं तथा परमाणुओंके संघातसे स्थूलस्कंध बन जाते हैं। तब वे किसी न किसी इंद्रियके द्वारा जाननेमें आजाते हैं जैसे आहारक वर्गणाको हम देख नहीं सक्ते परन्तु उनसे बने हुए औदारिक शरीरको देखते हैं, भाषा वर्गणाको हम देख नहीं सकते व सुन नहीं सक्ते परन्तु उनके बने शब्दोंको हम सुन सक्ते हैं। यद्यपि ये सूक्ष्म स्कंध तथा परमाणु इंद्रियगोचर नहीं हैं तथापि उनमें इंद्रियगोचर होनेकी शक्ति है तथा ये सब पुद्गल हैं और इन ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण

गुणको वे रखते हैं जिनको इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जासक्ता है इसलिये वे भी मूर्तीक हैं और उनके गुण भी मूर्तीक हैं ।

श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्राचार्य कहते हैं–

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः ।
पंच द्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः ॥ १६३ ॥

भावार्थ–क्योंकि पांच द्रव्योंमें मूर्तीक शब्द पर्याय वा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण नहीं होते हैं इसलिये वे अमूर्तीक हैं जब कि मात्र एक पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है क्योंकि इनमें ये चार गुण होते हैं और शब्द इसी मूर्तीक पुदल द्रव्यकी पर्याय है । तात्पर्य यह है कि इन मूर्त्त और अमूर्त द्रव्योंमें मात्र अमूर्तीक एक निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ।

इस तरह ज्ञान आदि विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंमें भेद होता है ऐसा कहते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ ४० ॥

उत्थानिका–आगे मूर्तीक पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते हैं–

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवी परियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥ ४१ ॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मत्वात् ।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः ॥ ४१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(सुहुमादो पुढवी परियंतस्स) सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी पर्यंत (पुग्गलस्स) पुद्गल द्रव्यके (वण्णरसगंधफासा) वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, (विज्जंते) मौजूद पाए जाते हैं । (य) और (सद्दो) शब्द है (सो पोग्गलो चित्तो) सो पुद्गल है व नाना प्रकार है ।

विशेषार्थ—पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण स्पर्श रस गंध वर्ण हैं। वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी स्कंध रूप स्थूल तक हैं। जैसे इस गाथामें कहा है—

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥

जैसे सर्व जीवोंमें अनन्तज्ञानादि चतुष्टय विशेष लक्षण यथासंभव साधारण हैं तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलोंमें साधारण हैं। और जैसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय मुक्त जीवमें प्रगट हैं सो अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगम प्रमाणसे मान्य हैं तैसे ही शुद्ध परमाणुमें वर्णादि चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगमसे मान्य है। जैसे यही अनंतचतुष्टय संसारी जीवमें रागद्वेषादि चिकनईके कारण कर्मबंध होनेके वशसे अशुद्धता रखते हैं तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे दो अणु तीन अणु आदिकी बंध अवस्थामें वर्णादि चतुष्टय भी अशुद्धताको रखते हैं। जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे इन अनन्तज्ञानादि चतुष्टयकी शुद्धता होजाती है तसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुणके न होनेपर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणुकी अवस्थामें शुद्धता रहती है। और जैसे नरनारक आदि जीवकी विभाव पर्याय हैं तैसे यह शब्द भी पुद्गलकी विभाव पर्याय है—गुण नहीं है क्योंकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है। यहां नैयायिक मतके अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाशका गुण है इसका खंडन करते हैं कि यदि शब्द

आकाशका गुण हो तो शब्द अमूर्तीक होजावे। जो अमूर्त वस्तु है वह कर्ण इंद्रियसे ग्रहण नहीं होसक्ती और यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि शब्द कर्ण इंद्रियका विषय है। बाकी इंद्रियोंका विषय क्यों नहीं होता है? ऐसी शंकाका समाधान यह है। अन्य इंद्रियका विषय अन्य इंद्रिय द्वारा नहीं ग्रहण किया जासका ऐसा वस्तुका स्वभाव है जैसे रसादि विषय रसना इन्द्रिय आदिके हैं। वह शब्द भाषारूप, अभाषारूप, प्रायोगिक और वैश्रसिकरूप अनेक प्रकारका है जैसा पंचास्तिकायकी "सद्दो खंधप्पभवो" इस गाथामें समझाया है यहां इतना ही कहना बश है।

भावार्थ–इस गाथमें आचार्यने पुद्गलके विशेष गुणोंको बताकर उसकी अवस्थाओंको भी समझाया है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये चार पुद्गलके मुख्य गुण हैं–रूखा, चिकना, गर्म, ठंढा, हलका भारी, नरम, कठोर आठ तरहका स्पर्श होता है। खट्टा, मीठा, चर्परा, तीखा कषायला पांच तरहका रस होता है। सफेद, लाल, पीला, नीला, काला पांच तरहका वर्ण होता है। सुगंध, दुर्गंध दो तरहकी गंध होती । इनमेंसे एक समयमें ५ गुण पुद्गलके एक अविभागी परमाणुमें पाए जाते हैं जैसे स्पर्शके दो रूखा अथवा चिकना, गरम या ठंढा अर्थात् कोई परमाणु रूखा होगा कोई चिकना होगा, कोई गरम होगा कोई ठंढा होगा। रस एक कोई, गंध एक कोई, वर्ण एक कोई इस तरह पांच गुण परमाणुमें पाए जांयगे। दो परमाणुका या दोसे अधिक संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओंका मिलकर स्कंध बन जाता है। स्कंधमें एक समयमें सात गुण पाएं जांयगे हलका या भारी, कोमल या कटोर ऐसे दो और बढ़

जायगे। इन स्कंधोंकी अनेक अवस्थाए जगतमें होरही हैं। उन्हीका दिग्दर्शन करानेके लिये पुद्गलकी छ जातिकी अवस्थाए बताई गई हैं–

(१) स्थूल स्थूल–जिसके खड किये जावें तो वे बिना किसी चीजका जोड लगाये स्वय न मिल सकें। जैसे कागज, लकड़ी, कपडा, पत्थर आदि।

(२) स्थूल–जिसको अलग करनेपर बिना दूसरी चीजके जोड़के मिल जावें जैसे पानी, शरबत, दूध आदि बहनेवाले पदार्थ।

(३) स्थूल सूक्ष्म जो नेत्र इंद्रियसे जाने जावें तथा जिनको हम पकड न सकें जैसे छाया, आताप, उद्योत।

(४) सूक्ष्म स्थूल–जो नेत्र इंद्रियसे न जाने जावें किन्तु अन्य चार इंद्रियोमे किसीसे जाने जासकें जैसे शब्द, रस, गध, स्पर्श।

(५) सूक्ष्म–जो स्कंध पाचों ही इंद्रियोसे न जाने जासकें जैसे कार्माण वर्गणा आदि।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म–अविभागी पुद्गल परमाणु। यहापर पहले मूर्तीकका लक्षण कर चुके हैं कि जो इंद्रियोसे ग्रहण किया जावे सो मूर्तीक है। सूक्ष्म या सूक्ष्म सूक्ष्म जब इंद्रियोसे नहीं ग्रहण किये जा सके तब उनको मूर्तीक न मानना चाहिये? इस शङ्काका समाधान यह है कि इन सबोंमें स्पर्श, रस, गध, वर्ण हैं जिनको इंद्रिया ग्रहण कर सक्ती हैं परन्तु वे ऐसी दशामें हैं जिनको इंद्रिय अगोचर व्यवहारमें कहते हैं। वे ही जब भेद सघातसे परिणमते हैं तब कालातरमें इंद्रियोंके गोचर हो जाते हैं उनमे शक्ति तो है परन्तु व्यक्ति कालान्तरमें हो जायगी। इसलिये सूक्ष्म भी इंद्रियगोचर मूर्तीक कहे जाते हैं। यदि मूर्तीकपना

परमाणुओंमें नहीं होता तो इन्हींके बने हुए स्थूल स्कंध इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। पुद्गलकी सर्व रचना परमाणुओंके मिलने विछुड़नेसे हुआ करती है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये सब परमाणुओंके भिन्न २ प्रकारके बंधके संगठनकी अपेक्षा नाना प्रकार स्कंध हैं। ऐसा नहीं है कि इनके परमाणु अलग अलग ही हैं। क्योंकि जगतमें देखनेमें आता है कि ये चारों परस्पर अदलते बदलते रहते हैं जैसे लकड़ीसे अग्नि बनती है, औनोमा अन्नसे पेटमें वायु पैदा होती है, चंद्रकांति मणि पृथ्वीकायसे चंद्रमाकी किरणका सम्बंध होनेपर जल झड़ने लगता है। सूर्यकांतिमणि पृथ्वीकाय है, सूर्य किरणका सम्बन्ध होनेपर उसमेंसे अग्नि प्रगट होजाती है, जलसे पृथ्वीकाय मोती पैदा हो जाता है, अग्निसे धूआं बन जाता है जिसको एक तरहकी वायु कहते हैं, वायुके मिलानेसे जल बन जाता है। जल जमकर बरफकी शिलारूप पृथ्वी बन जाती है, क्योंकि कठोरता आदि प्रगट हो जाते हैं। इसतरह परिवर्तन होते होते पुद्गल परमाणुओंकी ही अनेक अवस्थाएं माननी चाहिये। यदि पृथ्वी जल आदिके भिन्न २ परमाणु होते तो परिवर्तन नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि यद्यपि पृथ्वीमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण चारों हैं क्योंकि चारों इन्द्रियोंसे जाने जा सके हैं परन्तु जलमें गंध नहीं है, क्योंकि नाक जलको नहीं सूंघ सकी, अग्निमें गंध रस नहीं है क्योंकि घ्राण तथा जिह्वा ग्रहण नहीं कर सकी। पवनमें गंध, रस, वर्ण नहीं है क्योंकि घ्राण, जिह्वा और नेत्र उसको ग्रहण नहीं करते हैं। इसका समाधान यह है कि पुद्गल

कभी भी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुणोंसे छूट नहीं सक्ता किंतु अनेक प्रकारके स्कंधोंमें कोई स्कंध किसी गुणको प्रगट रूपसे दिखाते हैं कोई किसी गुणको अप्रगटपने रखते हैं। गुण, गुणीसे कभी जुदे नहीं हो सक्ते। यदि सूक्ष्मतासे देखा जावे तो इन जलादिमें अन्य गुण भी प्रगट झलक जायगे। जलको हम सूंघ भी सक्ते हैं परन्तु उसकी गंध स्पष्ट नहीं मालूम होगी। कभी किसी जलकी मालूम भी हो जायगी। एक वस्तु जल संयोगके विना भिन्न गंधको रखती है वही वस्तु जल संयोगसे गंधको बदल देती है। सूखा आटा और गीला आटा भिन्न २ गंधको प्रगट करते हैं। यदि जलमें गंध न होती तो ऐसा नहीं हो सक्ता। अग्निसे पकाए हुए भोजनोंमें भिन्न प्रकारका रस तथा गंध होजाता है। यदि अग्निमें रस या गंध नहीं होते तो ऐसा नहीं हो सक्ता था। पवनके सम्बन्धसे वृक्षादिमें भिन्न प्रकारका रस, गंध, वर्ण होजाता है। यदि पवनमें ये रस, गंध, वर्ण न होते तो इसके संयोगसे विलक्षणता न होती। पुद्गलोंमें अनेक जातिके परिणमन होते हैं। हम अल्पज्ञानी किसी स्कंधको प्रगटपने चारों इंद्रियोंसे न ग्रहण कर सकें परन्तु सूक्ष्मज्ञानी हरएक परमाणुमात्रमें भी चारों ही गुणोंको जानते देखते हैं। हम शक्तिके अभावसे यदि न जानें तो क्या उन गुणोंका अभाव हो सक्ता है? कदापि नहीं। शब्द भी पुद्गलकी अवस्था विशेष है। दो पुद्गलोंके एक दूसरेसे टक्कर खानेपर जो भाषा वर्गणा तीन लोकमें फैली है उनमें शब्द पना प्रगट होजाता है। यह पुद्गलका गुण नहीं है, किन्तु और अंतरंग निमित्तसे पैदा होनेवाली एक विशेष अवस्था

इस अवस्थाको पुद्गलकी व्यंजन पर्याय कह सक्ते हैं। जो जो पर्यायें स्कंधोंकी होती हैं वे सब व्यंजन पर्याय हैं । आकारके पलटनेको ही व्यंजन पर्याय कहते हैं । अमूर्तीक आकाशका गुण शब्द नहीं हो सक्ता क्योंकि शब्द मूर्तीक है इसीलिये कर्ण इंद्रियके गोचर है तथा अन्य पवन, आग, जल, पृथ्वीकी तरह रोका जा सक्ता है ।

शब्द सूक्ष्म स्थूल है इसीलिये कर्णके सिवाय, और इंद्रियें उसको ग्रहण नहीं कर सकीं ।

शब्द अक्षर रूप भी होते हैं अनक्षर रूप भी होते हैं । मनुष्योंके शब्द अक्षररूप, पशुओंके अनक्षररूप होते हैं । मनुष्यकी प्रेरणासे तरह तरहके वाजेके शब्द अनक्षर होते हैं, तथा स्वाभाविक बादलोंकी गर्जना होना, बिजलीका तड़कना, अग्निका चटकना आदि अनक्षररूप शब्द होते हैं ।

वृत्तिकारने जैसा दिखाया है उसको समझकर पुद्गलके भी शुद्ध अशुद्ध भेद समझ लेना। जो परमाणु बंध योग्य नहीं है वह शुद्ध है तथा जो बंधरूप है वह अशुद्ध है । जैसे स्निग्ध व रूक्ष गुण पुद्गलके बंधका कारण है वैसे राग द्वेष मोह संसारी आत्माके बंधका कारण है । इसलिये जो जीव बंधकी अवस्थासे हटकर अबंध होना चाहते हैं उनको उचित है कि वे रागद्वेष मोहको त्याग करके साम्यभावरूपी चारित्रको धारण करें । यह तात्पर्य है।

श्री पंचास्तिकायमें आचार्य महाराजने पृथ्वी आदिका कारण परमाणु है तथा शब्द पुद्गलका गुण नहीं है किन्तु एक विशेष जातिका पुद्गलोंका परिणमन है, ऐसा बताया है—

आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु ।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

भावार्थ—जो संज्ञा आदि भेदसे मूर्तिमान है, प्रदेशापेक्षा वर्णादिमई मूर्तिसे अभेद है; पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार धातुओंका कारण है, परिणमन स्वभाव है, स्वयं शब्दरहित है सो परमाणु है।

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

भावार्थ—शब्द स्कंधोंके द्वारा पैदा होता है, स्कंध परमाणुओंके मेलसे बनते हैं और उन स्कंधोंके परस्पर संघट्ट होनेपर शब्द पैदा होता है—भाषा वर्गणा योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्दके अभ्यंतर कारण हैं लोकमें हर जगह हर समय मौजूद हैं। जब तालु, ओठ आदिका व्यापार होता है या घंटेकी चोट होती है या मेघादिका मिलान होता है तब भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं शब्द रूपमें परिणमन कर जाते हैं। निश्चयसे भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दोंके उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—आगे आकाश आदि अमूर्त द्रव्योंके गुणोंको बताते हैं:—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४२ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४३ ॥

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥ ४२ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः।
ज्ञेया संक्षेपाद् गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥४३॥ (युगलम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आगासम्सवगाहो) आकाश द्रव्यका विशेप गुण सर्व द्रव्योंको जगह देना ऐसा अवगाह गुण है, (धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्त) धर्म द्रव्यका विशेपगुण जीव पुद्गलोंके गमनमें कारण ऐसा गमनहेतुत्त्व है, (पुणो धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाण कारणदा) तथा अधर्म द्रव्यका विशेप गुण जीव पुद्गलोंको स्थितिका कारण स्थानकारणता है, (कालस्स वट्टणा से) काल द्रव्यका विशेप गुण सभी द्रव्योंमे समय२ परिणमनकी प्रवृत्तिका कारण वर्तना है और (अप्पणो गुणोवओत्ति भणिदो) आत्माका विशेप गुण उपयोग है ऐसा कहा गया है। (हि) निश्चयसे (मुत्तिप्पहीणाण गुणा) मूर्ति रहित द्रव्योंके विशेप गुण इस तरह (मसेवादो णेया) सक्षेपसे जानने योग्य हैं ।

विशेपार्थ सर्व द्रव्योंको साधारणरूपमें अवगाह देनेका कारणपना आकाशका ही विशेप गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह गुण असभव है इसलिये इस विशेप गुणसे आकाशका निश्चय होता है । एक समयमें गमन करते हुए सर्व जीव तथा पुद्गलोंको साधारण गमनमे हेतुपना धर्म द्रव्यका ही विशेप गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह असभव है । इसी गुणसे धर्म द्रव्यका निश्चय होता है । इसी तरह एक समयमें स्थिति करते हुए जीव पुद्गलोंको साधारण स्थितिमें कारणपना अधर्म द्रव्यका ही विशेप गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह असम्भव है। इसी गुणसे अधर्म द्रव्यका निश्चय होता है । एक समयमें सर्व द्रव्योंकी पर्यायोंके परिणमनमें हेतुपना काल द्रव्यका विशेप गुण है क्योंकि अन्य द्रव्योंमें यह असम्भव है । इसी गुणसे काल द्रव्यका निश्चय होता है ।

सर्व जीवोंमें साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीव द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य पांच अचेतन द्रव्योंमें यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुणसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यका निश्चय होता है। यहां यह प्रयोजन है कि यद्यपि पांच द्रव्य जीवका उपकार करते हैं तो भी इनको दुःखका कारण जान करके जो अक्षेय और अनन्त सुख आदिका कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसीको ही मनसे ध्याना चाहिये वचनसे उसका ही वर्णन करना चाहिये तथा शरीरसे उसीका ही साधक जो अनुष्ठान या क्रिया कर्म है उसको करना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अमूर्तीक पांच द्रव्योंके विशेष गुण बताये हैं। एक समयमें सर्व द्रव्योंको साधारण अवकाश देनेवाला कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये यह गुण सिवाय आकाशके और किसी द्रव्यमें नहीं हो सक्ता क्योंकि आकाश अनन्त है, उसीके मध्यमें अन्य पांच द्रव्य अवगाह पारहे हैं तथा लोकाकाशमें जहां कहीं कोई जीव या पुद्गल जगहकी जरूरत रखते हैं उनको अवकाश देनेवाला उदासीन कारणरूप आकाशका ही अवगाह गुण है। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त कारणकी जरूरत पडती है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और कालके असंख्यात कालाणु तो क्रिया अर्थात् हलन चलनरहित हैं, अनादिकालसे लोकाकाश व्यापी हैं। जीव पुद्गल ही क्रियावान तथा हलन चलन करते हैं। ये दोनों द्रव्य अपनी ही उपादान शक्तिसे जगह लेते, चलते तथा ठहरते हैं। इनके इन तीन कार्योंके लिये सर्व जीव पुद्गलोंके

लिये एक साधारण निमित्त कारण अवकाश देनेमें आकाश द्रव्य है, गमन करनेमें धर्म द्रव्य है, स्थिति होनेमें अधर्म द्रव्य है। सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं उनमें पर्यायकी पलटन अपनी ही उपादान शक्तिसे होती है परन्तु उनके परिणमनमें निमित्त कारण कालद्रव्य है। आत्मा ज्ञान दर्शन उपयोग रखता है यह आत्माका विशेष गुण है जो औरोंमें नहीं पाया जाता। आत्मा ज्ञाता भी है, ज्ञेय भी है जब कि सब द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं, ज्ञाता नहीं है। ये पांच द्रव्य स्पर्श, रस, गंध है, वर्णसे रहित हैं इसी लिये अमूर्तीक हैं, पुद्गल मात्र मूर्तीक है। इन छहों द्रव्योंके भीतर एक निज आत्मा ही ग्रहण योग्य है ॥ ४४ ॥

इस तरह किस द्रव्यके क्या विशेष गुण होते हैं ऐसा कहते हुए तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका-आगे कालद्रव्यको छोड़कर जीव आदि पांच द्रव्योंके अस्तिकायपना है ऐसा व्याख्यान करते हैं-

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं ।
देसेहिं असंखादा णत्थि पदेसत्ति कालस्स ॥ ४४ ॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
प्रदेशैरसंख्याता न संति प्रदेशा इति कालस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जीवा पोग्गलकाया) अनन्तानंत जीव और अनंतानन्त पुद्गल (धम्माऽधम्मा) एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य (पुणो य आयासं) और एक आकाशद्रव्य (देसेहिं असंखादा) अपने प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा संख्यारहित हैं, (कालस्स णत्थि पदेसत्ति) काल द्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं हैं।

विशेषार्थ–हरएक जीव संसारकी अवस्थामें व्यवहार नयसे अपने प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होनेके कारणसे दीपकके प्रकाशकी तरह अपने प्रदेशोंकी संख्यामें कमी व बढ़ती न होता हुआ शरीरके प्रमाण आकार रखता है तौभी निश्चयसे लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशवाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित हैं उनके प्रदेश लोकाकाशके बराबर असंख्यात हैं। स्कंध अवस्थामें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं, किन्तु पुद्गलके व्याख्यानमें प्रदेश शब्दसे परमाणु ग्रहण करने योग्य हैं, क्षेत्रके प्रदेश नहीं क्योंकि पुद्गलोंका स्थान अनन्त प्रदेशवाला क्षेत्र नहीं है। सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाशमें हैं उनके स्कंध अनेक जातिके बनते हैं– संख्यात परमाणुओंके, असंख्यात परमाणुओंके तथा अनंत परमाणुओंके स्कंध बनते हैं वे सूक्ष्म परिणमनवाले भी होते हैं इससे लोकाकाशमें सब रह सक्ते हैं। एक पुद्गलके अविभागी परमाणुमें प्रगटरूपसे एक प्रदेशपना है मात्र शक्तिरूपसे उपचारसे बहुप्रदेशीपना है क्योंकि वे परस्पर मिल सक्ते हैं। आकाशद्रव्यके अनंत प्रदेश हैं। कालद्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं है। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओंमें परमाणुओंकी तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कंधकी अवस्थामें बदलनेकी शक्ति नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने पांच अस्तिकायोंको गिनाया है। जितने क्षेत्रको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं यह एक प्रकारका माप है। इस मापसे यदि छः द्रव्योंको मापा जाता है तो अखंड एक जीव द्रव्यके, अखंड

एक धर्मद्रव्यके, अखंड एक अधर्म द्रव्यके प्रत्येकके असंख्यात प्रदेश लोकाकाशके समान मापमें आते हैं तथा अखण्ड एक आकाशके अनन्त प्रदेश हैं। संसारी जीव शरीर प्रमाण सकुड़ने फैलनेकी अपेक्षा रहते हैं–जीवके प्रदेशोंमें ऐसी शक्ति है कि नाम कर्मके उदयके अनुसार छोटे शरीरमें छोटे शरीर प्रमाण व बड़े शरीरमें बड़े शरीर प्रमाण हो जाते हैं तो भी असंख्यातकी मापको नहीं छोड़ते हैं। सिद्ध जीव अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारवान रहते हैं। क्योंकि नामकर्मके विना मोक्ष होनेपर आत्माके प्रदेश न सकुड़ते हैं न फैलते हैं। पुद्गलद्रव्य जब एक अविभागी परमाणुरूपमें होता है तब तो वह एक प्रदेशवाला है, परन्तु उसमें मिलनेकी शक्ति है इस लिये उसको व्यवहारसे बहुप्रदेशवाला कहते हैं। इन परमाणुओंके स्कंध रूक्ष चिक्कण गुणके कारण बन जाते हैं। स्कंधकी अपेक्षा पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनंत परमाणुओंको रखनेसे संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हैं। कालद्रव्य रत्नके ढेरके समान लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें अलग२ हैं वे कभी मिल नहीं सक्ते इससे हरएक कालद्रव्य एक प्रदेशी है–काय-वान् नहीं है, तब काल सिवाय पांच द्रव्य ही कायवान ठहरे। ऐसा ही श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है:–

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविहपदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥

अर्थात्–एक जीव, धर्म, अधर्ममें असंख्यात, असंख्यात, आकाशमें अनंत, पुद्गलमें संख्यात, असंख्यात, अनंत तीन प्रकार प्रदेश होते हैं जब कि कालका एक ही प्रदेश होता है इसलिये वह काय नहीं है ॥ ४४ ॥

उत्थानिका–आगे ऊपरके ही भावको दृढ़ करते हैं–

पदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति ।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं ॥ ४५ ॥

एतानि पंचद्रव्याणि उज्झितकालं तु अस्तिकाया इति ।
भण्यते कायाः पुनः बहुप्रदेशानां प्रचयत्वं ॥ ४५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(एदाणि दव्वाणि) ये छः द्रव्य (उज्झिय कालं तु) काल द्रव्यको छोड़कर (पंच अत्थिकायत्ति) पांच अस्तिकाय हैं ऐसे (भण्णंते) कहे जाते हैं (पुण) तथा (बहुप्पदेसाण पचयत्तं काया) बहुत प्रदेशोंके समूहको काय कहते हैं।

विशेषार्थ–इन पांच अस्तिकायोंके मध्यमें एक जीव अस्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। उनमें भी अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्टीकी अवस्था, इनमेंसे भी अरहंत और सिद्ध अवस्था फिर इनमेंसे भी मात्र सिद्ध अवस्था ग्रहण करनी योग्य है। वास्तवमें तो या निश्चयनयसे तो रागद्वेषादि सर्व विकल्पजालोंके त्यागके समयमें सिद्ध जीवके समान अपना ही शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है यह भाव है।

भावार्थ–सुगम है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पांच अस्तिकायकी संक्षेपमें सूचना करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे द्रव्योंका स्थान लोकाकाशमें है ऐसा बताते हैं–

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ ४६ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामातनो लोकः ।
शेषो प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥ ४६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(णभो) आकाश द्रव्य (लोगोलोगेसु) लोक और अलोकमे है (सेसे पडुच) शेष जीव पुद्गलको आश्रय करके (लोगो धम्माधम्मेहि आददो) लोक धर्म और अधर्म द्रव्यसे व्याप्त है तथा (कालो) काल है। (पुण सेसा जीवा पुग्गला) और वे दो शेष द्रव्य जीव और पुद्गल हैं।

विशेषार्थ—लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंका आधार एक आकाश द्रव्य है इनमेंसे जीव पुद्गलोंकी अपेक्षासे धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय हैं जिनसे यह लोकाकाश व्याप्त है। अर्थात् इस लोकाकाशमे जीव और पुद्गल भरे हैं उनहीको गति और स्थितिको कारण रूप ये धर्म अधर्म भी लोकमे हैं। काल भी इन जीव पुद्गलोकी अपेक्षा करके लोकमे है क्योकि जीव पुद्गलकी नई पुराणी अवस्थाके होनेसे काल द्रव्यकी समय घड़ी आदि पर्याय प्रगट होती है। तथा जीव और पुद्गल तो इस लोकमे है ही। यहा यह भाव है कि जैसे सिद्ध भगवान यद्यपि लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशोमे है जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणोके आधारभूत हैं तथा अपने २ स्वभावमें ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे मोक्षशिलामें ठहरते है ऐसे कहे जाते हैं तैसे सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चयसे अपने अपने स्वरूपमें ठहरते हैं तथापि व्यवहार नयसे लोकाकाशमे ठहरते हैं। यहा यद्यपि अनन्त जीव द्रव्योंसे अनन्त गुणे पुद्गल हैं तथापि एक दीपके प्रकाशमें जैसे बहुतसे दीपकोंके प्रकाश समाजाते हैं तैसे विशेष अवगाहनाकी

शक्तिके योगसे असंख्यात प्रदेशी लोकमें ही सर्व द्रव्योंका स्थान पालेना विरोधरूप नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने बताया है कि आकाश एक अखंड अनंत व्यापक है उसीके दो भाग कहे जाते हैं। जितने भागमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य हैं उसको लोकाकाश कहते हैं, शेषको अलोकाकाश कहते हैं। जीव और पुद्गल इस लोकमें सर्व जगह भरे हैं। जीव अनन्तानंत हैं। यद्यपि एक जीव लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तथापि केवल समुद्घातके सिवाय कभी लोकभरमें व्यापता नहीं है। कषाय, वेदना, वैक्रियिक, तैजस, आहारक, मारणांतिक समुद्घातोंमें भी शरीरसे बाहर फैलकर आत्माके प्रदेश जाते हैं और कुछ देर बाद शरीर प्रमाण हो जाते हैं तथापि इन सात समुद्घातोंके सिवाय संसारी सब आत्माएं अपने नाम कर्मके उदयसे प्राप्त शरीरके आकार प्रमाण आकार रखते हैं। आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार शक्ति है, जो शक्ति नामकर्मके निमित्तसे परिणमन करती हुई जीवके प्रदेशोंको संकोचित व विस्तारित कर देती है। लोक प्रमाणसे अधिक एक प्रदेश भी विस्तार नहीं हो सक्ता है। मुक्त जीव अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारमें रहते हैं।

संसारी जीवोंके शरीर सूक्ष्म और बादर दो प्रकारके हैं। सूक्ष्म शरीरधारी प्राणी तथा बादर शरीरधारी प्राणी साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद राशि ऐसी है कि जिसके घनांगुलके असंख्यातवें भाग शरीरमें अनन्त जीव परस्पर अवगाह देकर ठहर सक्ते हैं। वे एक साथ जन्मते, श्वास लेते, आहार करते

तथा मरण करते हैं। इनके सिवाय सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कायिक जीव भी लोकभरमें व्याप्त हैं। सूक्ष्म जीव किसीको रोकते नहीं न किसीसे रोके जाते हैं, वे अग्निमें जलते नहीं तथा किसीसे मारे नहीं जाते हैं। बादर शरीरधारी एकेन्द्री पांच प्रकारके, द्वेइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री तथा पंचेन्द्रिय जीव भी लोकमें यथासंभव सर्वत्र पाए जाते हैं ये बादर जीव आधारमें पैदा होते हैं तथा यथायोग्य परस्पर रुकते और रोकते भी हैं और अन्यों द्वारा मरण भी प्राप्त करते हैं। इनमेंसे भी त्रसनाड़ीमें ही द्वेन्द्रियादि त्रस जीव हैं, त्रस नाड़ीके बाहर त्रस एक भी नहीं जन्मता है। स्थावर एकेंद्रिय जीव लोकमें सर्व जगह हैं। एक एक जीवके साथ अनंत पुद्गल वर्गणाएं हैं इससे जीवोंकी अपेक्षा पुद्गल अनन्त गुणे हैं तथा जीवोंके प्रदेशोंके बाहर अनन्त पुद्गल वर्गणाएं हैं जिनमें बहुतसी सूक्ष्म हैं जो एक दूसरेको अवगाह देदेती हैं। स्निग्ध रूक्ष गुणोंके कारण पुद्गल परस्पर मिलकर अनेक जातिके सूक्ष्म और बादर स्कंध बना लेते हैं। ये पुद्गल भी लोक भरमें जीवोंकी तरह मौजूद हैं- कोई स्थान लोकाकाशका ऐसा नहीं है कि जहां जीव और पुद्गल न हों। संसारी सर्व जीव और पुद्गल क्रियावान रहते हैं अर्थात् हलन चलन शक्तिको रखते हुए गमन करते हैं और स्थिति करते हैं। इनके अवगाह देनेमें जैसे लोकाकाश उदासीन निमित्त कारण है वैसे इनके गमनमें धर्मद्रव्य और स्थितिमें अधर्मद्रव्य उदासीन निमित्त कारण है। कालद्रव्य भी जीव और पुद्गलोंकी अपेक्षासे लोकभरमें हैं। इनकी संख्या असंख्यात कालाणु है। ये कालाणु सर्व द्रव्योंके नए पुराने होने-

रूप परिणमनमें उदासीन निमित्त कारण हैं। इन कालाणुओंकी ही समय समय जो परिणति होती है उससे जो समय नामका व्यवहारकालरूप पर्याय प्रगट होती है सो पुद्गलके निमित्तसे होता है। जब एक पुद्गल एक कालाणुको उलंघकर निकटवर्ती कालाणुपर जाता है उतनी देरमें जो कुछ समय लगा उसीको कालद्रव्यकी समय पर्याय कहते हैं। जब एक जीव किसी क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गया था एक पुद्गल किसी क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गया तब उसके गमनमें जो घंटा, दो घंटा, चार घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि काल लगा उस सबको व्यवहारकाल कहते हैं। ये सब व्यवहार-कालके भेद समय नामा सूक्ष्मकालके समय समय वीतते हुए समयोंका समुदाय है। इस तरह इस लोकमें जीव पुद्गलोंकी मुख्यतासे उपकारी धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाश द्रव्य हैं। इन छहोंके समुदायको लोक कहते हैं।

वृत्तिकारने बताया है कि यद्यपि सिद्ध भगवान निश्चयसे अपने ही स्वभावमें तथा अपने ही प्रदेशोंमें तिष्ठते हैं तथापि व्यवहारसे वे सिद्धशिलाके ऊपर सिद्धक्षेत्रमें तनुवातवलयके भीतर लोकाग्र तिष्ठते हैं। इसी तरह सर्व ही द्रव्य निश्चयसे अपने अपने स्वभावमें अपने२ प्रदेशोंमें ठहरते हैं तथापि व्यवहारनयमें लोकाकाशमें ठहरते हैं ऐसा कहा जाता है क्योंकि आकाश उन सबका आधार अनादिकालसे उदासीन रूपसे मौजूद है। लोकाकाशके सबसे छोटे प्रदेश नामके भागमें जिसको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है इतनी शक्ति है कि अनंत परमाणु उसमें स्थान पाजावें। मात्र स्थूल पुद्गल स्कंध, स्थूल तथा स्थूल स्थूलको और स्थूल स्थूल पुद्गल स्कंध, स्थूल

तथा स्थूल स्थूलको जगह नहीं देते किन्तु स्थूल सूक्ष्म और सूक्ष्म स्थूल, तथा सूक्ष्म और सूक्ष्म सूक्ष्म सभी प्रकारके पुद्गलोको तथा स्थूल और स्थूल स्थूल पुद्गल स्थूल सूक्ष्म तथा सूक्ष्म स्थूल आदिको यथासभव स्थान दे सक्ते है इनमें भी विशेष अवगाहना शक्ति है। जैसे स्थूल सूक्ष्म दीपका प्रकाश, चद्रका प्रकाश, तथा धूप, छाया आदि है जहा ये हो वहा अनेक दीपकोंका प्रकाश व अनेक अन्य पुद्गल सुखसे जगह पालते है। शब्द, वायु आदि सूक्ष्म पुद्गल स्कध है। जहा एक दो शब्द गूज रहे हो वहा और अनेक शब्द आसक्ते है तथा अन्य पुद्गल स्कध भी जहा वायु भरी हो वहा अन्य वायु व अन्य पुद्गल स्कध भी आसक्ते है। इस तरह मूर्तीक पुद्गल एक दूसरेको स्थान देते है। इसमें कोई प्रकारका विरोध नहीं है जो असख्यात प्रदेशी लोकाकाशमे अन्य निर्बाध अमूर्तीक द्रव्योके साथ साथ अनत पुद्गल स्थान प्राप्त कर लें। इस तरह यह बात दिखाई गई कि यह लोक सर्वत्र छ द्रव्योसे भरा हुआ है। यद्यपि छ द्रव्य परस्पर मिल रहे है तथापि कोई द्रव्य अपने२ स्वभावको नहीं छोडते है जैसा कि श्री पचास्तिकायमें कहा है —

> अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
> मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥ ७ ॥

भावार्थ-ये छहो द्रव्य एक दूसरेमे प्रवेश करते हुए, व नित्य एक दूसरेको आवकाश देते हुए तथा नित्य मिलते हुए अपने २ स्वभावको नहीं छोडते है, क्योकि इनमे अगुरुलघु नामा एक साधारण गुण है जो हरएक द्रव्यको व उसके अनंत

गुणोंको उसीरूप बनाए रखता है–न कोई गुण किसी द्रव्यसे छूटकर दूसरेमें मिलता है न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप होता है।

तात्पर्य यह है कि इन छहोंद्रव्योंके मध्यमें पड़े हुए अपने आत्माके स्वभावको सर्व पुद्गलादिसे भिन्न अपने निज शुद्ध स्वरूपमें अनुभव करना योग्य है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका–जैसे एक परमाणुसे व्याप्त क्षेत्रको आकाशका प्रदेश कहते हैं वैसे ही अन्य द्रव्योंके प्रदेश भी होते हैं, ऐसा कहते हैं—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४७ ॥
यथा ते नभःप्रदेशा तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम् ।
अप्रदेशः परमाणु तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ ४७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जध) जैसे (ते णभप्पदेसा) आकाशद्रव्यके वे अनन्त प्रदेश होते हैं (तधप्पदेसा सेसाणं हवंति) वैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्योंके प्रदेश होते हैं। (परमाणू अपदेसो) एक अविभागी पुद्गलका परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है (तेण) उस परमाणूसे (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेशकी प्रगटता कही गई है।

विशेषार्थ–एक परमाणु जितने आकाशके क्षेत्रको रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं उस परमाणुके दो आदि प्रदेश नहीं हैं। इस प्रदेशकी मापसे आकाश द्रव्यकी तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यको आदि लेकर शेष द्रव्योंके भी प्रदेश होते हैं। इनका विस्तारसे कथन आगे करेंगे।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि द्रव्योंके माप करनेका गज प्रदेश है। जितने आकाशके क्षेत्रको एक पुद्गल

परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं। इस मापसे यदि द्रव्योंको मापा जावे तो आकाशके अनंत, धर्म द्रव्यके असंख्यात, अधर्म द्रव्यके असंख्यात, पुद्गलके संख्यात, असंख्यात, अनंत व हरएक जीवके असंख्यात प्रदेश मापमें आवेंगे। काल द्रव्यका मात्र एक प्रदेश ही रहता है। यद्यपि हरएक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं तथापि यह जीव शरीरके प्रमाण संकुचित रहता है। केवल समुद्घातमें प्रदेश लोकव्यापी होते हैं। यह जीव बालकके शरीरमें छोटे प्रमाणका होता है। ज्यों २ बालक बढ़ता जाता है जीवके प्रदेश भी फैलते जाते हैं। इसके शरीरप्रमाण व संकोचने फैलनेकी क्रिया हम सबको प्रत्यक्ष प्रगट है। शरीरप्रमाण आत्मा है इसीसे शरीरके हरएक भागमें ज्ञान है व दुःख सुखका अनुभव है ॥ ४७ ॥

इस तरह पांचवें स्थलमें स्वतंत्र दो गाथाएं कहीं।

उत्थानिका—आगे काल द्रव्यके दो तीन आदि प्रदेश नहीं हैं मात्र एक प्रदेश है इसीसे वह अप्रदेशी है ऐसी व्यवस्था करते हैं—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ ४८ ॥

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य ।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ ४८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(समओ दु अप्पदेसो) काल द्रव्य निश्चयसे अप्रदेशी है (सो) वह काल द्रव्य (पदेशमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेश मात्र द्रव्यरूप परमाणुके (आगासदव्वस्स पदेसम्) आकाश द्रव्यके प्रदेशको (वदिवददो) उल्लंघन करनेसे (वट्टदि) र्तन करता है ।

विशेषार्थः—समय नामा पर्यायका उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणुको समय कहते हैं। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित मात्र एक प्रदेशवाला है इससे उसको अप्रदेशी कहते हैं। वह कालाणु पुद्गल द्रव्यकी परमाणुकी गतिकी परिणति रूप सहकारी कारणसे वर्तन करता है। हरएक कालाणुसे हरएक लोकाकाशका प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मंदगतिसे ऐसे पास वाले प्रदेशपर जाता है तब इसकी गतिके सहायसे काल द्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्यायको उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे पुद्गलके परमाणुओंका परस्पर बन्ध होजाता है इस तरहका बंध कालाणुओंका कभी नहीं होसक्ता है इसलिये कालाणुको अप्रदेशी कहते हैं। यहां यह भाव है कि पुद्गल परमाणुका एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं है इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेशरूप ही है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने काल द्रव्यकी वर्तनाको व उसके एक प्रदेशीपनेको समझाया है। श्री अमृतचंद्र आचार्यकी संस्कृतवृत्तिका यह भाव है कि कालाणु द्रव्य अप्रदेशी है, वह पुद्गल द्रव्यकी तरह व्यवहारसे भी बहुत प्रदेशी नहीं है क्योंकि वह कालाणु द्रव्य आकाश द्रव्यके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं, रत्नकी राशिके समान फैले हुए हैं तथापि वे परस्पर कभी मिलते नहीं हैं। एक एक आकाशके प्रदेशको व्याप्त करके कालाणु ठहरे हुए हैं। जब पुद्गल परमाणु मंद गतिसे एक कालाणु व्याप्त आकाश प्रदेशसे निकटवर्ती कालाणु व्याप्त आकाश प्रदेशपर जाता है तब

काल द्रव्यकी वर्तना होती है अर्थात् उसकी समय पर्याय प्रगट होती है । श्री जयसेनाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य दोनोंकी वृत्तियोंसे यही बात प्रगट होरही है कि जैसे आकाशादि पांच द्रव्योंकी परिणतियोंके या पर्यायोंके पलटनेमें काल द्रव्य सहकारी उदासीन कारण है । यद्यपि वे पांचों ही द्रव्य अपनी शक्तिसे ही परिणमन करते हैं तैसे ही काल द्रव्यकी वर्तना अर्थात् समय समय परिणमनेमें पुद्गल परमाणुका एक कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशसे दूसरे कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशपर मंदगतिसे जाना सहकारी कारण है । उपादान कारण तो स्वयं कालद्रव्यकी शक्ति है । हरएक कार्यके लिये दो कारणोंकी आवश्यक्ता है— उपादान और निमित्त । पांचों द्रव्योंकी पर्यायोंके होनेमें उपादान कारण वे स्वयं हैं परन्तु कालद्रव्य निमित्त सहकारी है । इसी तरह कालद्रव्यके वर्तमानमें उपादान कारण कालाणु हैं और सहकारी निमित्तकारण पुद्गल परमाणुका मंदगमन है । कालद्रव्यके वर्तनको ही समयकी प्रगटता या समय पर्याय कहते हैं । कालद्रव्यको यदि लोकाकाश प्रमाण अखंडद्रव्य माना जाता तो कालद्रव्यकी वर्तना नहीं हो सक्ती थी और न समय पर्याय ही उत्पन्न होती । आकाशद्रव्य तो अखंड है, उसके प्रदेश भिन्न २ नहीं हैं— आकाशमें प्रदेशोंकी कल्पना मात्र मापकी अपेक्षासे है । कालाणु अलग अलग होनेसे ही एक परमाणु मंदगतिसे एक कालाणु व्याप्त प्रदेशसे दूसरे पर जा सक्ता है । अखंड कालद्रव्य लोकाकाशके बराबर मानने से परमाणुकी नियमित मंदगति नहीं होती तब कालकी समय पर्याय नहीं पैदा होसक्ती । दो

खंभे भिन्न २ होने पर ही एक पग एकसे उठाकर दूसरेपर नियमित रूपसे रक्खा जा सक्ता है परन्तु यदि चौरस जमीन हो तो एक नियमित रूपसे पग नहीं पड़ सक्ता है–कभी अधिक क्षेत्र उठेगा जायगा कभी कम। इसी तरह कालाणु अलग अलग हैं तब ही परमाणुकी नियमित मंदगति संभव है। इस गतिकी सहायतासे ही कालकी समयनामा पर्याय होती है। इसलिये काल द्रव्यका एक प्रदेशपना सिद्ध है। इस विचारसे यह बात भी समझमें आजाती है कि लोकाकाशमें परमाणु भी भरे हैं और वे सब हलनचलन करते रहते हैं। एक परमाणुका कुछ हिलना ही एक कालाणुसे अन्य कालाणुपर जाना है। यही सहायक कारण है जिससे लोकाकाश व्याप्त सर्व कालाणु सदा परिणमन करते रहते हैं। परमाणु हलन चलन करते रहते हैं अर्थात् चल हैं इसका प्रमाण श्री गोम्मटसार जीवकांडमें इसतरह दिया गया है–

पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु।
चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥५९२॥

भावार्थ–पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कंध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अंतिम महा स्कंध चलाचल है क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल हैं, कोई परमाणु अचल है। परमाणुसे लेकर पुद्गल स्कंधके २३ भेद हैं।

उनमेंसे तेईसवां भेद महास्कंध है उसको छोड़कर अणु, व संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि बाईसवर्गणाएं सब चलरूप हैं–हलनचलन करती रहती हैं।

तात्पर्य-यह यह है कि कालद्रव्यके स्वभावको अपने आत्मासे भिन्न जानकर अपने निज ज्ञानानन्दमई स्वभावमें ही अपनेको निजानन्द लाभके लिये तन्मय होना योग्य है ॥ ४८ ॥

उत्थानिका-आगे पूर्व कहे हुए काल पदार्थके पर्याय स्वरूपको और द्रव्य स्वरूपको बताते हैं:—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ ४९ ॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्समः समयस्ततः परः पूर्वः ।
योऽर्थः स कालः समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ ४९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(तं देसं) उस कालाणुसे व्याप्त आकाशके प्रदेशपर (वदिवददो) मंदगतिसे जानेवाले पुद्गल परमाणुको (तस्सम समओ) जो कुछ काल लगता है उसीके समान समय पर्याय है। (तदो परो पुव्वो जो अत्थो) इस समय पर्यायके आगे और पहले जो पदार्थ है (सो कालो) वह काल द्रव्य है। (समओ उप्पण्ण पद्धंसी) समय पर्याय उत्पन्न होकर नाश होनेवाली है।

विशेषार्थः-जब तक एक पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे एक कालाणुव्याप्त आकाशके प्रदेशसे दूसरे कालाणु व्याप्त आकाशके प्रदेशपर आता है तबतक उसमें जो काल लगता है उसीके समान कालाणु द्रव्यकी सूक्ष्म समय नामकी पर्याय होती है-यही व्यवहारकाल है। कालद्रव्यकी पर्यायका यह स्वरूप कहा गया। इस समय पर्यायके उत्पन्न होनेके पहले जो अपनी पूर्व पूर्व समय पर्यायोंमें अन्वय रूपसे बराबर चला आरहा है व आगामी कालमें होनेवाली समय पर्यायोंमें अन्वय रूपसे बराबर चला

जायगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है। यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकालकी और उत्तरकालकी समयोंकी संतानकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात तथा अनन्त समय रूप है तथापि वर्तमानकालका समय उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है, किन्तु जो पूर्वमें कहा हुआ द्रव्यकाल है वह तीनों कालोंमें स्थाई होनेसे नित्य है। इस तरह कालद्रव्यको पर्यायस्वरूप और द्रव्यस्वरूप जानना योग्य है।

अथवा इन दो गाथाओंसे समयरूप व्यवहार कालका व्याख्यान किया जाता है। निश्चय कालका व्याख्यान तो "उप्पादो पद्धंसो" इत्यादि तीन गाथाओंसे आगे करेंगे। सो इस तरहपर है कि प्रदेशमात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणुकी मंदगतिसे किसी विवक्षित एक आकाशके प्रदेशपर जाते हुए जो वर्तन करती है वह निश्चय कालकी समय पर्याय अंश रहित है। यह पहली गाथाका व्याख्यान है। वह परमाणु उस आकाशके पदेशपर जब पतन करता है तब उस पुद्गल परमाणुके मन्दगतिसे गमनमें जो काल लगा है उसीके समान समय है इसलिये एक समय अंश रहित है। अर्थात् समय सबसे छोटा काल है। इस तरह वर्तमान समय कहा गया। अब आगे पीछेके समयोंको कहते हैं कि इस पूर्वमें कहे हुए वर्तमान समयसे आगे कोई समय होयगा तथा पूर्वमें कोई समय होचुका है इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमानरूपसे तीन प्रकार व्यवहारकाल कहा जाता है। इन तीन प्रकार समयोंमें जो कोई वर्तमानका समय है वह उत्पन्न होकर नाश होनेवाला है। अतीत और अनागत संख्यात, असंख्यात और अनंत समय हैं। इस तरह स्वरूपके धारी कालके होते हुए भी यह जीव अपने

परमात्म तत्वको नहीं प्राप्त करता हुआ भूतकी अपेक्षा अनन्तकालसे इस संसारसमुद्रमें भ्रमता चला आया है इसलिये ही अब इसके लिये अपना ही परमात्म तत्व सब तरहसे ग्रहण करने योग्य मानकर श्रद्धान करने योग्य है, व स्वसंवेदन ज्ञानसे जानने योग्य है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाको आदि लेकर सर्व रागादि भावोंको त्यागकर ध्यान करने योग्य है ऐसा तात्पर्य है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे काल द्रव्यकी सिद्धि की है। जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य हो उसीको द्रव्य कहते हैं। काल द्रव्यकी वर्तमान समय पर्यायका पुद्गल परमाणुकी निकटवर्ती कालाणुपर मंदगतिसे आने रूप सहकारीकारणसे उत्पन्न होना सो उत्पाद है। इस समयपर्यायके होते हुए पूर्व समयपर्यायका नाश होना सो व्यय है और जिसकी वह समयपर्याय थी व है व आगामी होगी वह कालद्रव्य ध्रौव्य है। कालका गुण वर्तना है अर्थात् आप स्वयं वर्तन करके दूसरे द्रव्योंके वर्तनेमें सहकारी कारण होना है—इस तरह कालद्रव्य सिद्ध है। वृतिकारने दूसरा अर्थ केवल व्यवहारकालकी अपेक्षासे किया है उसका भी भाव यह है कि वर्तमान समय पर्यायके सदृश अनंतानंत समय पर्याय भूतकालमें हो चुकीं व अनन्तानन्त समय पर्याय भविष्यमें होंगी इन समस्त तीन कालवर्ती समयोंको व्यवहारकाल कहते हैं। समय पर्यायका उपादानकारण कालद्रव्य है निमित्तकारण पुद्गल परमाणुकी मंदगति है। इस मंदगतिमें जो कुछ समय लगता है वह सबसे छोटा समयरूप कालकी पर्यायरूप अंश है। यद्यपि एक परमाणुमें यह भी शक्ति है कि यदि वह शीघ्र गतिसे जावें तो

एक समयमें १४ राजू जासक्ता है तथापि उस समयके भाग नहीं हो सक्ते। जितना समय परमाणुको निकटके कालाणुपर आनेमें लगता है उतना ही समय उसको १४ राजू जानेमें लगता है। यह परमाणुकी विलक्षण शक्ति है। जैसे एक आकाशके प्रदेशकी यह विलक्षण शक्ति है कि एक परमाणुसे व्याप्त होनेपर भी अनंत अन्य परमाणुओंको स्थान दे सक्ता है और इस प्रदेशके अंश नहीं होते हैं वैसे समयके अंश नहीं होसक्ते हैं।

यह बात पहले भी कही गई कि कालाणुओंको भिन्न २ माननेपर ही समय पर्याय होसक्ती है। भिन्न २ कालाणुओंके होते हुए एक कालाणु परसे दूसरेपर जाते हुए समय पर्याय प्रगट होती है। एक अखंड लोकाकाश प्रमाण काल द्रव्य माननेसे नियमित गतिका अभाव होनेसे समय पर्याय नहीं होसक्ती। जैन आगममें जो काल द्रव्यका कथन है उसको अच्छी तरह निश्चय करके यह काल अनादि अनन्त है ऐसा जानकर तथा अपने आत्माको अनादि कायसे संसारवनमें भटकता मानकर अब इसको मोक्ष मार्गमें चलानेके लिये निज शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव कराना चाहिये जिससे यह निज परमात्मस्वभावको पाकर कृतकृत्य और सिद्ध होजावे, यह अभिप्राय है ॥ ४९ ॥

इस तरह कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे छठे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेशका स्वरूप कहते हैं:—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवकासं ॥ ५० ॥

आकाशमनुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति यद्दातुमवकाशम् ॥ ५० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अणुणिविट्ठं आगासम्) अविभागी पुद्गलके परमाणुद्वारा व्याप्त जो आकाश है उसको (आगासपदेससण्णया) आकाशके प्रदेशकी संज्ञासे (भणिदं) कहा गया है। तथा (तं) वह प्रदेश (सव्वेसि च अणूणं) सर्व परमाणु तथा सूक्ष्म स्कंधोंको (अवकासं देदुं सक्कदि) जगह देनेको समर्थ है।

विशेषार्थः–एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाशके प्रदेशमें यदि इतनी जगह देनेकी शक्ति नहीं होती कि वह अन्य परमाणुओंको व सूक्ष्म पदार्थोंको जगह दे सक्ता है तो यह अनन्तानन्त जीवराशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गल राशि किस तरह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें जगह पाते ?–इसको विस्तारसे पहले कह चुके हैं। यदि कोई शंका करे कि अखंड आकाशद्रव्यके भीतर प्रदेशोंका विभाग कैसे सिद्ध हो सक्ता है तो उसका समाधान करते हैं कि चिदानन्दमई एक स्वभावरूप निज आत्मतत्त्वमें परम एकाग्रता लक्षण समाधिसे उत्पन्न विकार रहित आल्हादमई एक रूप, सुख, अमृत रसके स्वादमें तृप्त दो मुनियोंके जोड़ेका ठहरनेका क्षेत्र एक है या अनेक है ? यदि एक ही स्थान है तब दो मुनियोंका एकत्व हो जायगा सो ऐसा नहीं है। और यदि उनका क्षेत्र भिन्न २ है तब अखंड आकाशके भी प्रदेशोंका विभाग करनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने आकाशके प्रदेशकी सामर्थ्य बताई है। जिस आकाशको एक पुद्गलका परमाणु रोक सक्ता है।

उसे प्रदेश कहते हैं उसमें यह ताक़त है कि अनन्त परमाणु छुटे हुए उतनी ही जगहमें आसक्ते हैं इतना ही नहीं सूक्ष्म अनेक स्कंध भी समासक्ते हैं। उस परमाणुमें बाधा डालनेकी शक्ति नहीं है क्योंकि परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म होता है। लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात हैं तथापि उसमें असंख्यात कालाणु, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, अनन्तानन्त जीव तथा उससे भी अनंतगुणे पुद्गल समाए हुए हैं और सुखसे कार्य करते हैं। यह आकाशकी एक विलक्षण अवकाशदान शक्ति है तथा सूक्ष्म स्कंध व परमाणुओंमें भी यथासम्भव अवकाशदानशक्ति है। यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है कि प्रकाशके पुद्गल स्थूल सूक्ष्म जातिके हैं। एक कमरेके आकाशमें यदि एक प्रकाश फैल जावे तो भी वहां हजारों दीपक जलाए जासक्ते हैं और उन सबका प्रकाश उतने ही कमरेमें समा जाता है। उस कमरेके आकाशने तथा स्थूल सूक्ष्म प्रकाशने अन्य प्रकाशके आनेमें कोई बाधा नहीं डाली। ऐसे प्रकाशसे भरे हुए कमरेमें गर्दा डालें तो भी समा जायगी। अनेक छोटे २ जन्तु घूमें उनको भी जगह मिल जगह मिल जायगी। मनुष्य-स्त्री पुरुष बैठे उठें तो भी अवकाश मिल जायगा। यह कमरेका दृश्य ही इस बातका समाधान कर देता है कि लोकाकाशमें अनन्तानंत द्रव्योंके अवकाश पानेमें कोई बाधा नहीं है। यद्यपि आकाश अखंड है तथापि उसके पदार्थोंकी अपेक्षा खंड कल्पना किये जासक्ते हैं जैसे घटाकाश, पटाकाश आदि। वृत्तिकारने युगल मुनियोंको ध्यान मग्न अवस्थामें दिखाया है कि उनके हरएकका क्षेत्र अलग २ ही माना जायगा तब ही वे दो भिन्न २ दीखेंगे। उन दोनोंका एक क्षेत्र

नहीं होसक्ता । व्यवहारकी अपेक्षा असंख्यात प्रदेशोंकी कल्पना प्रयोजनभूत है ।

प्रदेशका स्वरूप श्री नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्तीने भी यही कहा है:—

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥

भावार्थ–जितने आकाशको अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है वह प्रदेश है । उसमें सर्व परमाणुओंको स्थान देनेकी सामर्थ्य है । ऐसा वस्तुका स्वरूप जानकर जगतके नाटकसे उदासीन रहकर निज आत्मतत्त्वके अनुभवमें अपनी परिणतिको तन्मय करना चाहिये ।

उत्थानिका–आगे तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचयका निरूपण करते हैं—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समयत्ति कालस्स ॥ ५१ ॥

एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ॥५१॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(दव्वाणं पदेसा) काल द्रव्यके ..ना पांच द्रव्योंके प्रदेश (एक्को व दुगे च बहुगा संख्यातीदा तदो अणंता य संति) एक या दो या बहुत, या असंख्यात तथा अनन्त यथायोग्य होते हैं (कालस्स हि समयत्ति) परन्तु निश्चयसे एक प्रदेशी काल द्रव्यके समय एकमे अनन्त तक होते हैं ।

विशेषार्थ–मुक्तात्मा पदार्थमें एकाकार व परम समता रसके भावमें परिणमनरूप परमानन्दमई एक लक्षण सुखामृतसे भरे हुए

और केवलज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणोंके आधारभूत, लोकाकाश-प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंका जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् सामान्य, विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते हैं। यह प्रदेशोंका समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें कहा गया है तैसे कालको छोड़कर अन्य द्रव्योंमें अपने अपने प्रदेशोंकी संख्याके अनुसार तिर्यक् प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय समय वर्तनेवाली पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी सन्तानको ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते हैं। जैसे मोतीकी मालाके मोतियोंको क्रमसे गिना जाता है इसी तरह द्रव्यकी समय २ में होनेवाली पर्यायोंको क्रमसे गिना जाता है। इन पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व सामान्य कहते हैं। यह सब द्रव्योंमें होता है। किन्तु कालके सिवाय पांच द्रव्योंकी पूर्व उत्तर पर्यायोंका सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना अपना द्रव्य है परंतु कालद्रव्य उनके लिये प्रति-समयमें सहकारी कारण है। परंतु जो कालद्रव्यका समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योंकि कालसे भिन्न कोई और समय नहीं है। कालकी जो पर्यायें हैं वे ही समय हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–एक समयमें ही विना क्रमके अनेक प्रदेशोंके समूहका बोध करानेवाला विस्तार तिर्यक् प्रचय है। अनंत समयोंमें क्रमसे होनेवाली पर्यायोंकी राशिका बोध करानेवाला ऊर्ध्व प्रचय है। जैसे एक मैदान है और एक सीढ़ी है। मैदानकी चौड़ाई

तिर्यक् प्रचय है। सीढ़ीमें अनेक सीढ़ीयां ऊपर नीचे हैं, क्रम क्रमसे चली गई हैं । लम्बाई रूप हैं। इसको ऊर्ध्व प्रचयका दृष्टान्त कह सक्ते हैं।

कालद्रव्य एक प्रदेशवाला है इससे उसमें तिर्यक् प्रचय नहीं है। अन्य द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। इससे उन प्रदेशोंके समुदायको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। पुद्गलके स्कंध संख्यात, असंख्यात या अनेक प्रदेशी परमाणुओंकी अपेक्षासे हैं, परमाणुमें मिलनशक्ति है इससे बहुप्रदेशी है। धर्म, अधर्म व एक जीव असंख्यात प्रदेशी हैं। यद्यपि जीव संकोच विस्तारके कारण छोटे बडे शरीरप्रमाण रहते हैं तथापि असंख्यात प्रदेशोंके समूहसे अलग नहीं होते, आकाश अनन्त प्रदेशी है। एक ही समयमें द्रव्योंके फैलावका ज्ञान तिर्यक् प्रचयसे होता है।

सब ही द्रव्य परिणमनशील हैं। उनमें क्रमसे पर्यायें होती रहती हैं, एक समयमें एक पर्याय होती है पिछली नष्ट होजाती है। यदि तीन कालकी अपेक्षा अगली व पिछली पर्यायोंका जोड़ अपने ध्यानमें लेवें तो अनंत पर्यायोंका समूह बुद्धिमें झलकेगा, इस समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। कालके विना पांच द्रव्योंमें ऊर्ध्व प्रचय यद्यपि उन द्रव्योंके ही उपादान कारणरूप परिणमनसे होता है तथापि उनका बोध कालकी समय नामा पर्यायोंके द्वारा होता है। कालकी समय पर्याय ही है इसी सहकारी कारणसे अन्य द्रव्योंकी पर्यायोंका ज्ञान होता है। काल द्रव्यकी समय पर्यायोंके समूहका जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण जैसे काल है वैसे उसका सहकारी कारण भी काल है। क्योंकि समय कालकी ही पर्याय है।

अर्थात् जब समयोंको ध्यानमें लेकर ही ऊर्ध्व प्रचयका ज्ञान होता है तब यह स्वतः सिद्ध है कि अन्य द्रव्योंके ऊर्ध्व प्रचयको कालका ऊर्ध्व प्रचय सहकारी कारण है किन्तु काल द्रव्यके ऊर्ध्व-प्रचयका ज्ञान करानेको कालके समय ही सहकारी कारण हैं इसलिये वही उपादान तथा वही निमित्त है। क्योंकि समय काल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं कालके सिवाय अन्य किसी द्रव्यकी पर्यायें नहीं हैं।

यहां यह समझना चाहिये कि ऊर्ध्व प्रचयके भावके लिये ऐसा कहा गया है कि कालके ऊर्ध्व प्रचयके लिये काल ही उपादान व काल ही सहकारी कारण है।

काल द्रव्यकी पर्याय जो समय है उसका उपादान कारण काल द्रव्य है किन्तु उस समय पर्यायका निमित्त कारण पुद्गल परमाणुका एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर मंदतासे गमन है जैसा पहले कह चुके हैं।

कालमें कितनी समय पर्याय होती हैं इसकी कल्पनाके लिये परमाणुको कोई क्रियाकी आवश्यक्ता नहीं है। इसके लिये तो मात्र कालहीसे काम चल सक्ता है। जैसे और द्रव्योंकी पर्यायोंके गिननेके लिये कालके समय कारण हैं वैसे कालके पर्यायोंको गिननेके लिये कालके समय ही कारण हैं। इसलिये कालके उर्ध्व प्रचयके लिये कालको ही उपादान और निमित्त कहा गया है। भाव यह है कि सर्व द्रव्योंमें ऊर्ध्व प्रचय और तिर्यक् प्रचय है, मात्र काल द्रव्यमें तिर्यक् प्रचय नहीं है इसीसे पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं, काल अस्तिकाय नहीं है ॥ ५१ ॥

इसतरह सातवें स्थलमें स्वतंत्र दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे समय संतानरूप ऊर्ध्व प्रचयका अन्वयी रूपसे आधारभूत काल द्रव्यको स्थापन करते हैं।

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्मि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥५२॥

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ ५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जस्स समयस्स) समय पर्यायको उत्पन्न करनेवाले जिस कालाणु द्रव्यका (एक समयम्मि) एक वर्तमान समयमें (जदि) जो (उप्पादो) उत्पाद तथा (पद्धंसो) नाश (विज्जदि) होता है (सो वि समओ) सो ही काल पदार्थ (सभावसमवट्ठिदो हवदि) अपने स्वभावमें भले प्रकार स्थित कहता है।

विशेषार्थ–कालाणु द्रव्यमें पहली समय पर्यायका नाश नई समय पर्यायका उत्पाद जिस वर्तमान समयमें होता है, उसी समय इन दोनों उत्पाद और नाशका आधाररूप कालाणुरूप द्रव्य ध्रौव्य रहता है। इसतरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमई सत्तारूप अस्तित्व इस काल द्रव्यका भलेप्रकार सिद्ध है। जैसे एक हाथकी अंगुलीको टेढ़ा करते हुए जिस वर्तमान क्षणमें ही वक्र अवस्थाका उत्पाद हुआ है उसी ही क्षणमें उसी ही अंगुली द्रव्यकी पहली सीधीपनेकी पर्यायका नाश हुआ है परंतु इन दोनोंकी आधारभूत अंगुली द्रव्य ध्रौव्य है। इसतरह द्रव्यकी सिद्धि होती है अथवा जिस किसी आत्मद्रव्यमें अपने स्वभावमई सुखका जिस क्षणमें उत्पाद है उसी ही क्षणमें उसके पूर्व अनुभव होनेवाले आकुलतारूप दुःख पर्यायका नाश है परंतु इन दोनोंके

आधारभूत परमात्म द्रव्यका ध्रौव्य है। इसतरह द्रव्यकी सिद्धि है अथवा एक आत्मद्रव्यमें जिस समय मोक्ष पर्यायका उत्पाद है उस ही समय रत्नत्रयमई मोक्ष मार्गरूप पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधारभूत परमात्मद्रव्यका ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्यकी सिद्धि है। तैसे ही जिस काल द्रव्यकी जिस क्षणमें वर्तमान समयरूप पर्यायका उत्पाद है उसी काल द्रव्यकी पूर्व समयकी पर्यायका नाश है परन्तु इन दोनोंके आधाररूप अंगुली द्रव्यके स्थानमें कालाणु द्रव्यका ध्रौव्य है इस तरह काल द्रव्यकी सिद्धि है।

भावार्थ-इस गाथाकी अमृतचंद्र आचार्यकृत टीका भी बहुत उपयोगी है इससे उसका सार यहां दिया जाता है, कि समय निश्चयसे काल पदार्थका वृत्यंश अर्थात् वर्तनाका अंश या पर्याय है। जब पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे पूर्व कालाणुको छोड़कर आगेकी कालाणुपर जाता है तब इस सहकारी कारणके निमित्तसे अवश्य कालाणु द्रव्यमें पूर्व समय पर्यायका नाश और वर्तमान समय पर्यायका उत्पाद होता है। संस्कृतमें शब्द हैं "समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात्।" यदि कोई कहे कालाणुकी जरूरत नहीं है, उत्पाद और नाश समय पर्यायका ही होता है तो उसको विचारना चाहिये कि उस एक समय पर्यायके उत्पाद और नाश एक कालमें होते हैं कि क्रमसे होते हैं। यदि कहो कि एक कालमें एक साथ एक समय पर्यायके उत्पाद व्यय होते हैं तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि एक समय पर्यायके भीतर दो विरुद्ध स्वभाव नहीं होसक्ते कि वही एक क्षणमें

चही नाश हो। यदि कहो कि समय पर्यायमें उत्पाद व्यय क्रमसे होते हैं तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि समय अत्यन्त सूक्ष्म हैं उसके विभाग नहीं होते और न वह स्थिर रहता है। इसलिये जिसमें जब वर्तमान समय पर्यायका उत्पाद होता है तब ही पूर्व समय पर्यायका व्यय होता है। इन दोनों अवस्थाओंमें वर्तनेवाला कोई अवश्य मानना पड़ेगा। सो ही वह समय पदार्थ है। उस काल द्रव्यके भीतर एक ही वर्तनाके अंशमें दोनों उत्पाद और व्यय संभव हैं अर्थात् जब काल द्रव्यने वर्तन किया तब पूर्व समय पर्यायका नाश होना ही नवीन समय पर्यायका उत्पाद होना होगया इस तरह सहजमें उत्पाद व्यय सिद्ध होगए। जब ऐसा है तब काल पदार्थ निरन्वय नहीं माना जासक्ता अर्थात् कालद्रव्य अन्वय रूपसे सदा मानना पड़ेगा, क्योंकि जो पूर्व और उत्तर समयोंसे विशिष्ट होगा उसीमें ही एक समयमें एक साथ पूर्व समयका नाश व उत्तर समयका उत्पाद होगा। यदि कालद्रव्य स्वभावसे नाश व व्यय नहीं होवे तो ध्रौव्य भी न होवे, क्योंकि जिसमें पर्यायोंका परिणमन होगा वही ध्रौव्य होगा, तथा जो ध्रौव्य होगा उसीमें परिणमन होगा। इन तीनोंका एक काल होना सिद्ध है इसलिये काल द्रव्यके ध्रौव्य होते हुए ही उसमें पूर्व समयका नाश और उत्तर समयका उत्पाद भले प्रकार सिद्ध होसक्ता है। ऐसा ही काल पदार्थका स्वभाव सिद्ध है अर्थात् वह काल द्रव्य पूर्व उत्तर समयकी अपेक्षा उत्पाद व्यय करता हुआ ही ध्रौव्य रहता है। इसीसे काल वास्तविक द्रव्य है। इस गाथामें भले प्रकार काल [illegible]की सिद्धि है तथा वृत्तिकार श्री अमृतचन्द्राचार्यने यहां भी [illegible] स्पष्ट कर दिया है कि समय पर्यायका सहकारी

कारण पुद्गल परमाणुका हिलना है अर्थात् एक कालाणुसे निकटवर्ती कालाणुपर आना है । समय पर्याय कालद्रव्यके विना माने नहीं हो सक्ती है । जैसे आत्माको ध्रौव्य मानते हुए ही उसमें देव पर्यायका नाश और मनुष्य पर्यायका उत्पाद एक समयमें विग्रह गतिकी अपेक्षा मनुष्य आयु कर्मके उदयके कारण सिद्ध होते हैं तैसे ही कालद्रव्यको मानते हुए ही उसमें पूर्व समय पर्यायका नाश और वर्तमान पर्यायका उत्पाद सिद्ध होसक्ता है। वही पर्याय उपजे वही नष्ट हो यह असंभव है । किसी आधाररूप द्रव्यके होने ही उसमें अवस्थाएं होसक्ती हैं । जैसे सुवर्ण द्रव्यको मानते हुए ही सोनेकी दशा पलट सक्ती है, वह कुंडलसे कंकणकी पर्यायमें वदला जा सक्ता है अर्थात् सुवर्णके स्थिर रहते हुए कुंडल पर्यायको नाशकर कंकण पर्याय पैदा होती है । कुंडल पर्याय मात्रमें नाश और उत्पाद नहीं वन सके । जब वह नाश होगा तब कुंडलका जन्म नहीं होगा । सुवर्णके रहते हुए ही जब कुन्डल नष्ट होता है तब कंकण पैदा होता है । वास्तवमें अन्वयरूपसे वर्तनेवाले सुवर्णके स्थिर होतेहुए ही उसमें दो भिन्न२ समयोंकी अपेक्षा दो भिन्न पर्यायें होसक्ती हैं। एक क्षणमें तो एक ही पर्याय झलकेगी, दो नहीं रह सक्तीं क्योंकि वर्तमानकी पर्याय पूर्व पर्यायको नाश कर ही प्रगट हुई है । वास्तवमें देखा जावे तो हरएक द्रव्य अपने भीतर अपनी अनन्त पर्यायोंको शक्ति रूपसे रखता है उनमेंसे एक क्षणमें एक पर्याय प्रगट होती है तब और सब मात्र शक्ति रूपसे रहती हैं । पर्यायोंका तिरोभाव आविर्भाव हुआ करता है– जो नष्ट हुई उसका तिरोभाव जो प्रगटी उसका आविर्भाव होता

है। यही बात काल द्रव्यमें है। वह कालद्रव्य रूप कालाणु अपने भीतर होनेवाली अनंत समयपर्यायोंको शक्ति रूपसे रखता है। उनहीमेसे एक क्षणमें एक समयपर्याय प्रगट होती है अन्य सब अप्रगट रहती हैं। श्री तत्त्वार्थसूत्रमें भी कहा है कालश्च (५–३९), सो अनन्तसमयः (५–४०)। भाव यही है कि काल द्रव्य है सो अनन्त समयोंको रखता है। सारांश यही निकलता है कि काल-द्रव्यकी सत्ता सिद्ध है। विना कालके अस्तित्वके समय आकाश फूलके समान अवस्तु है। जिस समयको व्यवहारकाल कहते हैं वह समय कालद्रव्यकी पर्याय है यही भले प्रकार सिद्ध है ॥१२॥

उत्थानिका–आगे यह निश्चय करते हैं कि जैसे पूर्वमें कहे प्रमाण एक वर्तमान समयमें काल द्रव्यका उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध किया गया तैसे ही सर्व समयोंमें होता है–

एक्कम्मि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ ५३ ॥
एकस्मिन्सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः ।
समयस्य सर्वकाल एष हि कालाणुसद्भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(एक्कम्मि समये) एक समयमें (समयस्स) कालद्रव्यके भीतर (संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नामके स्वभाव (संति) हैं (एस हि) निश्चय करके ऐसा ही (कालाणुसब्भावो) कालाणु द्रव्यका स्वभाव (सव्वकालं) सदाकाल रहता है।

विशेषार्थ:–जैसे पहले अंगुली द्रव्य आदिके दृष्टांतसे एक समयमें ही उत्पाद और व्ययका आधारभूत होनेसे एक विवक्षित वर्तमान समयमें ही काल द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना स्थापित

किया गया तैसा ही सर्व समयोंमें जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकालके अनन्त समयोंमें दुर्लभ और सब तरहसे ग्रहण करने योग्य सिद्धगतिका काल-लब्धिरूपसे वाहरी सहकारीकारण काल है तथापि निश्चय नयसे अपने ही शुद्ध आत्माके तत्वका सम्यक् श्रद्धान. ज्ञान और चारित्र तथा सर्व परद्रव्यकी इच्छाका निरोधमई लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नहीं है इसमे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि काल द्रव्य नित्य है। एक कालाणु एक स्वतंत्र काल द्रव्य है। इस तरह असंख्यात कालाणु असंख्यात काल द्रव्य है। द्रव्य उसे ही कहते हैं जो सदा ही प्रवाह रूपसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावको रखता है। यह लक्षण भले प्रकार काल द्रव्यमें सिद्ध किया गया। काल द्रव्यका वर्तना गुण है उस वर्तना गुणकी पर्याय समय है। पर्याय एक समय मात्र रहती है। हरएक समयमें जब एक पर्याय पैदा होती है तब पुरानीको नाशकर ही पैदा होती है और पर्यायोंका उत्पाद व्यय विना किसी आधार द्रव्यके नहीं हो सक्ता है। सुवर्णके रहते हुए ही उसकी कंकणकी अवस्था बदलकर कुंडलरूप होसक्ती है। इसी तरह कालाणु सदा ध्रुव बना रहता है। उसीमें समयपर्याय हर समय नई नई होती रहती है। इससे यह अच्छी तरह निश्चित है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप काल द्रव्य है।

ऐसे नित्य काल द्रव्यको स्वीकारकरके मात्र व्यवहार ही काल है निश्चय काल द्रव्य नहीं है इस कल्पनाको त्याग देना चाहिये। कोई स्वभाव या अवस्था किसी स्वभाववान या अवस्थावानके विना नहीं होसक्के। समय नामका व्यवहार काल जब प्रसिद्ध है और वह क्षण क्षण नष्ट होनेवाला है तब वह अवश्य किसी द्रव्यकी पर्याय है ऐसा मानना होगा। जिसकी समयपर्याय है उस काल द्रव्यको अवश्य नित्य मानना पड़ेगा। इस तरह काल द्रव्यके कारण अनन्तानन्त समय वीत गए, अभीतक हमको सिद्ध समान शुद्ध आत्माका निज स्वभाव प्राप्त नहीं हुआ इसलिये हमको अपने इस मानव–जन्मके थोड़ेसे समयोंको वहुत अमूल्य समझकर उनका उपयोग निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूपी आत्मानुभव या आत्मध्यानमें लगाकर कर्मके बंधनोंको काटना और स्वतंत्र होनेका यत्न करना योग्य है ॥ ५३॥

उत्थानिका–आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई अस्तित्वमें ठहरे हुए कालद्रव्यके एक प्रदेशपना स्थापित करते हैं–

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ ५४ ॥

यस्य न संति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ ५४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(जस्स पदेसा ण संति) जिस किसी पदार्थके बहुप्रदेश नहीं हैं (व पदेसमत्तं तच्चदो णादुं) अथवा जो वस्तु अपने स्वरूपसे एक प्रदेश मात्र भी नहीं जानी जाती है (तमत्थं सुण्णं जाण) उस पदार्थको शून्य जानो क्योंकि

(अत्थीदो अत्थंतरभूदम्) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्वसे अर्थांतरभूत अर्थात् भिन्न होजायगा क्योंकि उसमें एक प्रदेश भी नहीं है जिससे उसकी सत्ताका बोध हो।

विशेषार्थः—जैसा पूर्व सूत्रोंमें कहा है उस प्रकार काल पदार्थमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेशके विना नहीं घट सक्ता है। जो प्रदेशवान है वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्यके अभावमें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य घट जायगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं हो सक्ता। जैसे अंगुली द्रव्यके न होते हुए वर्तमान वक्र पर्यायका जन्म और भूतकालकी सीधी पर्यायका विनाश तथा दोनोंके आधारभूतका ध्रौव्य किसका होगा? अर्थात् किसीका भी न होगा तैसे ही कालद्रव्यके अभावमें वर्तमान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनोंका आधार रूप ध्रौव्य किसका होगा? किसीका नहीं होसकेगा। यदि सत्तारूप पदार्थको न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरेका उत्पाद किसी अन्यका व ध्रौव्य किसी औरका होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तुका स्वरूप विगड जायगा। इसलिये वस्तुके नाशके भयसे यह मानना पडेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरणमें एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहां यह तात्पर्य समझना कि भूत अनन्त कालमें जितने कोई सिद्ध सुखके पात्र हो चुके हैं व भविष्यकालमें अपने ही उपादानसे सिद्ध व स्वय अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतीन्द्रिय सिद्ध सुखके पात्र होवेंगे वे सब ही काल लब्धिके वशसे ही हुए हैं व होंगे। तौ

अपना परमात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन जहां वीतराग चारित्रका होना अविनाभावी है उसकी ही मुख्यतासे है न कि कालकी, इसलिये काल हेय है। जैसा कहा है—

किं पलविएणबहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले ।
सिज्झिहहि जेवि भंविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ॥

भावार्थ—बहुत क्या कहें जितने उत्तम पुरुष भूतकालमें सिद्ध हुए हैं व जो भव्य जीव भविष्यमें सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शनकी महिमा जानो ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने काल द्रव्यको एक प्रदेशी सिद्ध किया है और यह कहा है कि जिस जिस पदार्थका हम अस्तित्व मानें उसमें प्रदेश अवश्य होने चाहिये तब ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्त्व बन सक्ता है। द्रव्यमें प्रदेशत्त्व नामका गुण होता है जिससे हरएक द्रव्य कोई न कोई आकार अवश्य रखता है । जिसमें कोई आकार न होगा वह शून्य होगा उसका सर्वथा अभाव होगा, क्योंकि काल द्रव्यमें समय पर्यायका उत्पाद व्यय होता है तथा कालाणुका ध्रौव्य है तब वह प्रदेशवान् अवश्य है । विना प्रदेशके वह शून्य होगा तब उसकी समय पर्याय भी न होगी । यदि कोई द्रव्यको प्रदेशरूप न मानकर उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध करेगा तो बिलकुल सिद्ध न होगा । जो वस्तु होगी उसीमें अवस्था होना संभव है ।

यहांपर श्री अमृतचंद्राचार्यने यह बात उठाई है कि काल द्रव्यके लोकाकाश प्रमाण अखंड असंख्यात प्रदेश नहीं माने जा सक्ते। ऐसा यदि माने तो समय पर्यायकी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि

जब कालाणु द्रव्य एक प्रदेश मात्र भिन्न२ होगा तब ही एक पुद्गलका परमाणु एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर जायगा और तब ही समयपर्याय उत्पन्न होगी। दो कालाणु जुदे जुदे होनेसे ही समयपर्यायका भेद सिद्ध होगा। जो लोकाकाशप्रमाण अखण्ड एक कालद्रव्य होवे तो समयपर्यायकी सिद्धि कैसे होसक्ती है? यदि कोई कहे कि कालद्रव्य लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जब पुद्गल परमाणु जायगा तब समयपर्यायकी सिद्धि होजायगी? तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि एक प्रदेशरूप वर्तनेका सर्व प्रदेशोंमें वर्तनेसे विरोध है "एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्" अर्थात् जब एक प्रदेशमात्रमें वर्तन हुआ और शेषमें न हुआ तब काल द्रव्यका वर्तन ही न बना तथा अखंड कालद्रव्यमें परमाणुके जानेका नियम नहीं रहेगा कि वह इतनी दूर जावे क्योंकि प्रदेशोंकी भिन्नता नहीं है। इससे समय पर्यायका भेद नहीं होसकेगा, क्योंकि काल पदार्थका जो सूक्ष्म परिणमन है वही समय है वह भेद भिन्न २ कालाणुओंके माननेसे ही सिद्ध हो सक्ता है, एकतामें नहीं। जैसा श्री अमृतचंद्रजीने कहा है कि "सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो, न तत्तदेकदेशस्य" अर्थात् सर्व ही काल पदार्थका जो सूक्ष्म वर्तन है वह समय है उसके एक देशके वर्तनसे समय नहीं हो सक्ता। दूसरा दोष यह होगा कि जो तिर्यक् प्रचय है वही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। जैसे आकाशके तिर्यक् प्रचय है वैसे कालके तिर्यक् प्रचय होगा क्योंकि वह कालद्रव्य पहले एक प्रदेशमें वर्तेगा फिर दूसरेमें फिर तीसरेमें

फिर आगे। इस तरहका वर्तन यदि मानें तो यह तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय हो जायगा । उर्ध्व प्रचयमें सर्व द्रव्यको क्रमसे वर्तना मानना चाहिये । सर्व प्रदेशोंके एक साथ विस्ताररूप समूहको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। यदि असंख्यात प्रदेशी कालके प्रदेश एक साथ वर्तन करे तो कालको और द्रव्योंकी तरह तिर्यक् प्रचय प्राप्त हो जायगा । सो ऐसा नहीं है । कालको एक प्रदेशमात्र माननेसे ही समय पर्याय उत्पन्न होगी। क्रमवर्ती समयोंके समुदायको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। कालके उर्ध्व प्रचयसे ही और द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचय माना जाता है ।

पांडे हेमराजजीने भी अपनी टीकामें ऐसा लिखा है कि जो अखंड काल द्रव्य होवे तो समयपर्याय उत्पन्न नहीं हो सक्ता। क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणुको छोड़कर दूसरी कालाणु-प्रति मंदगतिसे जाता है तब उस जगह दोनों कालाणु जुदे जुदे होनेसे समयका भेद होता है जो एक अखंड लोकपरिमाण काल द्रव्य होवे तो समय पर्यायकी सिद्धि किस तरह हो सकती है। यदि कहो कि "काल द्रव्य लोकपरिमाण असंख्यात प्रदेशी है उसके एक प्रदेशप्रति जब पुद्गल परमाणु जायगा तब समयपर्यायकी सिद्धि हो जायगी?" तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा कहनेसे बड़ा भारी दोष आवेगा वह इस प्रकार है—एक अखंड काल द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश प्रति जानेसे समयपर्यायका भेद नहीं होता, क्योंकि अखंड द्रव्यसे एक प्रदेशमें समयपर्याय नहीं हो सक्ती। सभी जगह समय पर्याय होना चाहिये । कालकी एकतासे समयका भेद नहीं हो सक्ता । इस लिये ऐसा है कि सबसे सूक्ष्म

काल पर्याय समय है वह कालाणुके भिन्न२पनेसे सिद्ध होता है, एकतासे नहीं। और भी कालके अखंड माननेसे दोष आता है। कालके तिर्यक् प्रचय नहीं है, ऊर्ध्व प्रचय है। जो कालको असंख्यात प्रदेशी माना जावे तो कालके तिर्यक् प्रचय होना चाहिये वही तिर्यक्, ऊर्ध्व प्रचय हो जावेगा। वह इस तरहसे होगा कि असंख्यात प्रदेशी काल प्रथम तो एक प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इससे आगे अन्य पदेशकर प्रवृत्त होता है। उससे भी आगे अन्य प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इस तरह क्रमसे असंख्यात प्रदेशोंसे प्रवृत्त होवे तो तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। एक एक प्रदेश विषैं कालद्रव्यको क्रमसे प्रवृत्त होनेसे कालद्रव्य भी प्रदेश मात्र ही सिद्ध होता है। इस कारण जो पुरुष तिर्यक् प्रचयको ऊर्ध्व प्रचय दोष नहीं, चाहते हैं वे पहले ही प्रदेशमात्र कालद्रव्यको मानें जिससे कि कालद्रव्यकी सिद्धि अच्छी तरह होवे।"

भाव यही है कि यदि असंख्यात प्रदेशी कालको अखंड माना जावे तो उस अखंडकी एक साथ एक पर्याय होनी चाहिये उसके लिये निमित्त कोई हो नहीं सक्ता। पुद्गलका एक परमाणु भिन्न२ निकटवर्ती कालाणु होनेपर ही एक कालाणुसे दूसरेपर मंद गतिसे जा सक्ता है तब समयपर्याय होती है। अखंड द्रव्यमें कहांसे कहां कालाणु जावे यह नियम न रहेगा। इस लिये कालद्रव्यको एक प्रदेशमात्र मानना होगा।

इस गाथामें आचार्यने यह बता दिया है कि कालद्रव्य है क्योंकि समय पर्यायका प्रगटपना है। एक समय जब उदय होता है तब पिछला समय नष्ट होता है। यह समयकी अवस्थाके पलटनेका

जब तक कोई आधार न हो तबतक समयपर्याय हो नहीं सक्ती। इस लिये इस पर्यायका आधार एक प्रदेशी कालाणु द्रव्य है। ऐसे कालाणु लोकाकाशमें असंख्यात हैं। सर्व ही जगह पुद्गलके परमाणु चल हैं–हिलते रहते हैं इस लिये सर्व ही कालाणुओंमें समयपर्याय हरक्षण होती रहती है। कालद्रव्यको माने विना न तो अन्य द्रव्योंका वर्तन हो सक्ता और न व्यवहार काल हो सक्ता है। इससे काल द्रव्यकी सत्ता एक प्रदेशी सिद्ध है ॥ ५४ ॥

इस तरह निश्चयकालके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठवें स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण " दव्वं जीवमजीवं " इत्यादि उन्नीस गाथाओंसे आठवें स्थलसे विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे शुद्ध जीवका अपने द्रव्य और भाव प्राणोंके साथ भेदके निमित्त " सपदेसेहिं समग्गो " इत्यादि यथाक्रमसे आठ गाथाओं तक सामान्य भेद भावनाका व्याख्यान करते हैं।

उत्थानिका–आगे ज्ञान और ज्ञेयको बतानेके लिये तथा आत्माका चार प्राणोंके साथ भेद है इस भावनाके लिये यह सूत्र कहते हैं–

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काहिसंबद्धो॥ ५५ ॥

स्वप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥ ५५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(णिच्चो) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य अथवा किसी पुरुषविशेषसे नहीं किया हुआ सदासे चला आया

हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहिं समग्गो) अपने ही असंख्यात प्रदेशोंसे पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थको आदि लेकर अन्य पदार्थोंसे भरा हुआ है अथवा अपने अपने प्रदेशोंको रखनेवाले पदार्थोंसे भरा हुआ है (जो तं जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोकको जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा वह (पाणचदुक्काहिसंवद्धो) संसार अवस्थामें व्यवहारसे चार प्राणोंका सम्बन्ध रखता है ।

विशेषार्थ–निश्चयसे यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही हैं इस तरह ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग है । तथा यद्यपि निश्चयसे यह स्वयंसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि व्यवहारसे अनादिसे कर्मबन्धके वशसे आयु आदि अशुद्ध चार प्राणोंसे भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है । यह चार प्राणोंका सम्बन्ध शुद्ध निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद भावना समझनी चाहिये यह अभिप्राय है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि यह अखंड असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश सब जगह अन्य पांच द्रव्योंसे भरा हुआ है, कोई प्रदेश आकाशका ऐसा नहीं है जहां जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल न पाए जावें–ये पांच द्रव्य एक स्थलमें रहते हुए भी अपने२ प्रदेशोंसे भिन्न२ रहते हैं तथा यह लोक अकृत्रिम व अविनाशी है और अनन्त आकाशके मध्यमें ठहरा हुआ है। चैतन्य गुणधारी आत्मा अपनेको भी जानता है और इस लोकके सर्व पदार्थोंको भी जानता है इस लिये यह आत्मा ज्ञाता भी है.

भी है । अपने शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा यह एक ही समयमें अपनेको और सर्वको विना क्रमके जानता है । जीवमें ज्ञातापना और ज्ञेयपना दोनों हैं जब कि अन्य पुद्गलादि पदार्थ ज्ञाता नहीं हैं मात्र ज्ञेय हैं । ऐसा भेद जीवका अन्य पदार्थोंके साथ समझना चाहिये । इस जीवके जो व्यवहारसे इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वास ऐसे चार प्राणका सम्बन्ध है सो भी संसार अवस्थामें होता है । ये प्राण कर्मोंके उदयके निमित्तसे होते हैं । तथा यह संसारी जीव अनादिसे ही संसारमें पड़ा है इसलिये हरएक शरीरमें इन प्राणोंके ही द्वारा जीता है । ये प्राण भी निश्चयसे जीवका स्वरूप नहीं है । जीव तो निश्चयसे शुद्ध चैतन्य प्राणका धारी है । ऐसा भेद विज्ञान करके निज स्वरूपको भिन्न अनुभव करना चाहिये ॥ ९६॥

उत्थानिका-आगे इन्द्रिय आदि चार प्राणोंका स्वरूप कहते हैं-

इन्दियपाणो य तधा वलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ ५६ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च ।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते ॥ ५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(इन्दिय पाणो) इन्द्रिय प्राण (य तधा) तथा (बलपाणो) बल प्राण (तह य) तैसे ही (आउपाणो) आयु प्राण (य) और (आणप्पाणप्पाणो) श्वासोश्वास प्राण (ते पाणा) ये प्राण (जीवाणं) जीवोंके (होंति) होते हैं ।

विशेषार्थ-अतींद्रिय और अनन्त सुखके कारण न होनेसे इंद्रिय प्राण आत्माके स्वभावसे विलक्षण है । मन, वचन, कायके

व्यापारसे रहित परमात्मा द्रव्यसे भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमई परमात्मा पदार्थसे विपरीत आदि और अंतसहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वासके पैदा होनेके खेदसे रहित शुद्धात्म-तत्वसे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। इस तरह आयु, इंद्रिय, बल, श्वासोच्छ्वासके रूपसे व्यवहारनयसे जीवोंके चार प्राण होते हैं। ये प्राण शुद्ध निश्चयनयसे जीवसे भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इंद्रिय, बल, आयु, आनपान ये चारों ही प्राण संसारी जीवमें व्यवहारसे हैं इसलिये यह संसारी जीव इन प्राणोंसे किसी शरीरमें जीता रहता है। ये प्राण शुद्धात्माके शुद्ध ज्ञानदर्शनमई स्वभावसे भिन्न हैं। मैं निश्चयसे इन प्राणोंसे भिन्न हूं। ऐसी भावना परमकल्याणकारिणी है ॥ ९६ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि भेद नयसे ये प्राण दस तरहके होते हैं:—

पंचवि इन्द्रियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ ५७ ॥

पंचापि इन्द्रियप्राणाः मनवचनकायाश्च त्रीणि बलप्राणाः।
आनपानप्राणाः आयुप्राणेन भवंति दश प्राणाः ॥५७॥

अर्थ-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इंद्रिय प्राण हैं। मन, वचन, काय ये तीन बल प्राण हैं। श्वासोश्वास तथा आयु प्राणको लेकर दश प्राण होते हैं। ये दसो प्राण चिदानन्दमई एक स्वभाव रूप परमात्मासे निश्चयसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये, यह अभिप्राय है।

भावार्थ—संसारी जीव किसी भी शरीरमें जिन शक्तियोंके द्वारा जीवित रहकर काम करसके उनको प्राण कहते हैं। सब प्राण दश होते हैं। उनमेंसे पृथ्वीकायिक आदि पांच तरहके एकेन्द्रिय जीवोंके चार प्राण होते हैं। स्पर्शन इंद्रिय, कायबल, आयु, श्वासोस्वास। लट आदि द्वेंद्रिय जीवोंके जिह्वा इंद्रिय और वचनबल मिलाकर छः प्राण होते हैं। चींटी आदि तेन्द्रिय जीवोंके घ्राण इंद्रिय जोड़कर सात प्राण होते हैं। मक्खी भौंरे आदि चौइन्द्रिय जीवोंके आंख इन्द्रिय मिलाकर आठ प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय असैनीके कर्ण मिलाकर नव प्राण तथा पंचेन्द्रिय सैनीके मनबल मिलाकर दश प्राण होते हैं। इन प्राणोंके व्यांपारसे जीवकी प्रगट शक्तियां जानी जाती हैं। क्योंकि ये प्राण नाम कर्म व आयुकर्मके उदयसे तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतरायके क्षयोपशम और मोहके उदयसे यथासंभव होते हैं इसलिये ये प्राण और इनका व्यापार सब कर्मपुद्गलके निमित्तसे होते हैं। शुद्ध आत्मामें या आत्माके अपने असली स्वभावमें ये प्राण व इनके व्यापार नहीं पाए जाते हैं। इसलिये हमको यह भावना भानी चाहिये कि हमारा आतमा इनसे भिन्न अपने शुद्ध ज्ञान चेतना प्राणसे सदा ही जीवित रहता है। ये दस प्राण त्यागने योग्य हैं। परन्तु शुद्ध ज्ञान चेतना ग्रहण योग्य है।

उत्थानिका—आगे प्राण शब्दकी व्युत्पत्ति करके जीवका जीवपना और प्राणोंका पुद्गलस्वरूपपना कहते हैं—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण, पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ ५८ ॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्
स जीवः प्राणाः पुनः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः ॥ ५८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(जो हि) जो कोई वास्तवमें (चदुहिं पाणेहिं) चार प्राणोसे (जीवदि) जीता है, (जीवस्सदि) जीवेगा व (पुव्वं जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (पुण) तथा (पाणा) ये प्राण (पोग्गलदव्वेहिं) पुद्गल द्रव्योंसे (णिव्वत्ता) रचे हुए हैं।

विशेषार्थः–यह जीव निश्चय नयसे सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राणोंसे जीता चला आरहा है तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनयसे यह संसारी जीव इस अनादि संसारमें जैसे वर्तमानमें द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणोसे जीता है ऐसे ही पहले जीता था व जबतक संसारमे है जीता रहेगा, क्योंकि ये अशुद्ध प्राण उदयप्राप्त पुद्गल कर्मोंसे रचे गए हैं इसलिये ये प्राण पुद्गल द्रव्यसे विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुण स्वभावधारी परमात्म तत्त्वसे भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है यह भाव है।

भावार्थ–इस आत्माके निश्चय प्राण सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध आदि हैं-ये कभी इस जीवसे भिन्न नहीं होते हैं। अशुद्ध अवस्थामें इनका परिणमन अशुद्ध होता है जबकि शुद्ध अवस्थामें शुद्ध परिणमन होता है। इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार अशुद्ध प्राण पुद्गल कर्मके सम्बन्धसे हैं। पांच इंद्रियोंकी रचना तथा कायका वर्तन, वचनका वर्तन व मनकी रचना, श्वासोच्छ्वासका वर्तन नामकर्मके उदयसे व आयु प्राण आयुकर्मके उदयसे होता है। ये

द्रव्य प्राण हैं। पांच इंद्रियोंसे व मन वचन काय व श्वाससे कार्य लेनेमें जो आत्मामें ज्ञान और वीर्यकी प्रगटता है व योगोंका हलन-चलन है वह आत्माके अशुद्ध भाव हैं–तथा आयु कर्मके उदयसे आत्माका किसी शरीरमें रुका रहना ये सब भाव प्राण हैं। ये द्रव्य और भाव प्राण मेरे आत्मस्वभावसे भिन्न हैं। मैं सदा ही अपने शुद्ध सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि प्राणोंका धारी हूं यही भावना मोक्षमार्गमें सहायक है ॥५८॥

उत्थानिका–आगे प्राण पौद्गलिक हैं जैसा पहले कहा है उसीको दिखाते हैं–

जीवो पाणणिवद्धो वद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं कम्मफलं वज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ ५६ ॥

जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः ।
उपभुंजानः कर्मफलं बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥ ५९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(मोहादिएहिं कम्मेहिं) मोहनीय आदि कर्मोंमे (वद्धो) बंधा हुआ (जीवो) जीव (पाणणिवद्धो) चार प्राणोंसे सम्बन्ध करता है (कम्मफलं उवभुंजं) व कर्मोंके फलको भोगता हुआ (अण्णेहिं कम्मेहिं वज्झदि) अन्य नवीन कर्मोंसे बंध जाता है।

विशेषार्थ शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष आदि शुद्ध भावोंसे विलक्षण मोहनीय आदि आठ कर्मोंमे बंधा हुआ यह जीव इंद्रिय आदि प्राणोंको पाता है। जिसके कर्मबंध नहीं होते उसके यह चार प्राण भी नहीं होते हैं इसीसे यह जाना जाता है कि ये प्राण पुद्गल कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए हैं तथा जो इन बाह्य प्राणोंके

रखता है वही परम समाधिसे उत्पन्न जो नित्यानन्दमई एक सुखामृतका भोजन उसको न भोगता हुआ इन इंद्रियादि प्राणोंसे कड़वे विपके समान ही कर्मोंके फलरूप सुख दुःखको भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म रहित आत्मासे विपरीत अन्य नवीन कर्मोंसे बंध जाता है इसीसे जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्मके कारण भी हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रीतिसे यह दिखलाया है कि जिन शरीर, वचन, मनकी क्रियाओंमें और इंद्रियोंके विषयभोगमें यह संसारी जीव लुब्ध हो रहा है वे सब मन वचन काय और इंद्रिय रूपी प्राण तथा आयु और श्वासोच्छ्वासपूर्व बद्ध कर्मोंके फलसे पैदा होते हैं। जिन शुद्धात्माओंके शरीर ही नहीं होते वहां ये प्राण नहीं पाये जाते हैं इसीसे प्रमाणित है कि ये कर्मबद्ध जीवमें कर्मोके उदयसे पैदा होते हैं। पुद्गलमई ये प्राण हैं इसलिये इनका कारण भी कर्मपुद्गल है। इन पुद्गलमई शरीरादि और इंद्रियोंके द्वारा यह जीव पुद्गलकर्मोंके उदयसे प्राप्त संसारीक पराधीन सुखदुःखको भोगता रहता है। पुद्गलीक प्राणोंसे ही पुद्गलीक भोग होता है। भोगोंके भोगमें रागद्वेष करता हुआ जीव फिर नवीन पुद्गलकर्मोंको बांध लेता है। सिद्ध यह किया गया है कि ये प्राण पुद्गलके कारणसे उपजे हैं व पुद्गलको ही भोगते हैं तथा पुद्गल कर्मोको उपजाते हैं इससे ये चार प्राण पौद्गलिक हैं-आत्माके निज स्वभाव नहीं हैं। इनको सदा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न जानना चाहिये। श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा भी है-

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

भावार्थ–जबतक मन वचन काय तीनोंको आत्माकी बुद्धिसे मानता रहेगा तबतक इस जीवके संसार है। जब इन तीनोंसे मैं भिन्न हूं ऐसी भेद भावना करेगा तब ही मोक्षको प्राप्त कर सकेगा। मैं एक शुद्ध ज्ञान चेतनारूप प्राणका धारी हूं ऐसा ही अनुभव उन कर्मोंसे छुडानेवाला है जिनके उदयसे यह जीव पुनः पुनः प्राणोंको पाकर कष्ट पाता है ॥ ५९ ॥

उत्थानिका–आगे प्राण नवीन कर्म पुद्गलके वन्धके कारण होते हैं इसी ही पूर्वोक्त कथनको विशेषतासे कहते हैं:–

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥६०॥

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः ॥ ६० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेषके कारण (जीवाणां पाणाबाधं) अपने और पर जीवोंके प्राणोंको बाधा (कुणदि) पहुंचाता है तब (हि) निश्चयसे इसके (सो बंधो) वह वन्ध (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ–जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपकसे मोहके अंधकारको विनाश करनेवाले परमात्मासे विपरीत मोहभाव और द्वेषभावसे परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणोंको घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवोंके भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणोंको पीड़ा पहुंचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि

कर्मोके साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षसे विपरीत है तथा मूल और उत्तरप्रकृतियोंके भेदसे अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंधके कारण होते हैं। यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरेको मारनेकी इच्छासे गर्म लोहेके पिंडको उठाता हुआ पहले अपनेको ही कष्ट दे लेता है फिर अन्यका घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहेके स्थानमें मोहादि परिणामोंसे परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राणको घातता है उसके पीछे दूसरेके प्राणोंका घात हो व न हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि मन वचन काय व स्पर्शन आदि इंद्रियोंके द्वारा व्यापार करता हुआ यह संसारी जीव जब रागद्वेष मोह भावोंसे परिणमन करता है तब यह हिंसक हो जाता है। यह बात भी ठीक ही है कि बुद्धिपूर्वक इन प्राणोंसे काम लेते हुए इच्छा अवश्य होती है जो रागका अंग है। यह मोह राग या द्वेष जब जब थोड़े या बहुत आत्माके परिणाममें झलकेंगे उसी समय आत्माके स्वाभाविक वीतराग ज्ञानभाव रूप भाव प्राणका और कुछ अंशमें शरीर बल आदि द्रव्य प्राणोंका घात करेंगे। इसलिये इच्छापूर्वक इन प्राणोंका व्यापार अपना घात करता है। इतना ही नहीं वह भाव यदि परकी हिंसारूप होता है तो एकेन्द्रिय आदि अन्य जीवोंके कष्ट पहुंचानेके व्यापारमें लगा हुआ अन्य जीवोंको भी पीड़ा पहुंचाता है–अन्य जीवोंके भाव और द्रव्य प्राणोंका घात करता है। इस हिंसककी चेष्टा होनेपर भी कर्मो

कभी अन्य प्राणी बच जाते हैं तथापि इस हिंसकका हिंसाभाव अवश्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके बंधका कारण होता है। जैसे हम यदि दूसरेके मारनेको गर्म लोहा हाथमें उठावें तो उसके पास पहुंचनेके पहले हमारा हाथ तो अवश्य जले हीगा। दूसरेके पास हम फेंक सकें व उसको लग ही जावे इसका कोई नियम नहीं है वैसे जब हम प्राणोंके कारण हिंसात्मक भाव करेंगे तब दूसरेकी हिंसा हो व न हो, हम तो अवश्य हिंसाके भावोंसे कर्मबन्ध करलेंगे। कर्मबन्धमें कारण जीव और अजीव दोनोंका आधार है। जीवका आधार उसके कषायसहित कृत, कारित या अनुमोदनरूप मन वचन कायके व्यापाररूप संरंभ अर्थात् संकल्प, समारम्भ अर्थात् प्रबन्ध, आरम्भ अर्थात् कार्यमें परिणमन करते हुए योग और उपयोग हैं। अजीव अधिकरण शरीर, वचन, मनकी क्रियाएं व इंद्रियोंका वर्तन आदि है। जैसा आधार होगा व अपनी शक्ति होगी उसके अनुसार कर्मोंका तीव्र या मंद बन्ध हो जायगा। इसीसे यहां सिद्ध किया गया है कि इस संसारी जीवके आयु आदि प्राणोंका सम्बन्ध कर्मबन्धका कारण है अतएव इनका सम्बन्ध त्यागने योग्य है।

हिंसक भाव पहले अपना बिगाड़ करता है इस सम्बन्धमें स्वामी अमृतचंद्र आचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अच्छा कहा है-

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ ४३॥

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ ४४॥

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

भाव यह है–कषायरूप मन, वचन, कायके योगोंके द्वारा द्रव्य और भाव प्राणोंको पीड़ित करना निश्चयसे हिंसा है। अपने भावोंमें रागादिभावोंका प्रगट न होना ही अहिंसा है तथा उनहीका पैदा हो जाना ही हिंसा है, यह जिनमतका सार है। रागद्वेषके विना योग्य आचरण करते हुए मात्र अन्य प्राणियोंके प्राण घात होजानेसे कभी भी हिंसाका दोष नहीं होता है। इसीके विपरीत जब प्रमादके द्वारा राग आदिके वश प्रवृत्ति की जायगी तब इस व्यापारसे कोई जीव मरो या न मरो हिंसा निश्चयसे होती रहती है, क्योंकि कषायके आधीन होकर यह जीव पहले ही अपनेसे ही अपने आत्माकी हिंसा करता है फिर दूसरे प्राणियोंके प्राणोंकी हिंसा होय भी व न भी होय, नियम नहीं है। प्रयोजन यह है कि इस जीवके मोह रागद्वेषरूप भाव ही हिंसक परिणाम हैं। जो भाव इन शरीर आदि प्राणोंके निमित्तको पाकर हो जाते हैं, इन परिणामोंसे ही कर्म पुद्गलोंका बन्ध होता है जिस बंधके कारण संसारमें जन्ममरणादि दुःखोंको उठाता हुआ यह जीव भ्रमण करता है और स्वाधीन आत्मानन्दरूप मोक्षका लाभ नहीं कर सक्ता है इसलिये इन शरीरादि प्राणोंका सम्बन्ध त्यागने योग्य हैं और

निज ज्ञानचेतनारूप प्राण ग्रहण करने योग्य है—यही निज हितका साधन है ॥ ६० ॥

उत्थानिका—आगे इंद्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण उपदेश करते हैं—

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणो पुणो पुणो अण्णो ।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसएसु ॥ ६१ ॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न जहाति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु ॥ ६१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कम्ममलिमसो) कर्मोसे मैला (आदा) आत्मा (पुणो पुणो) वार वार (अण्णे पाणे) अन्य २ नवीन प्राणोंको (धारदि) धारण करता रहता है। (जाव) जब तक (देहपधाणेसु विसएसु) शरीर आदि विषयोंमें (ममत्तं ण जहदि) ममताको नहीं छोड़ता है ।

विशेषार्थः—जो आत्मा स्वभावसे भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्मरूपी मैलसे रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है तौभी व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे मैला होरहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक वार वार इन आयु आदि प्राणोंको प्रत्येक शरीरमें नवीन नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इंद्रिय विषयोंसे रहित परम चैतन्यमई प्रकाशकी परिणतिसे विपरीत देह आदि पचेंद्रियोंके विषयोंमें स्नेह रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिसे विपरीत ममताको नहीं त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इंद्रिय आदि प्राणोंकी उत्पत्तिका अंतरंग कारण देह आदिमें ममत्त्व करना ही है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बतलाया है कि इस संसारी जीवके संसारमें भ्रमण करते हुए जो वारवार प्राणोंका धारण प्रत्येक नए२ शरीरमें जाकर होता है उसका अन्तरंग कारण शरीर आदिमें मोह-ममत्व है। हरएक संसारी आत्मा अनादिकालसे ही प्रवाहरूपसे कर्मोंसे बन्धा चला आरहा है-उन कर्मोंके उदयसे एक गतिको छोड़कर दूसरी गतिमें जाता है। जहां जाता है वहां जो शरीर व एक या दो या तीन या चार या पांच इंद्रियें प्राप्त होती हैं उनहीके विषयभोगोंकी चाहनामें पड़कर उस शरीरसे अत्यन्त रागी हो जाता है, जन्मभर इसी रागभावकी पूर्तिकी चेष्टा किया करता है, इच्छाके अनुसार भोग सामग्रीको पानेका उद्यम करके उनको एकत्र किया करता है। इसी ही उद्यममें एक क्षणमें आयु समाप्त होनेपर शरीर छोड़ता है और जैसी आयु बांधी होती है उसके अनुसार दूसरे शरीरमें पहुंच जाता है। वहां भी इसी तरह शरीरके विषयोंमें फंस जाता है। मोह या ममताभाव जबतक बना रहता है तबतक संसारके पार पहुंचनेका मार्ग ही नहीं मिलता है। बस मोही जीव यदि ममत्वको न त्यागे तो अनन्त कालतक भ्रमण ही करता रहेगा। और जब कभी भी श्री गुरुके सम्यक् उपदेशसे संसार शरीरभोगोंको असार जानकर इनसे मोह त्याग अपनी शुद्ध परिणतिमें प्रेम करेगा तब ही इसकी ममताकी डोरी टूट जायगी। बस मिथ्यात्व भावके जाते ही इसका संसारका पार निकट आ जायगा-थोड़े ही कालमें शरीर रहित हो मुक्त हो जायगा।

श्री पूज्यपाद स्वामीने " समाधिशतक " में कहा भी है-

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीज विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ–इस देहमें आत्मापनेकी भावना करनी कि जो शरीर है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो शरीर है यही ममत्व अन्य अन्य देह धारण करनेका कारण है जब कि आत्मामें ही आत्मापनेकी भावना करनी शरीर रहित होनेका कारण है। स्वामी अमितिगति महाराज बृहत् सामायिकपाठमें कहते हैं–

> माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेऽगजा–
> स्तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः ॥
> इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
> शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीश्रस्यते ॥ २५ ॥

भावार्थ–मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे भाई हैं, मेरा पुत्र है, मेरा पिता है, मेरा धन दौलत है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे आदमी हैं इस तरह घोर ममतारूप अंधेरेके वशसे ज्ञानकी अवस्था जिसकी बंदसी होगई है ऐसा प्राणी सुख प्राप्तिके कारणरूप अपने हितसे दूर रहता है।

और भी कहते हैं कि जबतक जैन वचनोंमें नहीं रमता है तब तक ममताकी डोरी नहीं टूटती है:–

> करिष्यामीदं कृतमिदमिदं कृत्यमधुना,
> करोमीति व्यग्रं नयसि सकलं कालमफलं ।
> सदा रागद्वेषप्रचयनपरं स्वार्थविमुखं,
> न जैनेऽविकृत्वे वचसि रमसे निर्वृतिकरे ॥५७ ॥

भावार्थ–मैं ऐसा करूंगा, मैंने ऐसा किया है, मैं अब ऐसा करता हूं इस तरह आकुलतामें पडाहुआ तू अपना सर्व जीवनकाल निष्फल खोदता है तथा सदा अपने आत्माके कल्याणसे विमुख

होकर रागद्वेषके भीतर पड़ा रहता है और मुक्तिके कारण विकार रहित जिनेन्द्रके वचनोंमें नहीं रमन करता है ।

इस तरह जबतक ममता है तबतक संसार है, ऐसा मानकर तथा इन शरीर आदि प्राणोंको पुद्गलजनित व संसारके दुःखोंके व भ्रमणके कारण जानकर इनसे ममता छोड़कर अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूपमें रत होकर साम्यभावरूप चारित्रमें तिष्ठकर निजानंदका लाभ करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

उत्थानिका—आगे इंद्रिय आदि प्राणोंके अन्तरंग नाशके कारणको प्रगट करते हैं—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥६२॥

य इंद्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति ।
कर्मभिः स न रज्यते कथं त प्राणा अनुचरन्ति ॥६२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जो) जो कोई (इंदियादि विजयी) इंद्रिय आदिका जीतनेवाला ((भवीय) होकर (उवओगम्) उपयोगमई (अप्पगं) आत्माको (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहिं) कर्मोंसे (ण रंजदि) नहीं रंगता है अर्थात् नहीं बंधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीवको (अणुचरंति) आश्रय करेंगे ? ।

विशेषार्थः—जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मासे उत्पन्न-सुखरूपी अमृतमें संतोषके बलसे जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय रहित निर्मल आत्मानुभवके बलसे कषायको जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमई अपनी ही आत्माको ध्याता है वह चैतन्य-

चमत्कारमई आत्माके गुणोंके विघ्न करनेवाले ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे नहीं बंधता है। कर्मबंधके न होनेपर ये इंद्रियादि द्रव्य-प्राण किस तरह उस जीवका आश्रय करसक्ते हैं ? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नहीं करेंगे। इसीसे जाना जाता है कि कषाय और इंद्रियके विषयोंका जीतना ही पंचेन्द्रिय आदि प्राणोंके विनाशका कारण है।

भावार्थ–यहां आचार्यने वह उपाय बताया है जिस उपायसे शरीर और उसके अंग इन्द्रियादि न प्राप्त हों। शरीर धारनेका मूल कारण गति, आयु आदि कर्मोंका उदय है। कर्मका उदय कर्मोंके बंध विना नहीं होसक्ता। कर्मोंका बंध इंद्रियोंके विषयोंमें आशक्ति करने तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंमें परिणमन करने और निज आत्माकी अश्रद्धा होनेसे होता है। इसलिये जो यह चाहते हैं कि शरीर और इंद्रियोंका सम्बन्ध न हो और यह आत्मा अपने निज अमूर्तिक स्वभावमें ही अनन्तकाल विश्राम करता हुआ निज आनन्दका स्वाधीनपने भोग करे उनको उचित है कि निज आत्माके शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावकी दृढ़ प्रतीति करके अपनी इन्द्रियोंकी आशक्तिको छोड़कर उनको अपने वश करें तथा क्रोधादि कषायोंको जीतकर शांतभावका आश्रय करें और निश्चल चित्त हो अपने ही शुद्ध ज्ञानदर्शनमई आत्माका ध्यान करके अनुभव करें और आनन्दामृतका पान करें-बस, वीतराग परिणामोंमें परिणमन करनेसे कर्मका बन्ध न होगा। जब बन्ध न होगा तब उदय कहांसे होगा ? उदय विना शरीर तथा प्राणोंका धारण न होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राणरहित होनेका

उपाय जितेंद्रिय होकर निज शुद्ध आत्माका अनुभव है । ऐसा ही श्री अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकलशमें कहा हैः—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धाः,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २० ॥

भावार्थ–किसी भी तरह मोहको हटाकर जो निश्चल ज्ञानमई आत्मीक भावकी भूमिका आश्रय करते हैं वे मुक्तिके साधकपनेको पाकर सिद्ध हो जाते हैं । जो मिथ्यादृष्टी मूर्ख हैं वे इस भूमिको न पाकर संसारमें भ्रमण करते हैं–

श्री अमितिगति महाराज सामायिकपाठमें कहते हैं–

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगोद्यतं,
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेक्षाऽतिगं ।
तन्निःश्रेयसकारणाय हृदये कार्यं सदा नापरं,
कृत्यं क्वापि चिकीर्षवो न सुधियः कुर्वंति तद्ध्वंसकं ॥७१॥

भावार्थ–जो परमात्माका स्वभाव सर्व आरम्भ व कषाय या परिग्रहसे रहित है, शुद्धोपयोगमें लीन है, कर्म रहित है, बाहरी पदार्थोंके आलम्बसे शून्य है उसी स्वभावको मुक्तिके लाभके लिये अपने हृदयमें सदा ध्याना चाहिये, अन्य किसीको नहीं । जो संसारके बन्धको मेटना चाहते हैं वे बुद्धिमान इस निज शुद्ध स्वभावके नाशक किसी भी कामको कभी भी नहीं करते हैं । ऐसा जानकर शरीरके त्यागके लिये शरीरका मोह छोड़कर निज शुद्ध आत्माका एक ध्यान ही कार्यकारी है ऐसा निश्चय करना चाहिये यह तात्पर्य है ॥ ६३ ॥

इस तरह "एवं सपदेसेहिं सम्मग्गो" इत्यादि आठ गाथा-ओंसे सामान्य भेद भावनाका अधिकार समाप्त हुआ ।

अथानंतर इक्यावन गाथा तक विशेष भेदकी भावनाका अधिकार कहा जाता है । यहां विशेष अन्तर अधिकार चार हैं । उन चारोंके बीचमें शुद्ध आदि तीन उपयोगकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओं तक पहला विशेष अन्तर अधिकार प्रारम्भ किया जाता है, उसमें चार स्थल हैं । पहले स्थलमें मनुष्यादि पर्यायोंके साथ शुद्धात्म स्वरूपका भिन्नपना बतानेके लिये "अत्थित्तणिच्छदस्सर-हि" इत्यादि यथाक्रमसे तीन गाथाएं हैं । उसके पीछे उनके संयोगका कारण " अप्पा उवओगप्पा " इत्यादि दो गाथाएं हैं । फिर शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग तीनकी सूचनाकी मुख्यतासे "जो जाणादि जिणिंदे" इत्यादि गाथा तीन हैं । फिर मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है ऐसा कहते हुए " णाहं देहो " इत्यादि तीन गाथाएं हैं । इस तरह ग्यारह गाथाओंसे पहले विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—आगे फिर भी शुद्धात्माकी विशेष भेद भाव-नाके लिये नर नारक आदि पर्यायका स्वरूप जो व्यवहार जीव-पनेका हेतु है दिखाते हैं:—

अत्थित्तणि[illegible]स्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो ।
अत्थो [illegible] सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ ६३ ॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः ।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादि प्रभेदैः ॥ ६३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अत्थित्तणिच्छिदस्स) अपने

अस्तित्व कर निश्चित (अत्थस्स) जीव नामा पदार्थके (हि) निश्चयसे (अत्थंतरम्मि संभूदो) पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर नारक आदि विभाव पदार्थ है (सो) वही (संठाणादिप्पभेदे हि) संस्थान आदिके भेदोंसे (पज्जायो) पर्याय है।

विशेषार्थ-चिदानन्दमई एक लक्षणरूप स्वरूपकी सत्तामें स्थिर ज्ञानमई परमात्मा पदार्थरूप शुद्धात्मासे अन्य ज्ञानावरणादि कर्मोंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ जो नर नारक आदिका स्वरूप है वह छः संस्थान व छः संहनन आदिसे रहित परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण संस्थान व संहनन आदिके द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभव लक्षणरूप स्वभाव व्यंजनपर्यायसे भिन्न विभाव व्यंजनपर्याय है।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि यह जीव प्रवाहरूपसे अनादिकालसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोसे बन्धा चला आरहा है-इस जीवके स्वरूपकी सत्ता जीवमें सदा स्थिर रहती है। जीवके भीतर जो ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुण हैं वे जीवमें सदासे हैं व सदा रहेंगे-जीव अपने अनन्त गुणोंके साथ एकमेक होकर भी अपने लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशोंको भी रखता है। वे प्रदेश भी घटने बढ़ने नहीं हैं-ऐसा जीव अपने अखंड स्वभावकी सत्ताको रखता हुआ अनादि कर्मबन्धके उदयके आधीन इस संसारमें भ्रमण करता हुआ भिन्न२ शरीरोंको धारणकरके नर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य नाम पाता है-इन शरीरोंके प्रमाण आत्माके प्रदेश सकोच-विस्तार स्वभावके कारण होजाते हैं। शरीरके सम्बन्धसे अनेक प्रकार आकारोंको धारण करता है। इन आकारोंके परिवर्तनको

व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे आकार भिन्न २ होता है वैसे ज्ञान दर्शन वीर्य आदि विशेष गुणोंकी प्रगटता भी भिन्न २ प्रकारकी होजाती है। ऐसी अवस्थाएं होती रहती हैं, छूटती रहती हैं। ये सब कर्मके द्वारा उत्पन्न अवस्थाएं नाशवत हैं ऐसा निश्चयकर अपने स्वाभाविक पुद्गलके संयोगसे भिन्न शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप सिद्ध पर्यायको ही ग्रहण करने योग्य जानना चाहिये, नरनारकादि रूपोंको त्यागने योग्य मानना चाहिये ॥ ६३ ॥

उत्थानिका—आगे उन्हीं व्यजन पर्यायके भेदोंको प्रगट करते बताते हैं—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादु हि णामकम्मस्स ॥ ६४ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः ।
पर्याया जीवानामुदयाद्धि नामकर्मणः ॥ ६४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(णामकम्मस्स उदयादु) नाम कर्मके उदयसे (हि) निश्चयसे (जीवाण) संसारी जीवोंकी (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तियच और देव (पज्जाया) पर्यायें (संठाणादीहि) सस्थान आदिके द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्यायसे भिन्न अन्य२ रूप (जादा) उत्पन्न होती हैं।

विशेषार्थ—निर्दोष परमात्मा शब्दसे कहने योग्य, नाम् गोत्रादिसे रहित शुद्ध आत्मा द्रव्यसे भिन्न नाम कर्मके बन्ध, उदय, उदीरणा आदिके वशसे जीवोंकी नर, नारक, तिर्यंच तथा देव रूप अवस्थाएं अर्थात् विभाव व्यजन पर्यायें अपने भिन्न २ आकारोंसे भिन्न२ उपजती हैं। मनुष्य भवमें जो समचतुरस्रसंस्थान,

व औदारिकादि शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भवमें उससे भिन्न ही संस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हरएक नए नए भवमें कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूपको छोड़कर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे अग्नि तृण, काष्ठ, पत्र आदिके आकारसे भिन्न२ आकारवाली हो जाती है तो भी अग्निपनेके स्वभावको अग्नि नहीं छोड़ देती है।) क्योंकि ये नरनारकादि पर्यायें कर्मोंके उदयसे होती हैं इससे ये शुद्धात्माका स्वभाव नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने फिर इसी बातको स्पष्ट किया है कि ये संसारी जीव कर्मोंसे बद्ध हैं इसीसे उनको चारगतियोंके अनेक प्रकारके शरीरोंको धारकर अनेक रूप होना पड़ता है। नामकर्मके उदयसे एकेंद्रिय पर्यायमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तथा वनस्पतिरूप; द्वेन्द्रियमें लट, केंचुआ, कौड़ी, संख आदि रूप; तीन इन्द्रियमें चींटी, चींटे, खटमल, जूं, जोंक आदि रूप; चौंद्रियमें मक्खी, भ्रमर, तितली, भिड़, पतगा आदि रूप और पंचेंद्रियमें मच्छ, गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, सिंह, हिरण, सर्प, नकुल, कबूतर, काक, मोर, मैंना, तोता आदि अनेक रूप तिर्यंच गतिकी अवस्थाओंमें नाना प्रकार शरीरके आकार रंग, हड्डी, मांस आदि प्राप्त करने पड़ते हैं। मनुष्य गतिमें अनेक रंगके, अनेक प्रकारके सुन्दर, असुन्दर, मोटे पतले, रूखे चिकने शरीरोंको धारकर अनेक आर्य व अनार्य देशोंमें जन्म लेकर रहना पड़ता है। देवगतिमें भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी देवोंमें वैक्रियिक शरीरकी अनेक जातियोंमें जन्म लेकर अनेक प्रकारके छोटे व बड़े शरीर पाकर

समय बिताना पडता है । इसी तरह नरक गतिमें अनेक प्रकारके भयावने असुन्दर छोटेबडे शरीरोंको धारकर सात नरकोंमें कष्ट उठाना पडता है । आचार्य कहते हैं कि संसारमें अनेक शरीरोंमें जीवका आकार संकोच विस्तारसे अनेक प्रकार हो जाता है व शरीरकी अनेक प्रकारकी अच्छी बुरी अवस्थाएं होती हैं इनमें कारण नामकर्मका विचित्र प्रकारका उदय है । अन्य कर्मोंके उदयके वशसे आत्मीक गुणोंकी विकारता रहती है । सर्व संसारीक व्यंजन पर्यायें कर्मद्वारा जनित हैं—मेरे शुद्ध ज्ञानानन्दमई आत्मीक स्वभावसे भिन्न हैं । यद्यपि मेरी आत्माने इस पंच परिवर्त्तनरूप संसारमें अनेक अवस्थाएं धारण करके अनेक भेष बनाए हैं, परन्तु मेरा निश्चित असंख्यात प्रदेशमई आकार व मेरे निश्चित स्वाभाविक गुण तथा स्वभाव सब मेरेमें वैसे ही रहे—उनकी अवस्थाएं कर्मके निमित्तसे अनेक विकाररूप हुईं तथापि उनका स्वभाव कभी मिटा नहीं । मैं जब कर्मके आवरणके भावको चित्तसे हटाकर अपनेको देखता हूं तो अपनेको सिद्ध भगवानरूप ही शुद्ध अनन्त शक्तियोंका धारी ही देखता हूं और इसी लिये निजानन्दरूपी अमृतके पानके लिये मैं इसी अपने स्वभावका अनुभव करता हुआ स्वाद लेता हूं । यही भावना कार्यकारी है ।

महाराज कुन्दकुन्दाचार्यजीने समयसारजीमें भी शरीरोंकी अवस्थाओंको नामकर्मकृत बताया है—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पञ्च इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ० ॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं ।

पयडीहिं पोग्गलमईहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ७१ ॥
पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा वादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ७२ ॥

भावार्थ–एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पंचेंद्रिय जातिं, वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सब नामकर्मकी प्रकृतियें हैं। जो ये १४ जीव समासरूप जीवोंके भेद अर्थात् एकेंद्रिय सूक्ष्म, एकेंद्रिय वादर, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पंचेंद्रिय असेनी, पंचेंद्रिय सैनी ये सात पर्याप्त व सात अपर्याप्त पैदा हुए हैं सो सब पुद्गलमई नामकर्मकी प्रकृतियोंके कारणसे पुद्गलरूप ही बने हुए हैं। इनको निश्चयसे जीव कैसे कहा जा सक्ता है? सिद्धांतमें जो पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म, वादर जीवोंके नाम कहे हैं सो शरीरको ही जीवकी संज्ञा व्यवहारनयसे कही गई है। निश्चयसे जीव इन शरीरादिसे रहित शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावका धरनेवाला है। यही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावना करके अपने आत्माको सर्व नरनारक आदि पर्यायोंसे भिन्न एकाकाररूप अनुभव करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

उत्थानिका–आगे यह प्रकाश करते हैं कि जो कोई अपने स्वरूपमें अस्तित्वको रखनेवाले परमात्मद्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोहको नहीं करता है–

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥६५॥
तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम् ।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ ६५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभावमें तन्मय (तिहा समक्खादं) व तीन प्रकार कहे हुए

(दव्वसहावं) द्रव्यके स्वभावको (सवियप्पं) भेद सहित (जाणदि) जानता है (सो) वह (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्यमें (ण मुहदि) मोहित नहीं होता है।

विशेषार्थ–जो कोई परमात्म द्रव्यके स्वभावको ऐसा जानता है कि यह अपने स्वरूप सत्तामें तन्मय रहता है तथा इसका स्वभाव तीन प्रकार कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान आदि गुण हैं, सिद्धत्व आदि विशुद्ध पर्यायें हैं तथा इन दोनोंका आधाररूप परमात्म द्रव्य है तैसे ही शुद्ध पर्यायोंमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप है ऐसे स्वरूप अस्तित्वके साथ तीन रूप है तथा ज्ञान दर्शन भेदसहित है इनमें साकार ज्ञान व निराकार दर्शन है। वह भेदज्ञानी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मतत्त्वको जानता हुआ देह व रागादि परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है।

भावार्थ–इस गाथाका भाव यह है कि द्रव्य छः हैं इन छहों द्रव्योंकी स्वरूप सत्ताको 'कि इनका अस्तित्व सदासे है व सदा रहेगा, व ये गुण पर्याय मय हैं व उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं' इस तरह तीन प्रकार जैसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है वैसा उनको भेद प्रभेद सहित अच्छी तरह जानता है वही ज्ञानी है। इस ज्ञानीको यह जगत यद्यपि मिश्रित अनेक अवस्थामय है तथापि अलग अलग प्रगट होता है। जितनी आत्माएं हैं सब शुद्ध ज्ञानानंदमय झलकती हैं, जितने अनात्म द्रव्य पुद्गलादि हैं वे सब अचेतन प्रगट होते हैं। उसको अपने आत्माकी सत्ता भी अन्य आत्माओंसे जुदी भासती है। वह अपनी आत्माको परम-वीतराग ज्ञानदर्शन सुख वीर्यका समूहरूप एक अखंड अपने ही

शरीरमें विराजित अनुभव करता है ऐसे अनुभवी जीवका स्वभावसे ही मोह अपने ही निज द्रव्यको छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं रहता है–वह जगतकी अवस्थाओंको ज्ञातादृष्टाके समान देखता जानता है–उनके किसी पर्यायके होनेमें हर्ष व किसी पर्यायके बिगड़नेमें द्वेष नहीं करता है, वीतरागी रहता हुआ ज्ञानी बन्धमें नहीं पड़ता है। वास्तवमें मोहकी जड़ काटनेवाला पदार्थोंका सम्यग्श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान है। इनके होनेपर मोहकी गांठ टूट जाती है और कुछ काल पीछे ही मोहका सर्वथा क्षय हो जाता है, और आत्मा केवलज्ञानी हो जाता है। इस तरह जिस तरह बने यथार्थज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानलोचन स्तोत्रमें श्री वादिराज महाराज कहते हैं:–

अनाद्यविद्यामयमूर्छितांग, कामोदरक्रोधहुताशतप्तम्।
स्याद्वादपीयूषमहौषधेन, त्रायस्व मां मोहमहाहिदष्टम् ॥२१॥

भावार्थ–मैं अनादिकालके अज्ञानमई रोगसे मूर्छित हूं, काम क्रोधकी अग्निसे जल रहा हूं, मोह महा सर्पसे डसा गया हूं, मुझे स्याद्वादरूपी अमृतमई महा औषधि पिलाकर मेरी रक्षा कर।

श्री आत्मानुशासनमें गुणभद्राचार्य कहते हैं–

मुहुः प्रसार्य सद्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥

भावार्थ–बारवार सच्चे ज्ञानका विस्तार करके व पदार्थोंके यथार्थ स्वभावोंको देखता हुआ एक अध्यात्मज्ञानी मुनि रागद्वेष दूरकर निज आत्माका ध्यान करे।

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञानी जीव ही मोहका क्षय कर सक्ता है ॥ ६९ ॥

इस तरह नर नारक आदि पर्यायोंके साथ परमात्माका विशेष भेद कथन करते हुए पहले स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका—पूर्वमें कहे प्रमाण आत्माका नर, नारक आदि पर्यायोंके साथ भिन्नताका ज्ञान तो हुआ, अब उनके संयोगका कारण कहते हैं—

अप्पा उवयोगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो हि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥६६॥
आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
स हि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥६६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(अप्पा) आत्मा (उवओगप्पा) उपयोग स्वरूप है, (उपओगो) उपयोग (णाणदंसणं) ज्ञानदर्शन (भणिदं) कहा गया है। (सो हि अप्पणो उवओगो) वही आत्माका उपयोग (सुहो वा असुहो) शुभ या अशुभ (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ—चैतन्यके साथ होनेवाला जो कोई परिणाम उसको उपयोग कहते हैं उस उपयोगमई यह आत्मा है । वह उपयोग विकल्प सहित ज्ञान व विकल्प रहित दर्शन होता है, ऐसा कहा गया है । वही ज्ञानदर्शनोपयोग जब धर्मानुरागरूप होता है तब शुभ है और जब विषयानुरागरूप होता है व द्वेष मोहरूप होता है तब अशुभ है। गाथामें वा शब्दसे शुभ अशुभ अनुरागसे रहित शुद्ध उपयोग भी होता है . ऐसा तीन प्रकार आत्माका उपयोग होता है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह कहा है कि जिन कर्मोंके उदयसे निश्चयसे शुद्ध परन्तु अनादि कर्मबंधसे अशुद्ध इस जीवके

नरनारक आदि पर्यायें होती हैं उन कर्मोका बंध इसी जीवके अशुद्ध उपयोगसे होता है। आत्मा चेतना गुणधारी है उसीके परिणामको उपयोग कहते हैं। उसके दो भेद हैं-एक दर्शन, जो सामान्यरूपसे विना आकारके पदार्थोमें प्रवर्तन करता है। दूसरा ज्ञान-जो विशेष रूपसे आकारसहित पदार्थोको जानता है। अल्पज्ञानीके ये दर्शन और ज्ञान उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। पहले दर्शन पीछे ज्ञान होता है। ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। जब मोहकी कलुपतासे उपयोग मैला नहीं रहता है तब ज्ञानदर्शनोपयोग शुद्ध होता है और शुद्धोपयोग कर्मवन्धका कारण नहीं होता है, परन्तु जब मोहकी कलुपतासे उपयोग मैला होता है तब वह अशुद्धोपयोग कहलाता है। उस अशुद्धोपयोगके दो भेद हैं-एक शुभोपयोग दूसरा अशुभोपयोग। जब उपयोगमें कषायकी मन्दतासे धर्मानुराग होता है तब वह शुभोपयोग कहलाता है और जब पचेंद्रियोंके विषयोंमें लीन रहता है व कषायोंकी तीव्रतासे तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभमें फंसकर मोही द्वेषी होता है तब वह उपयोग अशुभ उपयोग कहलाता है। ये ही दो प्रकारका अशुद्ध उपयोग कर्मवन्धका कारण है। शुभ उपयोगमें विशुद्धता तथा अशुभ उपयोगमें संक्लेशपना रहता है।

ऐसा जानकर शुद्धोपयोगको उपादेय मानकर उसकी प्राप्तिका सदा ही यत्न करना चाहिये। **श्री आत्मानुशासन** में कहा है:-

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयं ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥
तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४०॥

भावार्थ–शुभ उपयोग उससे पुण्यबन्ध उसका फल संसारी-कसुख, अशुभ उपयोग उससे पापबन्ध, उसका फल दुःख, इन छहोंमें व्यवहारमें पहले तीन हितकारी हैं इससे ग्रहण योग्य हैं तथा दूसरे तीन हितनाशक हैं इससे त्यागने योग्य हैं। उनमें भी निश्चयसे आदिका शुभोपयोग त्यागने योग्य है जिसके त्याग होते हुए शेष दो भी स्वयं नहीं होते अर्थात् पुण्यबन्ध व सांसारिक सुख नहीं होते। शुभको छोड़कर शुद्धोपयोग होते हुए अन्तमें परमपदको यह आत्मा प्राप्त कर लेता है ॥ ६६ ॥

उत्थानिका–आगे फिर कहते हैं कि जब यह अशुद्ध उपयोग ही नरनारकादि पर्यायोंके कारणरूप परद्रव्यमई पुद्गलकर्मके बंधका कारण होता है तब किस कर्मका कौन उपयोग कारण है–

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं, तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥६७॥

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति ।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥ ६७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(हि) निश्चयसे (जदि) यदि (उवओगो) उपयोग (सुहो) शुभ हो तो (जीवस्स) इस जीवके (पुण्णं) पुण्य कर्म (संचयं जादि)का संचय होता है (वा) अथवा (असुहो) अशुभ हो (तध) तब (पावं) पापका संचय होता है। (तेसिमभावे) इन शुभ अशुभ उपयोगोंके न होनेपर (चयं) संचय (ण अत्थि) नहीं होता है।

विशेषार्थ–जब शुभ उपयोग होता है तब इस जीवके द्रव्य पुण्यकर्मका बंध होता है और जब अशुभोपयोग होता है तो द्रव्य

पापका संचय होता है—इन दोनोंके विना पुण्य पापका बंध नहीं होता है अर्थात् जब दोष रहित निज परमात्माकी भावनारूपसे शुद्धोपयोगके बलकेद्वारा दोनों ही शुभ अशुभ उपयोगोंका अभाव किया जाता है तब दोनों ही प्रकारके कर्मबंध नहीं होते हैं।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि कर्मबंधका कारण कषायकी कलुपता है। जब आत्मा निष्कषाय या वीतराग अर्थात् साक्षात् शुद्धोपयोगमय होता है तब इसके कर्मबंध नहीं होता है। ११ वें गुणस्थानसे कषायका उदय नहीं है। सयोग केवली तक योगोंका सकम्पपना है इसीलिये मात्र साता वेदनीय नामका पुण्यकर्म एक समयकी स्थितिधारी आता है और झड़ जाता है। जिस बंधमें कमसे कम अंतर्मुहूर्त स्थिति पड़े उसही को बंध कह सके हैं ऐसा बंध सूक्ष्मलोभ नामके दशवें गुणस्थान तक ही होता है। आयु कर्मके बंधके अवसरपर आठ कर्म योग्य व शेष समयोंमें सात कर्म योग्य पुद्गलोंका आश्रव तथा बंध होता है। इनमें चार घातिया कर्म ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय द्रव्य पाप कर्म हैं तौभी इनका बंध सदा ही हुआ करता है। क्योंकि ज्ञानदर्शनमें जितनी कमी है व वीर्यमें जितनी कमी है व मोहकी जितनी कालिमा है उतनी ही थिरता उपयोगकी नहीं होती है। इस अथिरताके दोपसे हर समय इन चार घातिया कर्मोंका बंध हुआ करता है, परंतु जब आत्मामें शुभोपयोग होता है तब इन पाप कर्मोंमें अनुभाग बहुत हीन पड़ता है, अशुभोपयोगके होनेपर तीव्र पड़ता है। अघातिया कर्मोंमें पुण्य पापके भेद हैं। साता वेदनीय; उच्च गोत्र, देव मनुष्य

गति शुभ, शुभग, आदेय, यश आदि नाम कर्मकी शुभ प्रकृतियें, तथा देव मनुष्य व तिर्यंच आयु कर्म, द्रव्य पुण्य कर्म हैं जब कि असाता वेदनीय; नीच गोत्र; नरक गति अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय आदि नाम कर्मकी अशुभ प्रकृतियें, तथा नरक आयु ये द्रव्य पाप कर्म हैं।

जब इस जीवका उपयोग मंदकषाय रूप होकर दान पूजा जप तप स्वाध्यायमें लीन होता है तब शुभोपयोग कहलाता है। उस समय घातिया कर्मोंके सिवाय चार अघातिया कर्मोंमें द्रव्य पुण्य कर्मका ही बंध होता है और जब इस जीवका उपयोग तीव्र कषायरूप होकर हिंसा, असत्य, पर हानि, विषय भोग आदिमें लीन होता है तब अशुभ उपयोग होता है उस समय घातिया कर्मोंके सिवाय चार अघातिया कर्मोंमें द्रव्य पाप कर्मका ही बंध होता है।

शुभ व अशुभ कलिमाको बन्धका कारण जानकर हमको मुक्ति पानेके लिये एक शुद्धोपयोगकी भावना ही कर्तव्य है।

स्वामी अमितिगति बड़े सामायिकपाठमें कहते हैं–

पूर्व कर्म्म करोति दुःखमशुभं सौख्यं शुभ निर्मितं ।
विज्ञायेत्यशुभं निहंतु मनसो ये पोषयंते तपः ॥
जायंते समसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥ ९० ॥

भावार्थ–पूर्वमें बांधा हुआ अशुभकर्म दुःख पैदा करता है जब कि शुभ कर्म सुख पैदा करता है, ऐसा जानकर जो इस अशुभको नाश करनेके भावसे तप करते हैं और समता तथा संयमरूप होजाते हैं ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं। परंतु जो पुण्य पाप दोनों ही प्रकारके र्मोंके नाशमें लवलीन हैं उन योगियोंकी तो बात ही क्या कहनी।

प्रयोजन यह है कि जो शुद्धोपयोगके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंके नाशको चाहते हैं ऐसे ही साधु प्रशंसनीय हैं, क्योंकि शुद्ध वीत-राग भाव ही बन्धनाशक तथा निजानन्ददायक और साक्षात् मुक्तिका मार्ग है ॥ ६७ ॥

इस तरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगका सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थलमें दो गाथाएँ समाप्त हुईं।

उत्थानिका–आगे विशेष करके शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं–

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ ६८ ॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारन्।
जीवे च सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ ६८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जो) जो जीव (जिणिंदे) जिनेन्द्रोंको (जाणादि) जानता है (सिद्धे) सिद्धोंको (पेच्छदि) देखता है। (तधेव) तैसे ही (अणगारे) साधुओंका दर्शन करता है (य) और (जीवे साणुकंपो) जीवोंपर दया भाव रखता है (तस्स) उस जीवका (सो उवओगो) वह उपयोग (सुहो) शुभ है।

विशेषार्थ–जो भव्यजीव अरहंतोंको ऐसा जानता है कि वे अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयके धारी हैं तथा क्षुधा आदि अठारह दोषोंसे रहित हैं तथा सिद्धोंको ऐसा देखता है कि वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित हैं तथा सम्यक्त आदि आठ गुणोंमें अंतर्भूत अनन्त गुण सहित हैं तैसे ही अनगार शब्दसे कहने योग्य निश्चय व्यवहार पंच आचार आदि शास्त्रोक्त लक्षणके धारी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंकी भक्ति करता है और त्रस स्थावर जीवोंकी

दया पालता है उस जीवके ऐसा व इसी जातिका उपयोग शुभ कहा जाता है।

भावार्थ--इस गाथामें शुभोपयोगका वास्तविक कथन बताया है। जो यथार्थमें सम्यग्दृष्टी हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, भेद विज्ञानसे स्वपरके ज्ञाता हैं उन्हींके ज्ञानमें अरहंत सिद्ध साधुओंका सच्चा स्वरूप व सच्चा प्रेम झलकता है व वे ही सच्चे हार्दिक दयावान होते हैं।

वे ही इस बातको जानते हैं कि जिन्होंने अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वको जीत लिया है, वेही जिन हैं उन्हींमें इन्द्र तुल्य चार घातिया कर्मोंको क्षय करके अनंतज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य्यको लब्धकर स्वरूप मगन रहनेवाले तथा क्षुधा, पिपासा, रोगादि अठारह दोषोंसे रहित व अपनी दिव्यध्वनिसे मोहांधकारको नाशकर ज्ञान ज्योति प्रगटानेवाले श्री जिनेन्द्र या अरहंत होते हैं। तथा जो सर्व कर्म बंध रहित स्वरूपसे पूर्ण शुद्ध व निजानन्दमें तन्मय हैं वे सिद्ध हैं, जिन्होने सव कुछ सिद्ध कर लिया है व फिर जिनको कभी संसारमें फंसना नहीं है तथा जो भेदाभेद रत्नत्रयके प्रतापसे मोक्षका साधन करते हैं वे गृह रहित दिगम्बर साधु हैं। उनका उपदेश मोक्षमार्गमें प्रेरणा करनेवाला है। सर्व जीवोंको अपने समान जाननेवाले तथा व्यवहारमें प्राणोंके भेदसे त्रस स्थावर प्राणी हैं ऐसा समझनेवाले ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव दयाके सागर होते हैं--वे किसी भी जीवको कष्ट देना नहीं चाहते हैं। इसी लिये साधु पदमें वे स्थावरतककी दया पालते हैं, परंतु जव गृहस्थ अवस्थामें होते हैं तब संकल्प करके त्रस घात

नहीं करते हैं परन्तु लाचारीसे जो गृहस्थके आरंभ कार्य करने पड़ते हैं उनमें यथासंभव रक्षाके भावसे वर्तते हुए जो त्रस या स्थावरकी हिंसा होजाती है उससे अपनी निंदा करते हुए दयारससे सदा भीगे रहते हैं ऐसे महात्माओंकि हृदयमें शुभोपयोग रहकर महान पुण्य कर्मका सचय करता है। इस गाथामें आचार्यने यह भी बतादिया है कि व्यवहार धर्म पंचपरमेष्ठीके गुणोंमें भक्ति तथा अहिंसा धर्म है। दयारूप वर्तना अहिंसा धर्मका एक अंग है। जीवोंकी रक्षा हो यही भाव शुभोपयोग है। श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीने पांचपरमेष्ठियोंका स्वरूप द्रव्यसंग्रहमें इस तरह कहा है—

णट्ठ चदुघाइकम्मो दंसण सुहणाणवीरिय मईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरहो विचिंतिज्जो ॥

भावार्थ—जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं व जो अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत ज्ञान व अनंतवीर्यमई हैं व परम औदारिक शरीरमें विराजित हैं तथा वीतराग आत्मा हैं वे अरहंत हैं उनका ध्यान करना चाहिये।

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धोझाएह लोयसिहरत्थो ॥

भावार्थ—जिसने आठ कर्म तथा शरीरोंको नष्ट कर दिया है। जो लोक अलोकका ज्ञाता दृष्टा है, पुरुषाकार है व लोकके शिखरपर विराजित है सो आत्मा सिद्ध है, उसका ध्यान करना चाहिये।

दसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेयो ॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यक्-

तप और सम्यक् वीर्यरूपी पांच प्रकारके आचारमें अपनी आत्माको तथा दूसरे शिष्योंको लगाते हैं वे मुनि आचार्य हैं उनको ध्याना चाहिये ।

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥

भावार्थ-जो रत्नत्रयसे युक्त हैं, नित्य धर्मोपदेश देनेमें लीन हैं, यतियोंमें श्रेष्ठ हैं वह आत्मा उपाध्याय है उसको नमस्कार हो।

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्च सुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥

भावार्थ-जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र रूप मोक्षके मार्गको नित्य शुद्ध रूपसे साधन करते हैं वह मुनि साधु हैं उनको नमस्कार हो । इस तरह पांच परमेष्ठी परम हितकारी हैं । इनकी यथायोग्य भक्ति करना शुभोपयोग है ।

अनुकम्पाका स्वरूप स्वयं श्री कुन्दकुन्द महाराजने पंचास्तिकायमें इसतरह कहा है:-

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ॥१३७॥

भावार्थ-जो कोई जीव प्यासा हो, भूखा हो, रोगादिसे दुःखी हो उसको देखकर जो कोई उसकी पीड़ासे आप दुःखी होता हुआ दयाभाव करके उस दुःखके दूर करनेकी क्रियाको प्राप्त होता है उस पुरुषके यह अनुकम्पा होती है । वास्तवमें श्री देवगुरु शास्त्रकी भक्ति और दयाधर्ममें सर्व शुभोपयोग गर्भित है।

यह शुभोपयोग राग सहित होनेसे मुख्यतासे पुण्य बंधका

कारण है । मोक्षका कारण साक्षात् शुद्धोपयोग है जहां मात्र शुद्ध आत्मामें ही आप तन्मय रहकर वीतरागभावमें लीन रहता है । इसलिये शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानकर उस रूप होनेकी चेष्टा करते हुए जनतक शुद्धोपयोग न हो शुभोपयोगमें वर्तना चाहिये ।

वास्तवमें शुभोपयोग धार्मिक भाव है सो सम्यग्दृष्टिके पाया जाता है मिथ्यादृष्टीके नहीं । तथापि जहां व्यवहारकी दृष्टिसे देखा जाता है वहां निश्चय सम्यक्त न होते हुए जो व्यवहार सम्यक्ती देवगुरु शास्त्रकी भक्ति तथा दया मार्गमें व परोपकारमें वर्तन करता है उसको भी मंदकषाय होनेसे शुभोपयोग कह सक्ते हैं । यह शुभोपयोग अतिशय रहित साधारण पुण्य कर्म बंध करता है जब कि सम्यक्त्व सहित शुभोपयोग अतिशयरूप भारी विशेष पुण्य कर्म बांधता है ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६९ ॥

विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ॥ ६९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(जस्स) जिस जीवका (उवओगो) उपयोग (विसयकसाओगाढो) विषयोंकी और कषायोंकी तीव्रतामें भरा हुआ है (दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो) खोटे शास्त्र पढ़ने सुनने, खोटा विचार करने व खोटी संगतिमई वार्तालापमें लगा हुआ है, (उग्गो) हिंसादिमें उद्यमी दुष्ट रूप है, (उम्मग्गपरो) तथा मिथ्यामार्गमें तत्पर है ऐसे चार विशेषण सहित है (सो असुहो) सो अशुभ है ।

विशेषार्थः—जो विषय कषाय रहित शुद्ध चैतन्यकी परिणतिसे विरुद्ध विषय कषायोंमें परिणमन करनेवाला है उसे विषय कषायावगाढ़ कहते हैं। शुद्ध आत्मतत्त्वको उपदेश करनेवाले शास्त्रको सुश्रुति कहते हैं उससे विलक्षण मिथ्या शास्त्रको दुःश्रुति कहते हैं। निश्चिन्त होकर आत्मध्यानमें परिणमन करनेवाले मनको सुचित्त कहते हैं। व्यर्थ वा अपने और दूसरेके लिये इष्ट काम-भोगोंकी चितामें लगे हुए रागादि अपध्यानको दुश्चित्त कहते हैं, परम चैतन्य परिणतिको उत्पन्न करनेवाली शुभ गोष्ठी है या संगति है उससे उल्टी कुशील या खोटे पुरुषोंके साथ गोष्ठी करना दुष्ट गोष्ठी है। इस तरह तीन रूप जो वर्तन करता है उसे दुःश्रुति, दुश्चित्त, दुष्टगोष्टीसे युक्त कहते हैं। परम उपशम भावमें परिणमन करनेवाले परम चैतन्य स्वभावसे उल्टे भावको जो हिंसादिमें लीन है उग्र कहते हैं, वीतराग सर्वज्ञ कथित निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गसे विलक्षण भावको उन्मार्गमें लीन कहते हैं इसतरह चार विशेषण सहित परिणामको व ऐसे परिणामोंमें परिणत होनेवाले जीवको अशुभोपयोग कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने अशुभोपयोगका बहुत ही बढ़िया स्वरूप बताया है।

ज्ञान दर्शनोपयोगकी परिणतिमें जब ऊपर लिखित शुभोपयोगके व शुद्धोपयोगके भाव नहीं होते हैं तब तीसरे अशुभोपयोगके भाव अवश्य होते हैं। क्योंकि हरएक जीवके तीन प्रकारके उपयोगोंमेंसे एक न एक उपयोग एक समयमें अवश्य पाया जायगा। अशुभोपयोग भावकी पहचान यह है कि जिसका उपयोग पांचों

इन्द्रियोंकी तीव्र इच्छासे विवश हो इन्द्रिय भोगोंके संकल्परूप संरंभमें, उनके प्रबन्ध रूप समारंभमें व उनके भोगने रूप आरंभमें वर्तन करता है, व क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंकी तीव्रतामें फंसकर इन कषायोंके साथ मनके, वचनके व कायके वर्तनेमें लग जाता है, जिससे मारपीट करता है, गाली बकता है, दूसरेको तुच्छ समता है, कपटसे ठगता है, अन्यायसे धन एकत्र करता है, व विषय कषायोंमें तथा मिथ्या एकांत धर्ममें फंसानेवाले खोटे शास्त्रोंके पढ़नेमें लग जाता है, व कामभोगकी या अन्य दुष्ट चिंतारूप फिक्रोंमें लगा रहता है व खोटे मित्रोंके साथ बैठकर परनिन्दा, आत्मप्रशंसा व खोटे मंत्र करनेकी गोष्टीमें उलझा रहता है व जुआरमण, चौपड़, सतरंज, तास खेलन, भंडरूप वचन व चेष्टाके व्यवहारमें रति करता है व सदा भयानकरूप हो हिंसा प्रवृत्ति, मृषावाद, चोरीकरण, कुशील व परिग्रहवृद्धिमें फंसा रहता है व जिनेन्द्रप्रणीत मार्गसे विरुद्ध अन्य संसारके बढ़ानेवाले मिथ्यामार्गोंकी सेवा पूजा भक्ति व श्रद्धामें लगा रहता है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। यह अशुभोपयोग पापकर्मका बांधनेवाला है जिस पापकर्मके फलसे यह जीव नरक, निगोद, तिर्यंच व खोटी मनुष्य पर्यायमें जाकर महान् असह्य संकटोंको उठाता है। श्री पंचास्तिकायमें भी आचार्यने अशुभोपयोगका स्वरूप इसतरह कहा है:—

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ १३९ ॥

भावार्थ—स्त्री, भोजन, राजा व देश कथा सम्बन्धी भावोंमें मिली हुई वृथा राग उपजानेवाली प्रमादरूप क्रिया अथवा असा-

चधानीसे हिंसारूप गृहस्थीके आरंभकी क्रिया, चित्तकी मलीनता, इंद्रियोंके विषयभोगोंमें लोलुपता, अन्य प्राणियोंको दुःख देनेवाली क्रिया व दूसरोंकी निन्दा इत्यादि प्रवृत्ति पापका आश्रव करती है।

श्री कुलभद्रआचार्यकृत सारसमुच्चयमें अशुभोपयोगके भावोंको इस तरह बताया है-

> कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।
> संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥ ३३ ॥

भावार्थ-जो मन विषय कषायोंसे व मिथ्यादर्शनसे पीड़ित है वह संसारके बीजपनेको प्राप्त होता है और इनहीसे रहित मोक्षका बीज होता है ।

> अज्ञानावृत्तचित्तानां रागद्वेषरतात्मनाम् ।
> आरंभेषु प्रवृत्तानां हितं तस्य न भीतवत् ।२५३॥

भावार्थ-जिनका चित्त अज्ञानमें वर्तन करता है व जो राग द्वेषमें रत हैं व जो आरंभोंमें वर्तन करते हैं उनका हित उसी तरह नहीं होता है जैसे डरपोकका हित नहीं होता है ।

अशुभोपयोगके परिणामोंसे यहां भी संक्लेशभाव होता है, आकुलता होती है, भय रहता है, जिससे सुख शांति नहीं प्राप्त होती है तथा उन परिणामोंके द्वारा दूसरोंको भी कष्ट होता है तथा उनसे जो पापकर्मका बन्ध होता है वह उदयमें आकर जीवोंको अनेक कुयोनियोंमें महा दुःख प्राप्त कराता है ।

इससे अशुभोपयोग मूल संस्कारका कारण है तथा सब तरहसे हानिकारक है इससे सर्वथा त्यागने योग्य है, यह भावार्थ है ॥६९॥

उत्थानिका—आगे शुभ अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगको वर्णन करते हैं—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ ७० ॥

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥ ७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(अहं) मैं (असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोगसे रहित होता हूं. (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोगमें भी परिणमन नहीं करता हूं तथा (अण्णदवियम्मि) निज परमात्मा सिवाय अन्य द्रव्यमें तथा जीवन मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें (मज्झत्थो होज्जं) मध्यस्थ होता हुआ (णाणप्पगम्) ज्ञानस्वरूप (अप्पगं) आत्माको (झाए) ध्याताहूं।

विशेषार्थ—अशुभोपयोग तथा शुभोपयोगमें परिणमन न करके वीतरागी होकर ज्ञानसे निर्मित ज्ञानस्वरूप तथा उस केवलज्ञानमें अंतर्भूत अनंतगुणमई अपनी आत्माको शुद्ध ध्यानके विरोधी सर्व मनोरथरूप चिंताजालको त्यागकर ध्याताहूं। यह शुद्धोपयोगका लक्षण जानना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें शुद्धोपयोगका स्वरूप जो वास्तवमें अनुभवगम्य है, वचनगोचर नहीं है. उसका संक्षेप स्वरूप कथन किया है।

जहां ध्याताका उपयोग मिथ्यामार्ग, व विषय कषायरूप अशुभोपयोगसे बिलकुल दूर रहकर भक्ति, पूजा, दान, परोपकार आदि मंद कषायसे होनेवाले शुभोपयोगोंसे भी छुटा हुआ होता

है और द्रव्यार्थिक दृष्टिके द्वारा परिणमन करता हुआ पर्यायार्थिक दृष्टिसे जो जीवन मरण, लाभ अलाभ, शत्रु, मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें विकल्प उठकर किसीमें राग व किसीमें द्वेष होता था सो नहीं होकर समताभावमें मग्न होजाता है और केवल मात्र ज्ञायक स्वभावरूप अपने ही शुद्ध आत्माके भीतर लय होजाता है वह शुद्धोपयोग है। इस शुद्धोपयोगकी दशामें ध्याताके अंतरंगमें ध्याता, ध्येय, ध्यानके विकल्प नहीं होते। जो ध्याता है वही ध्येय है, वही ध्यान है। आत्मामें एकाग्र परिणतिको ही शुद्धोपयोग कहते हैं। यही स्वात्मानुभवरूप दशा है, यही ध्यानकी अग्नि है जो कर्मोंको नाश करती है, यही रत्नत्रयकी एकतारूप निश्चय मोक्षमार्ग है, यही साधन है जिससे मोक्षकी सिद्धि होती है। निर्जराका यही मुख्य उपाय है। इस शुद्धोपयोगमें अपूर्व आनन्दका स्वाद आता है जिससे ध्याता परमसुखसमुद्रमें मग्न होकर एक शुद्ध अद्वैत भावरूप होजाता है, इस शुद्धोपयोगकी दशा श्री नागसेनमुनिने तत्त्वानुशासनमें इसतरह कही है—

तदेवानुभवश्चायमेकाग्र्यं परिमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥ १७१ ॥

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—उसी ही अपने आत्माको अनुभव करताहुआ परम एकाग्रभावको पाता है तथा वचनअगोचर स्वाधीन आनन्दका लाभ करता है। जैसे वायु रहित प्रदेशोंमें रक्खा हुआ दीपक नहीं कांपता है—अखंड जलता है तैसे योगी अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होता हुआ एकाग्रभावको नहीं त्यागता है तब बाहरी अन्य पदार्थोंके होते हुए भी अपने आत्मामें अपने आत्माको अनुभव करते हुए और कुछ भी नहीं झलकता है। इस तरह अपने आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करते हुए वह योगी 'जिसका सर्व अहंकार ममकार नष्ट होगया है' आगामी आने योग्य कर्मोंको रोक देता है और पुराने बांधे हुए कर्मोंका क्षय करता है। यही शुद्धोपयोगकी दशा है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं:—

ससहावं वेदंतो णिचलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसणणाणं चरित्तं च ॥५६ ॥
जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥५७॥

भावार्थ—वह योगी निश्चल चित्तको परभावोंसे छूटा हुआ अपने स्वभावको जब अनुभव करता है तब वही जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप जानना चाहिये। जो जीव निश्चयनयके विषयरूप शुद्ध भावमें आश्रय लेता है उसके अनुभवमें जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यग्चारित्र है अथवा वही शुद्ध ज्ञान चेतना है।

शुद्धोपयोग परम कल्याणकारी है ऐसा मान इसीको उपादेय मान इसीका उद्यम करना चाहिये। इसतरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोगका वर्णन करते हुए तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे शरीर, वचन और मनके सम्बन्धमें मध्य स्थभावको झलकाते हैं-

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ॥ ७१ ॥
नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारण तेषाम् ।
कर्ता न न कारयिता अनुमंता नैव कर्तॄणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(अहं देहो ण) मैं शरीर नहीं हूं (ण मणो) न मन हूं (ण चेव वाणी) और न वचन ही हूं (ण तेसिं कारणं) न इन मन वचन कायका उपादान कारण हूं । (ण कत्ता) न मैं इनका करनेवाला हूं (ण कारयिदा) न करानेवाला हूं (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करनेवालोंकी अनुमोदना करता हूं।

विशेषार्थ-मन, वचन, कायके व्यापारसे रहित ' परमात्म द्रव्यसे भिन्न जो मन, वचन, काय तीन हैं' मैं निश्चयसे इन रूप नहीं हूं इसलिये इनका पक्ष छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ होता हूं। विकार रहित परम आनन्दमई एक लक्षणरूप सुखामृतमें परिणति होना उसका जो उपादान कारण आत्मद्रव्य उसरूप मैं हूं। मन वचन कायोंका उपादान कारण पुद्गल पिंड है' मैं नहीं हूं। इस कारणसे इनके कारणका भी पक्ष छोड़कर मध्यस्थ होता हूं। मैं अपने ही शुद्धात्माकी भावनाके सम्बन्धमें कर्ता, करानेवाला तथा अनुमोदना करानेवाला हूं परंतु उससे विलक्षण मन वचन कायके संबंधमें कर्ता, करानेवाला, तथा अनुमोदना करनेवाला नहीं हूं । इसलिये इसका पक्ष भी छोड़कर मैं अत्यंत मध्यस्थ होता हूं ।

भावार्थ-इस संसारी प्राणीकी सर्व व्यवहार क्रियाएं मन,

वचन, कायके व्यापारसे होती हैं। यहां आचार्य शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य करके कहते हैं कि यह आत्मा न शरीर है, न मन है, न वाणी है, न उनका कारण है, न उनका कर्ता है, न करनेवाला है, न इनका होना किसीके चाहता है। निश्चय नयसे आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है। उसका स्वभाव न शरीर लेना न उसकी क्रिया करना है, न वचनोंका व्यवहार करना है न मनका संकल्प विकल्प करना है। जितनी मन वचन कायकी क्रियाएं होती हैं वे मुख्यतासे मोहके कारणसे सराग अवस्थामें तथा नामकर्मके कारणसे वीतराग अवस्थामें होती हैं। इनकी क्रियाओंमें बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम ज्ञानोपयोग काम करता है जो आत्माके शुद्ध ज्ञानसे भिन्न है। जैसे मन वचन कायकी क्रियाएं स्वभावसे शुद्ध कर्म रहित आत्मामें नहीं होती हैं वैसे मन, वचन, कायकी रचना भी आत्मासे नहीं होती है न आत्मा उनरूप है, न उनका कारण है क्योंकि आत्मा चैतन्यरूप अमूर्तीक है, जब कि मन वचन काय जड़रूप मूर्तीक हैं। हृदयस्थानमें मनोवर्गणासे बना हुआ द्रव्य मन आठ पत्रके कमलके आकार है। भाषा वर्गणाओंसे वचन, तथा आहारक वर्गणाओंसे हमारा शरीर बनता है। इस तरह ये मन वचन काय पुद्गलमई हैं। इनका कारण भी पुद्गल है। मेरे चैतन्य स्वभावसे ये सर्वथा भिन्न हैं ऐसा समझकर इनसे वैराग्यभाव लाकर शरीरमें विराजित शुद्धात्माको ही अपना स्वरूप समझना चाहिये।

जबतक इन मन वचन कायोंमें अहंबुद्धि न छोड़ेगा तबतक इस जीवको स्वपदका मान नहीं होसक्ता। श्री पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है–

स्वबुद्धया यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥ ६२ ॥

भावार्थ-जब तक मन वचन कायोंको आत्माकी बुद्धिसे समझता रहेगा तब तक इसके संसार है। इन हीसे मैं पृथक् हूं ऐसे भेदका अभ्यास होनेपर मुक्तिका लाभ होता है। जो निज शुद्ध आत्माको शरीरादिसे भिन्न नहीं अनुभव करते हैं वे अज्ञानी रहते हैं जैसा श्री अमितिगति महाराजने सामायिकपाठमें कहा है-

गौरो रूपधरो दृढ़: परिदृढ़: स्थूल: कृश: कर्कशो ।
गीर्वाणो मनुज: पशुर्नरकभू: षंढ: पुमानंगना ॥
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतं ॥ ७० ॥

भावार्थ-मूर्ख अज्ञानी जीव सर्व दोष व विघ्नोंसे रहित निर्मल अविनाशी ज्ञानमई स्वभावधारी आत्माको न जानकर यह मिथ्या कल्पना किया करते हैं कि मैं गोरा हूं, रूपवान हूं, बलवान् हूं. निर्बल हूं, स्थूल हूं. पतला हूं, कठोर हूं, देव हूं, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हूं, नपुंसक हूं, पुरुष हूं तथा स्त्री हूं।

वास्तवमें जिन्होंने अपने आत्माके स्वभावको अच्छी तरह जान लिया है उनकी कल्पना शरीर, वचन व मन सम्बन्धी क्रियाओंमें कभी नहीं होती है। वे अखंड ज्योतिमई अपने आत्माको समझते हुए संसारकी अवस्थाओंके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं, उनसे स्वयं विकारी नहीं होते हैं ॥७१॥

उत्थानिका-आगे शरीर, वचन तथा मनको शुद्धात्माके भिन्न परद्रव्यरूप स्थापित करते हैं-

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं पि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ ७२ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिंडः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(देहो य मणो वाणी) शरीर, मन और वचन (पोग्गलदव्वप्पगत्ति) ये तीनों ही पुद्गल दव्यमई (णिद्दिट्ठा) कहे गए हैं। (पुणो) तथा (पोग्गलदव्वं पि) पुद्गल द्रव्य भी (परमाणुदव्वाणं पिंडो) परमाणरूप पुद्गल द्रव्योंका समूहरूप स्कंध है।

विशेषार्थ–जीवके साथ इन मन वचन कायकी एकता व्यवहार नयसे माने जानेपर भी निश्चयनयसे ये तीनों ही परम चैतन्यरूप प्रकाशकी परिणतिसे भिन्न हैं। वास्तवमें ये परमाणुरूप पुद्गलोंके बने हुए स्कंधरूप वर्गणाओंसे बनकर पुद्गलद्रव्यमई ही हैं।

भावार्थ–पहली गाथामें जिस बातको दिखलाया है उसीका यहां स्पष्ट कथन है कि जब निश्चय नयसे आत्माके निज परम स्वभावकी तरफ दृष्टि डालते हैं तो वहां शुद्ध ज्ञानानंदमई आत्माका ही राज्य है। वहां न क्षयोपशम ज्ञान है, न क्षयोपशम वीर्य है, न मोहका उदय है, न नामकर्मका उदय है जिनके कारण भाव मन, भाव वचन व भाव काय योग काम करते हैं और न वहां पुद्गलीक मनोवर्गणाओंसे बना मन है, न भाषा वर्गणाओंसे बना वचन है, न आहारक वर्गणासे बना हुआ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर है, न तैजस वर्गणासे बना हुआ तैजस शरीर है और न कार्माण वर्गणाओंसे बना हुआ कार्माण शरीर है। अतएव मैं मन

वचन कायसे भिन्न शुद्ध चैतन्य धातुकी बनी हुई एक अपूर्व अमूर्तीक वस्तु हूं । यही विश्वास शुद्धोपयोगकी प्राप्तिका बीज है। क्योंकि जिसने मन वचन कायको अपने स्वरूपसे भिन्न जाना उसने काय सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब, वस्त्र, आभूषण, भूमि, मकान, देश, राज्य आदिको भी अपनेसे भिन्न जाना है। बस वही वैराग्यकी सीढ़ीपर चढ़कर शुद्धोपयोगकी भूमिकामें पहुंच सक्ता है।

पुद्गल द्रव्य मूलमें परमाणुरूप है जिसका फिर दूसरा विभाग नहीं होसक्ता है । पुद्गलमें बहु प्रदेशी रूप होकर परस्पर बन्धकर संघातरूप होनेकी शक्ति है जिससे अनेक परमाणु अनेक संख्यामें अनेक प्रकारसे परस्पर मिलकर अनेक प्रकारके स्कंधोंको बनाते रहते हैं जिनको वर्गणाएं कहते हैं। इन्हीं वर्गणाओंसे मन, वचन, काय बनते हैं, ऐसा ही हमें निश्चय करना चाहिये । जिसने इनको भिन्न जाना उसीका सबसे राग छूटेगा जैसा कि श्री अमितिगति महाराजने छोटे सामायिकपाठमें कहा है—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ॥२७॥

भावार्थ—जिसकी एकता शरीरसे नहीं है उसकी एकता पुत्र, स्त्री, मित्र आदिसे कैसे होसक्ती है जैसे यदि चमड़ेको शरीरसे अलग किया जाय तो उसीके साथ रोम छिद्र भी अलग हो जायगे क्योंकि वे चमड़ेके ही सम्बन्धसे रहते हैं । इस तरह मन वचन कायको व उनकी क्रियाओंको भिन्न माननेसे ही अपना भिन्न स्वरूप हमको भिन्न झलकने लगता है । यही मनन परम -कारी है ॥ ७२ ॥

उत्थानिका-आगे फिर दिखाते हैं कि इस आत्माके जैसे शरीररूप पर द्रव्यका अभाव है वैसे उसके कर्तापनेका भी अभाव है।

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स॥ ७३॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम्।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य॥ ७३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(णाहं पोग्गलमइओ)मैं पुद्गलमई नहीं हूं (ते पोग्गला पिंडं मया ण कया) तथा वे पुद्गलके पिंड जिनसे मन वचन काय बनते हैं मेरेसे बनाए हुए नहीं हैं (तम्हा) इस लिये (हि) निश्चयसे (अहं देहो ण) मैं शरीररूप नहीं हूं (वा तस्स देहस्स कत्ता) और न उस देहका बनानेवाला हूं।

विशेषार्थ-मैं शरीर नहीं हूं क्योंकि मैं असलमें शरीर रहित सहज ही शुद्ध चैतन्यकी परिणतिको रखनेवाला हूं इससे मेरा और शरीरका विरोध है। और न मैं इस शरीरका कर्ता हूं क्योंकि मैं क्रियारहित परम चैतन्य ज्योतिरूप परिणतिका ही कर्ता हूं-मेरा कर्तापना देहके कर्तापनसे विरोधरूप है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्मा और शरीरका भेदज्ञान और भी अच्छी तरह दिखा दिया है कि आत्माका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित चैतन्यमई है। जब कि शरीर जिन पुद्गलोंसे बना है उन पुद्गलोंका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णमई जड़ अचेतन है। तथा आत्मा अपनी चेतनामई परिणतिका करनेवाला है-वह जड़की परिणतिको करनेवाला नहीं है-हरएक द्रव्य अपनी उपादान शक्तिसे अपने ही अनंत गुणोंमें परिणमन किया करता है। चेतन

आत्मा चैतन्यमई गुणोंमें जैसे परिणमन करता है वैसे पुद्गल जड़ अपने जड़पनेके गुणमें परिणमन करता है। शुद्ध अवस्थामें आत्मा शुद्ध भावोंका ही कर्ता है। अशुद्ध अवस्थामें आत्माके उपयोगरूप परिणमनमें जब साथ साथ रागादि भावकर्मकी शक्ति भी अपना फल झलकाती है तब शुद्ध उपयोगका परिणमन न प्रगट होकर उस उपयोगका औपाधिक परिणमन होता है अर्थात् अशुद्ध भावोंका झलकाव होता है तब इन भावोंका भी करनेवाला आत्माको अशुद्ध निश्चयनयसे कह सके हैं, परन्तु कोई आत्मा पाप कर्मोंका बन्ध नहीं चाहता है तौ भी आत्माके रागद्वेषादि भावोंका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणाएं आठ कर्मरूप होकर स्वयं अपनी शक्तिसे कार्माण शरीर बना देती हैं। कर्मोंके अद्भुत बलके प्रयोगसे न चाहते हुए भी एक आत्मा किसी शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है, वहां पहुंचते ही बांधे हुए कर्मोंके उदयकी असरसे आहार वर्गणाएं स्वयं खिचकर आती हैं जिनसे यह स्थूल शरीर बनता है। हमारे बिना किसी बुद्धिपूर्वक प्रयोगके कर्मोंकी अपूर्व चमत्कारिक शक्तिसे ही शरीरके अंग उपांग छोटे बड़े सुन्दर असुन्दर बनते रहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जैसे आत्माके कार्माण शरीर स्वयं बन जाता है वैसे यह स्थूल शरीर भी स्वयं बनता रहता है। आत्मा निश्चयसे जैसे कार्माण शरीरका कर्ता नहीं वैसे इस स्थूल औदारिक शरीरका भी कर्ता नहीं और न यह पुद्गल पिंडको बनाता है। लोकमें अनेक परमाणु स्वयं मिलकर अनेक पिंड बनाते रहते हैं। नदीमें पानीकी रगड़से बड़े२ सुन्दर पत्थरके गोले बन जाते हैं—उनको कोई जीव नहीं बनाता है।

इस जीवको अशुद्ध अवस्थामें व्यवहार नयसे कर्मोका व शरीरका कर्ता कहते हैं क्योंकि जिन कर्मोंके निमित्तसे शरीर बने हैं उन कर्मोंके संचय होने योग्य अशुद्ध भावोंको इस जीवने किया था। जैसे किसी आदमीको शीतज्वर होजाय तो उसको शीतज्वरका कर्ता व्यवहारसे कहेंगे परंतु निश्चयसे उसने अपनेमें कभी भी शीतज्वरका होना नहीं चाहा है। वह ज्वर स्वयं शरीरके भीतर वायु आदि कारणोसे पैदा हुआ है क्योंकि उसने शरीरकी रक्षाका यत्न नहीं किया परन्तु वायुका प्रवेश होने दिया। इसलिये वह शीतज्वरका निमित्त हुआ। इस निमित्त नैमित्तिक भावके कारण उसको शीत ज्वरका कर्ता कहसक्ते हैं वैसे ही आत्माने अशुद्ध रागादि भाव किये थे जिनके निमित्तसे शरीर प्राप्त हुए इसलिये व्यवहार नयसे आत्माको शरीरोंका निमित्त कर्ता कह सक्ते हैं परन्तु वास्तवमें इन शरीरोंका उपादान कारण पुद्गल ही है आत्मा नहीं।

व्यवहारमें कुम्हार घटको बनाता है, जुलाहा पटको बनाता है, राज मकानको बनाता है, ऐसा जो कहते हैं यह भी व्यवहार नयका वचन है। वास्तवमें कुम्हार, जुलाहा, व राजके अशुद्ध भाव व उसकी आत्माके प्रदेशोंका हलनचलन निमित्त सहकारी कारण हैं उनके निमित्तको पाकर उनका पुद्गलमई शरीर भी निमित्त होजाता है परन्तु वे घट पट मकान अपने ही उपादान कारणसे स्वयं ही घट, पट, मकानरूप बन जाते हैं। मिट्टी आप ही घटकी सूरतमें बदलती है। रुई आप ही तागे बनकर कपड़ेकी सूरतमें बदलती है, ईंट पत्थर लकड़ी चूना गारा आप ही मकानकी सूरतमें पलटते हैं। इन घट पट मकानमें कुम्हार, जुलाहा, व राजके

शरीर व आत्माका एक भी परमाणु व भाव नहीं है ।

निमित्त मात्र होनेसे व्यवहारसे कुम्हार, जुलाहा व रागको कर्ता कहते हैं वैसे ही व्यवहारसे हम जीवको शरीरका कर्ता कह सक्ते हैं परंतु निश्चयसे नहीं । यहां पर शुद्ध निश्चय नयसे विचार करना है, जो नय जैसे कतकफल मेले पानीमें पड़कर मेलसे पानीको अलग कर देता है वैसे अशुद्ध आत्माके विचारमें पड़कर आत्माको सर्व अशुद्धताओंसे अलग कर देता है । इस शुद्ध निश्चय नयमें आत्मा न पुद्गल स्वरूप है और न पुद्गलका उपादान कर्ता है और न निमित्त कर्ता है । यह आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानानंदका ही करनेवाला है और यही तत्त्वज्ञान शुद्धोपयोगपर पहुंचनेका कारण है।

श्री अमृतचंद्रस्वामीने श्री समयसारजीमें कहा है:—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्वत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥ २ ॥ १० ॥
ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म, जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥३॥ १०॥

भावार्थ-शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देखते हुए जैसे इस आत्माका स्वभाव भोगतापनेका नहीं है वैसे इसका स्वभाव कर्तापनेका नहीं है । अज्ञानसे ही यह कर्ता होता है, अज्ञानके चले जानेपर यह कर्मोंका कर्ता नहीं होता है । निश्चयसे ज्ञानी आत्मा न तो कर्मोंको करता है न उनका फल भोगता है । वह मात्र उन कर्मोंके स्वभावको जानता है । इस तरह कर्ता भोक्तापनेसे रहित होकर निज परम स्वभावको जानता हुआ अपने शुद्ध स्वभावमें निश्चल रहता हुआ यह आत्मा साक्षात् मुक्तरूप ही झलकता है ।

ऐसा वस्तुका स्वरूप जानकर मैं न देहरूप हूं, न देहका कर्ता हूं, ऐसा श्रद्धान दृढ़ जमाकर देहसे भिन्न निज आत्माको ही अनुभव करके शुद्धोपयोगमई साम्यभावमें कल्लोल करके सदा सुखी होना चाहिये।

इस तरह मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है ऐसा कथन करते हुए चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "अस्थित्तणिस्सदत्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे चौथेस्थलमें प्रथम विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अब केवल पुद्गलकी मुख्यतासे नव (९) गाथा तक व्याख्यान करते हैं। इसमें दो स्थल हैं। परमाणुओंमें परस्पर बंध होता है इस बातके कहनेके लिये "अपदेसो परमाणू" इत्यादि पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं। फिर स्कंधोंके बंधकी मुख्यतासे "दुपसे दी खंधा" इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथा पांच हैं। इस तरह दूसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदायपातनिका है।

उत्थानिका—यदि आत्मा पुद्गलोंको पिंडरूप नहीं करता है तो किस तरह पिंडकी पर्याय होती है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७४ ॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ ७४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(परमाणु) पुद्गलका अविभागी खंड परमाणु (जो अपदेसो) जो बहुत प्रदेशोंसे रहित है (पदेसमेत्तो य) एक प्रदेशमात्र है और (सयमसद्दो) स्वयं व्यक्तरूपसे

पर्यायसे रहित है (णिद्धो वा लुक्खो वा) स्निग्ध होता है या रूक्ष होता है इस कारणसे (दुपदेशादित्तम्) दो प्रदेशोंके व अनेक प्रदेशोंके मिलनेसे बंध अवस्थाको (अणुहवदि) अनुभव करता है।

विशेषार्थः–जैसे यह आत्मा शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूपसे बंध रहित है तौ भी अनादिकालसे अशुद्ध निश्चयनयसे स्निग्धके स्थानमें रागभावसे और रुक्षके स्थानमें द्वेषभावसे जब जब परिणमन करता है तब तब परमागममें कहे प्रमाण बंधको प्राप्त करता है तैसे ही परमाणु भी स्वभावसे बंध रहित होने पर भी जब जब बंधके कारणभूत स्निग्ध रूक्ष गुणसे परिणत होता है तब तब दूसरे पुद्गल परमाणुसे विभाव पर्यायरूप बंधको प्राप्त होजाता है।

भावार्थ–आचार्यने इस गाथामें यह दिखलाया है कि परमाणुओंमें स्वयं बंध होनेकी शक्ति है जैसे कोई संसारी जीव बंध न चाहता हुआ भी जब २ रागद्वेषसे परिणमन करता है तब २ कर्म वर्गणाएं स्वयं आकर बन्ध जाती हैं ऐसा कोई विलक्षण निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है वैसे परमाणु भी अपने स्निग्ध और रुक्ष गुणके कारण परस्पर बंध जाते हैं और स्वय स्कंधरूप बहुप्रदेशी होजाते हैं। यद्यपि एक परमाणु स्वभावसे बहु प्रदेश रहित एक प्रदेशी है तथा स्पर्श रस गध वर्ण गुणोंको रखनेवाला है और शब्द रहित है तथापि स्कन्ध बनकर बहुप्रदेशी होजाता है। जगतमें परमाणु परस्पर मिलकर अनेक तरहके स्कंधोंमें सदा बनते रहते हैं। जैसे अग्निकी गरमीसे पानी अपने आप भाफ बन जाता है। भाफ जमकर मेघ होजाते हैं। मेघोंमें बरफ गोले होजाते हैं। बरफके गोले गिरते हैं–गिरते २ गरमीके कारण स्वयं पानीरूप हो

जाते हैं। पानी स्वयं नीमकी संगतिसे कडुवा, ईखकी संगतिसे मीठा नींबूकी संगतिसे खट्टा हो जाता है। पानीके बहावसे नदीके किनारे टूट जाते हैं–पानी मट्टीको बहा ले जाता है व मट्टी कहीं जमकर टापूसा बन जाती है। सूर्यकी गरमी पाकर मोम स्वयं पिघल जाता है। हवाके लगनेसे मकान, कपडे, वर्तनादिकी अवस्था पलट जाती है। इत्यादि जगतमें अकेले ही पुद्गल अपने भिन्न २ स्वभावसे बडे २ काम करते दिखाई पडते हैं। इसी तरह परमाणु भी दो अधिक चिकने या रूखे अंशधारी परमाणुसे बंध जाते हैं। जैसे परमाणु बंधकर स्कंध हो जाते हैं वैसे स्कंध टूटकर परमाणुकी अवस्थामें भी आजाते हैं। जिसमें मिलने बिछुडनेकी शक्ति हो उसे ही पुद्गल कहते हैं। इससे यह बात बताई गई है कि शरीर, वचन तथा मन जिन स्कंधोंसे बने हैं वे स्कंध स्वयं परमाणुओंके बंधनेसे पेदा होते रहते हैं। आत्मा स्वभावसे पुद्गलसे भिन्न है ऐसा समझकर शुद्ध आत्माके मननमें उपयुक्त हो साम्यभावकी प्राप्ति करनी चाहिये, यह तात्पर्य है।

उत्थानिका–आगे वे स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरह हैं ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं:–

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुहवदि ॥ ७५ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम् ।
परिणामाद् भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ ७५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–(अणुस्स) परमाणुका (णिद्धत्तणं वा लुक्खत्तं) चिकनापना या रूखापना (एगादी) एक अंश

आदि लेकर (एगुत्तम्) एक एक बढ़ता हुआ (परिणामादो) परिणमन शक्तिके विशेपसे (जाव अणंतत्तम्) अनंतपने तक (अणुहवदि) अनुभव करता है ऐसा (भणिदं) कहा गया है।

विशेषार्थ–जैसे जल, बकरीका दूध, गायका दूध, भैंसका दूध एक दूसरेसे अधिकर चिकनाईको रखता है इसी तरह यह संसारी जीव चिकनाईके स्थानमें रागपनेको, रूखेपनके स्थानमें द्वेषपनेको बन्धके कारणभूत जघन्य विशुद्ध या संक्लेश भावको आदि लेकर परमागममें कहे प्रमाण उत्कृष्ट विशुद्ध या संक्लेश भाव पर्यंत क्रमसे बढ़ता हुआ रखता है। इसी तरह पुद्गल परमाणु द्रव्य भी पूर्वमें कहे हुए जल दूध आदिकी बढ़ती हुई शक्तिके दृष्टान्तसे एक गुण नामकी जघन्य शक्तिको आदि लेकर क्रमसे गुण नामसे प्रसिद्ध अविभाग परिच्छेदोंकी शक्तिसे बढ़ता हुआ अनन्तगुणतक चला जाता है। क्योंकि पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है। परिणामोंका होना वस्तुका स्वभाव है सो कोई मेटनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थ–यहां यह दिखलाते हैं कि पुद्गलके परमाणुओंमें रूखा तथा चिकना स्पर्शगुण होता है। उस स्पर्शके अनंत भेद होते हैं। सब ही परमाणु परिणमनशक्तिके निमित्तसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सहायतासे अपने स्पर्श रस गंध वर्णमें परिणमन करते रहते हैं। इसी परिणमनके कारण चिकनेपन तथा रूखेपनके अनंत भेद होजाते हैं। जो परमाणु किसी विशेष समयमें एक जघन्य अंश या अविभाग परिच्छेद कि जिससे कम अंश नहीं होसक्ता रखता है वही परमाणु दूसरे आदि समयोंमें अधिक अंशरूप हो जाता है। यहांतक कि उसमें अनंत अंश

चिकने या रूखेपनके हो जाते हैं—अथवा कोई परमाणु अधिक अंश चिकने या रूखेपनेको रखता था सो अंशोमें घटते हुए एक अंश तक शक्तिका धारी हो सक्ता है। जैसे जलकी चिकनईसे बकरीके दूधमें चिकनई ज्यादा है, बकरीके दूधसे गायके दूधमें, गायके दूधसे भैंसके दूधमें ज्यादा है। इसी तरह एक ही समयमें अनंत परमाणुओंमें भिन्न२ प्रकारकी कमती बढ़ती अंशोंको रखनेवाली चिकनई या रूखापन होता है। संभव है बहुतसे परमाणु समान अविभाग परिच्छेदोंके धारक एक समयमें हों। वास्तवमें प्रत्येक परमाणु अनंत, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिका धारक है। तथापि उसके अशोंमें पर निमित्तके वशसे परिणमन होता रहता है भिन्न परिणमनको हम तिरोभाव या आविर्भाव कहसक्ते हैं। जितनी चिकनई या रूखापन प्रगट है उसका तो आविर्भाव है व जितनी चिकनई या रूखापन अप्रगट है उसका तिरोभाव है। जैसे जीव कषायके मंद उदयसे मंदराग द्वेषको, मध्यम कषायोदयसे मध्यमराग-द्वेषको तथा उत्कृष्ट कषायके उदयसे उत्कृष्ट राग द्वेषको प्रगटाता है। जीवका चारित्रगुण कषायोंके उदयके निमित्तसे तिरोहित होता है—जितना कम उदय होता है उतना कम ढकता है।

परमाणुमें यह परिणमन शक्ति न होती तो एक कच्चा आम पक जानेपर अधिक चिकना न होता व जल गायके शरीरके स्पर्शसे दूधकीसी चिकनइमें न परिणमन करता।

यह परिणमनशक्ति वस्तुका स्वभाव है, प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। कालादिके निमित्तसे पुद्गल द्रव्य परिणमते हुए दिखाई पड़ते हैं। एक पत्थर जो रूक्ष स्पर्शका होता है रस्सीकी रगड़के

लगनेसे कालान्तरमें चिकना स्पर्शवाला होजाता है। ऐसा वस्तु-स्वभाव जानकर अपने आत्माको शुद्ध निश्चयनयसे सिद्ध समान अनुभव करके तथा सर्व प्रकारके परमाणुओंसे जुदा जान करके अपने स्वाभाविक सदृश परिणमनका धारी मान करके हरसमय शुद्ध ज्ञानानंदका ही स्वाद लेना योग्य है, यह भाव है।

उत्थानिका-अब यहां प्रश्न करते हैं कि किस प्रकारके चिकने रूखे गुणसे पुद्गलका पिंड बनता है? इसीका समाधान करते हैं-

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिका जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ ७६ ॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामा समा वा विषमा वा ।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ ७६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अणुपरिणामा) परमाणुके पर्याय भेद (णिद्धा वा लुक्खा वा) स्निग्ध हों या रूक्ष हों (समा वा) दो, चार, छः आदिकी गणनासे समान हो (विसमा वा) वा तीन, पांच, सात, नव आदिकी गणनासे विषम हों (जदि) जो (हि) निश्चयसे (आदिपरिहीणा) जघन्य अंशसे रहित हो (समदो) तथा गिनतीकी समानतासे (दुराधिका) दो अधिक अंशमें हों तो (वज्झन्ति) परस्पर बंध जाते हैं।

विशेषार्थ-पुद्गलके परमाणु रूक्ष हों या स्निग्ध गुणमें परिणत हों तथा सम हों या विषम हों, दो गुणांश अधिक होनेपर परस्पर बंध जाते हैं। दो गुण अधिकपनेका भाव यह है कि मानलो एक दो अंशवाला परमाणु है तथा दूसरा भी दो अंशवाला है इतने हीमें परिणमन करते हुए एक किसी दो अंशवाले परमा-

णुमें दो अंश अधिक होगए तब वह परमाणु चार अंशरूप शक्तिमें परिणमन करनेवाला होजाता है। इस चार गुणवाले परिमाणुका पूर्वमें कहे हुए किसी दो अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजायगा जैसे ही दो परमाणु तीन तीन अंश शक्तिधारी हैं उनमेंसे एक तीन अंश शक्ति रखनेवाले परमाणुमें मानलो परिणमन होनेसे दो शक्तिके अंश अधिक होनेसे वह परमाणु पांच अंशवाला होगया। इस पंच अंशवालेका पहले कहे हुए किसी तीन अंशवाले परमाणुसे बंध होजावेगा। इसतरह दो अंशधारी चिकने परमाणुका दूसरे दो अधिक अंशवाले चिकने परमाणुके साथ या दो अंशवाले रूखेका दो अधिक अंशवाले रूखेके साथ, या दो अंशवाले चिकनेका दो अधिक अंशवाले रूखे परमाणुके साथ बंध होजावेगा। इसी तरह समका या विषमका बंध दो अंशकी अधिकता होनेपर ही होगा। जो परमाणु जघन्य चिकनईको जैसे जलमें मान ली जावे या जघन्य रूखेपनेको जैसे बालूकणमें मान लीजावे, रखता होगा उनका बंध उस दशामें किसी भी परमाणुसे नहीं होगा। यहां यह भाव है कि जैसे परमचैतन्यभावमें परिणतिको रखनेवाले परमात्माके स्वरूपकी भावनामई धर्मध्यान या शुक्ल ध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनईकी शक्तिके समान सब राग क्षय होजाता है या जघन्य रूखेपनेकी शक्तिके समान सर्व द्वेष क्षय होजाता है तब जैसे जलका और बालूका बंध नहीं होता वैसे जीवका कर्मोंसे बंध नहीं होता। वैसे ही जघन्य, *स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीसे बंध नहीं होगा* यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि परमाणुओंके परिणमन शक्तिके अंशोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके होते हैं। वे परमाणु रूखे हों या चिकने हों परस्पर दो अंश अधिकता रखनेसे बंध जाते हैं। ऐसा कुछ वस्तुका स्वभाव है कि दो अंशकी ही अधिकताके अंतरसे परमाणुओंका बन्ध होता है-न तो एक अंशकी अधिकतासे होता है न दोसे अधिक अंशकी अधिकतासे होता है। इसपर भी जिस परमाणुमें सबसे कम चिकनई या रुखापन होगा वह भी किसीसे नहीं बंधेगा। इस तरह दो अंशवालेका चार अंशवालेके साथ, चार अंशवालेका छह अंशवालेके साथ, छह अंशवालेका आठ अंशवालेके साथ, आठ अंशवालेका दश अंशवालेके साथ बन्ध होजायगा। इस तरहके बन्धको सम संख्याका बन्ध कहते हैं। सम जातिकी संख्यामें दो अधिक होनेसे बराबर बन्ध होजायगा जैसे किसी परमाणुमें एक हजार दो अंश हैं दूसरेमें एक हजार चार अंश हैं तो परस्पर बन्ध हो जायगा।

इसी तरह तीन अंशवालेका पांच अंशवाले परमाणुके साथ, पांच अंशवालेका सात अंशवालेके साथ, सात अंशवालेका नौ अंशवालेके साथ, नौका ग्यारह अंशवाले परमाणुसे बंध होजायगा, इसको विसम संख्याका बंध कहते हैं। इसमें भी दोकी अधिकतासे बराबर बंध होता रहेगा। जैसे तीन हजार पांच अंशधारी परमाणुका तीन हजार सात अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजावेगा। बंध होनेमें यह बात नहीं है कि रूखा चिकनेसे ही बंधे, किन्तु यह बात है कि रूखा रूखेसे, चिकना चिकनेसे व रूखा चिकनेसे तीनों प्रकारसे बंध होता है।

बंधका भाव यह है कि परस्पर मिलके एकरूप होजाना। यदि तीन गुणवाले रूखे परमाणुके साथ पांच गुणवाले चिकने परमाणुका बंध होगा तो बंध होनेपर वह स्कंध चिकना होजायगा जैसा श्री उमास्वामी महाराजने श्री तत्वार्थसूत्रमें कहा है "बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च।" ३७|५॥ अर्थात् बंध होते हुए अधिक गुणवाला दूसरेको अपनेरूप परिणमा लेता है। सर्वज्ञज्ञानमें जिस तरह परमाणुओंके स्कंध बननेकी रीति झलकी थी उसका यहां कथन किया गया है। वर्तमानमें यदि विज्ञान उन्नति करे तो इस नियमको प्रत्यक्ष करके दिखा सकेगा। सर्वज्ञके ज्ञानकी अपूर्व शक्ति है, इसलिये सर्वज्ञ भाषित कथन किसी तरह असत्य नहीं पड़ सक्ता, ऐसा जानकर निज आत्माको सर्वज्ञत्व प्राप्त करानेके लिये रागद्वेष त्याग शुद्धोपयोगमें ही हमको प्रवर्तना योग्य है ॥ ७६ ॥

उत्थानिका-आगे इसी ही पूर्व कहे हुए भावको विशेष समर्थन करते हैं-

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पञ्चगुणजुत्तो ॥७७॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति।
रूक्षेण वा त्रिगुणतोऽणुर्बध्यते पचगुणयुक्तः ॥ ७७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(णिद्धत्तणेण) चिकनेपनेकी अपेक्षा (दुगुणो) दो अंशधारी परमाणु (चदुगुणणिद्धेण वा लुक्खेण) चार अंशधारी चिकने या रूखे परमाणुके साथ (बंधम् अणुभवदि) बन्धको प्राप्त हो जाता है। (तिगुणिदो अणु) तीन अंशधारी चिकना या रूखा परमाणु (पचगुणजुत्तो) पांच अं-

चिकने या रूखे परमाणुके साथ (वज्रादि) बंध जाता है।

विशेषार्थ–गाथामें गुण शब्दसे शक्तिके अंशोंको अर्थात् अविभाग परिच्छेदोंको ग्रहण करना चाहिये। जैसे पहले कहे हुए जलबिंदु तथा बालूके दृष्टांतसे जिन जीवोंका रागद्वेष परमानन्दमई स्वसंवेदन ज्ञानगुणके बलसे नष्ट होगया है उनका कर्मके साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह जिन परमाणुओंमें जघन्य चिकनाई या रूखापन है, उनका भी किसीसे बंध नहीं होता। बन्ध दो अंशकी अधिकतासे दो अंश या तीन अंश आदिधारी परमाणुओंका परस्पर होगा जैसा इस गाथामें कहा है—

> "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
> णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥
> (गोमटसारजीवकांड ६१४)

भाव यह है कि जघन्य अंश परमाणुको छोड़कर दो चार आदि सम संख्यामें या तीन पांच आदि विषम संख्यामें हो तो भी दो अंश अधिक होनेसे चिकनेका चिकनेके साथ, रूखेका रूखेके साथ तथा चिकनेका रूखेके साथ बंध होजायगा।

भावार्थ–इससे पहली गाथामें अच्छी तरह खोल दिया है।

इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण स्निग्ध रूक्ष अवस्थामें परिणत परमाणुका स्वरूप कहते हुए पहली गाथा, स्निग्ध रूक्ष गुणका वर्णन करते हुए दूसरी, स्निग्ध या रूक्ष गुणमें दो अंश अधिकसे बन्ध होगा ऐसा कहते हुए तीसरी तथा उसके ही दृढ़ करनेके लिये चौथी इस तरह परमाणुओंके परस्पर बंधके व्याख्यानकी मुख्यतासे पहले स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि, आत्मा दो परमाणु आदि धारी परमाणुओंके स्कंधोंको आदि लेकर अनेक प्रकारके स्कंधोंका कर्ता नहीं है।—

डुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७८ ॥

द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादरा ससंस्थानाः ।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ ७८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(दुपदेसादी खंधा) दो परमाणुके स्कंधसे आदि लेकर अनन्त परमाणुके स्कंध तक तथा (सुहुमा वा बादरा) सूक्ष्म या बादर (ससंठाणा) यथासंभव गोल, चौखुटे आदि अपने अपने आकारको लिये हुए (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (सगपरिणमेंहिं) अपने ही चिकने, रूखे परिणामोंकी विचित्रतासे परस्पर मिलते हुए (जायंते) पैदा होते रहते हैं।

विशेषार्थ–संसारी अनंत जीव यद्यपि निश्चयसे, टांकीमें उकेरी मूर्तिके समान ज्ञायक मात्र एक स्वरूपकी अपेक्षासे शुद्ध बुद्धमई एक स्वभावके धारी हैं तथापि व्यवहारनयसे अनादि कर्मबंधकी उपाधिके वशसे अपने शुद्ध आत्मस्वभावको न पाते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक होकर पैदा होते हैं। यद्यपि वे इन पृथ्वी आदि कायोंमें आकर जन्मते हैं, तथापि वे जीव अपनी ही भीतरी सुख दुःख आदि रूप परिणतिके ही अशुद्ध उपादान कारण हैं, पृथ्वी आदि कायोंमें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके नहीं। कारण यह है कि उनका उपादान कारण पुद्गलके

स्कंध ही हैं। इसलिये यह जाना जाता है कि पुद्गलके पिंडोंका कर्ता जीव नहीं है।

भावार्थ–यहां आचार्यने यह बात दिखाई है, कि आत्मा अमूर्तीक है तथा स्पर्श रस गंध वर्णसे रहित है इसलिये वह अपने ही ज्ञानादिगुणोंकी परिणतिके सिवाय किसी भी मूर्तीक पुद्गलकी पर्यायका उपादान कारण नहीं होसक्ता है। क्योंकि कार्य उपादान कारणके समान होता है अर्थात् उपादान कारण ही दूसरे समयमें स्वयं कार्यमें बदल जाता है। मिट्टीका पिंड स्वयं ही घड़ा बनजाता है। गेहूंका आटा स्वयं ही रोटीमें बदल जाता है। सुवर्णकी डली स्वयं कंकणरूप होजाती है। इसलिये जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जगतमें दीख पड़ते हैं चाहे वे अचित्तरूप हों, अर्थात् जीव रहित हों या सचित्तरूप हों अर्थात् जीव सहित हों, चाहे वे सूक्ष्म हों अर्थात् इंद्रियगोचर न हों व बाधारहित हों, चाहे वे बादर हों अर्थात् इंद्रियगोचर व बाधासहित हों आहारक वर्गणा नामके स्कंधोंके परस्पर मिलनेसे बनते हैं। तथा अनेक तरहके स्कंध परमाणुओंके मिलनेसे बनते हैं। श्री गोमटसारमें संख्याताणु, असंख्याताणु, अनंताणु, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, कार्माण वर्गणा आदि बाईस प्रकारकी वर्गणाएं बताई हैं वे सब परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे ही बनती हैं। इन वर्गणाओंसे ही जीवोंके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर बनते हैं। अपने स्निग्ध रूक्ष गुणोंके कारण पुद्गलोंमें परस्पर मिलकर बंध होनेकी व बिछुड़नेकी शक्ति मौजूद है। पुद्गल स्वभावसे ही परिणमन करते हैं। पुद्गलोंके

स्कंधोंके गोल, चौखुंटे, तिंखुटे आदि आकर सब परस्पर बंधकी अपेक्षासे होजाते हैं। एक रतन पाषाणकी खानमें अनेक प्रकारके स्पर्श, रस, गंध वर्णधारी छोटे बड़े, टेढे सीधे, पाषाण खंड परमाणुओंके स्निग्ध रूक्ष गुणोंके विचित्र परिणमनकी अपेक्षा स्वभावसे ही बन जाते हैं—उनको वहां कोई बनाता नहीं है। जैसे प्रत्यक्ष जगतमें मेघ जल आदिके व इन्द्र धनुष, बिजली आदिके स्वाभाविक परिणमन देखनेमें आते हैं वैसे सर्वत्र पुद्गलोंके ही विचित्र परिणमनसे नानाप्रकार स्कंध बन जाते हैं। जैसे श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें कहा है:—

णिद्धिदरगुणअहिया हीणं परिणामयंति बंधम्मि।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं॥ ६१८॥

अर्थ—संख्यात, असंख्यात व अनंत प्रदेशवाले स्कंधोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कंध अपनेसे हीन गुणवाले परमाणु या स्कंधोंको अपनेरूप परणमाते हैं। जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कधको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कंध परणमाता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि दो अधिक अंशके होते हुए रूखे या चिकने परमाणु या स्कंध परस्पर एक दूसरेसे अपनी ही शक्तिसे बन्ध जाते हैं। इसी शक्तिके कारण पुद्गलोंकी विचित्रता जगतमें प्रगट हो रही है।

ऐसा मानकर कि पुद्गल पर्यायका उपादान कारण पुद्गल ही है व सब प्रकारके जीवोंके शरीरोंकी रचना पुद्गलके ही

कारणसे होती है' इसको, इस आत्माका स्वभाव शुद्ध ज्ञानानंदमय अनुभवकर साम्यभावमें रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—आगे यह आत्मा बन्ध कालमें बन्ध योग्य पुद्गलोंको बाहर कहींसे नहीं लाता है ऐसा प्रगट करते हैं—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ ७९ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ ७९ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(लोगो) यह लोक (सव्वदो) अपने सर्व प्रदेशोंमें (सुहमेहिं) सूक्ष्म अर्थात् इंद्रियोंसे ग्रहणके अयोग्य (बादरेहिं) बादर अर्थात् इंद्रियोंके ग्रहण योग्य (य) और (अप्पाउग्गेहिं) कर्मवर्गणारूप होनेको अयोग्य (जोग्गेहिं) तथा कर्मवर्गणाके योग्य (पोग्गलकायेहिं) पुद्गल स्कंधोंसे (ओगाढगाढणिचिदो) खूब अच्छी तरह बहुत गाढ़ा भरा हुआ है।

विशेषार्थः—यह लोक अपने सर्व प्रदेशोंमें पुद्गल स्कंधोंसे गाढ़ा भरा हुआ है। वे स्कंध कोई इंद्रिय गोचर हैं, कोई इंद्रिय गोचर नहीं हैं, उनमेंसे जो अत्यन्त सूक्ष्म वा स्थूल हैं वे कर्मवर्गणारूप नहीं हैं किन्तु जो अतिसूक्ष्म व स्थूल नहीं हैं वे कर्मवर्गणा योग्य हैं। यद्यपि इंद्रियोंसे ग्रहण न होनेके कारण ये भी सूक्ष्म हैं—यहां यह भाव है कि जैसे यह लोग निश्चय नयसे शुद्ध स्वरूपके धारी किन्तु व्यवहार नयसे कर्मोंके आधीन होनेसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वानस्पतिके पांच भेदरूप सूक्ष्म स्थावर शरीरोंको प्राप्त जीवोंसे निरंतर सर्व जगह भरा हुआ है, तैसे यह पुद्गलोंसे भी भरा है।

इससे जाना जाता है कि जितने शरीरको रोककर एक जीव ठहरता है उसी ही क्षेत्रमें कर्मयोग्य पुद्गल भी तिष्ठरहे हैं-जीव उनको कहीं बाहरसे नहीं लाता है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह दिखलाया है कि जीव स्वभावसे कर्मवर्गणाओंको कहीसे लाते नहीं हैं-यह असंख्यात प्रदेशीलोक सर्व तरफ अनंतानंत पुद्गल स्कंधोंसे भराहुआ है । एक आकाशके प्रदेशमें सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त अनंतवर्गणाएं मौजूद हैं । सामान्यसे जगतमें सूक्ष्म तथा बादर दो प्रकारके पुद्गल स्कंध हैं । जो किसी भी इंद्रियसे ग्रहण योग्य हैं उनको बादर कहते हैं । परंतु जो किसी भी इंद्रियसे ग्रहणयोग्य नहीं हैं उनको सूक्ष्म कहते हैं । कर्मरूप होनेको योग्य कार्माण वर्गणा सूक्ष्म है । ऐसी कर्म वर्गणाए उन आकाशके प्रदेशोमें भी भरी हुई हैं जहां एक जीव किसी छोटे या बड़े शरीरमें तिष्ठा हुआ है । कोई भी जीव बुद्धिपूर्वक उन वर्गणाओंको लेकर या खींचकर बांधता नहीं है । किन्तु जब संसारी जीवोंके नाम कर्मके उदयसे आत्मामें सकम्पपना होता है तब आत्माकी योग शक्तिके परिणमनके निमित्तसे कर्म वर्गणाएं यथायोग्य बन्धके सन्मुख होकर बन्ध जाती हैं, ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे गर्म लोहेका गोला चारों ओरसे पानी ग्रहण करनेको निमित्त है वैसे अशुद्ध जीव कर्म वर्गणाओंको ग्रहण कर लेता है ।

अथवा जैसे गर्मीका निमित्त पाकर जल स्वयं भाफरूप परिणमन करजाता है व सूर्यका निमित्त पाकर कमल स्वयं [illegible] जाता है इसी तरह जीवके योगका निमित्त पाकर कर्म वर्[illegible]

स्वयं बन्ध योग्य होजाती हैं। आत्माका स्वभाव कर्मोंको ग्रहण करनेका नहीं है-इसलिये यह आत्मा कर्म बन्धका न उपादान कर्ता है न निमित्त कर्ता है जैसा कि स्वयं स्वामीने श्रीसमयसारजीमें कहा है-

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥

भावार्थ-जो ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मोंके परिणमन होते हैं उनको यह आत्मा न उपादान रूपसे कर्ता है न निमित्त रूपसे कर्ता है, यह तो मात्र उन सबकी सब अवस्थाओंको जाननेवाला है। आत्माका निज स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है जब हम शुद्ध निश्चय-नयसे आत्माके असली स्वभावको विचार करते हैं तब वहां आत्मा सब तरह पुद्गल द्रव्यका अकर्ता और भोगता झलकता है तौभी यह बात जान लेनी चाहिये कि इस आत्मामें अनन्त शक्तियां हैं उनमेंसे कोई शक्तियां अशुद्ध अवस्थामें काम करती हैं परन्तु वे शक्तियां शुद्ध अवस्थामें काम नहीं करती हैं। जैसे वैभाविक शक्ति जिसके कारण यह जीव रागद्वेष रूप परिणमन करता है या योगशक्ति जिससे जीव कर्मोंके बन्धनेमें निमित्त होता है। पूर्वबद्ध चारित्र मोहनीयके उदयसे वैभाविक शक्ति और नामकर्मके उदयसे योग शक्ति परिणमन करती है। इसी हेतुसे शुद्ध आत्माको लक्ष्यमें लेकर आत्माको कर्मोंका अकर्ता तथा अभोक्ता कहा है। यहां यह भी समझना चाहिये कि आत्माके मन वचन काय योगोंका परिणमन अथवा आत्म प्रदेशोंका परिणमन व कर्म ग्रहण करनेमें मूल कारणभूत आत्माकी योगशक्तिका परिणमन सब जीवोंके एक समान नहीं होता है किसीके अधिक किसीके कम। जैसी योग

शक्तिका परिणमन होता है वैसी ही कम व अधिक कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। ये कर्म वर्गणाएं कुछ तो ऐसी ही हैं जो आत्माके प्रदेशोंमें ही बैठी हैं अर्थात् आत्माके प्रदेश जहां हैं वहां ही अनंतानंत बन्धने योग्य तिष्ठ रही हैं अथवा कुछ ऐसी हैं जो आत्माके प्रदेशोंसे बाहर हैं। इनमें भी कुछ ऐसी हैं जिनको यह जीव ग्रहणकर चुका है। कुछ ऐसी हैं जिनको इस जीवने कभी ग्रहण नहीं किया है। योगोंके निमित्तसे यथासम्भव स्वक्षेत्र व पर क्षेत्रमें तिष्ठती वर्गणाएं कभी ग्रहीत कभी अग्रहीत कभी मिश्र बंधनेको सन्मुख होती हैं इसहीको आश्रव कहते हैं। तथा उनका जीवके प्रदेशोंके साथ स्थिति अनुभागको लिये परस्पर एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होजाता है। उन वर्गणाओंका अपने मूल स्थानको छोड़ना यह तो आश्रव है और आत्माके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रके अवगाह रूपसे बंध होजाना सो बंध है। यदि आत्माके प्रदेशोंमें तिष्ठती हुई ही वर्गणाओंका बंध हो तौ भी उन वर्गणाओंको हलन चलन करके सर्व आत्म–प्रदेशोंमें व्यापना पड़ेगा यही आश्रव है और फिर उनका आत्मप्रदेशोंमें यथासम्भव ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंकी संख्याको लिये हुए एक क्षेत्रावगाह रूप ठहर जाना और ठहरे रहना सो बन्ध है।

योगशक्तिके निमित्तसे कर्मोंका आना अर्थात् बन्धके सन्मुख होना होता है यह आश्रव है ऐसा ही भाव श्री गोम्मटसार जीवकांडमें कहा है–

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१५॥

भावार्थ-पुद्गलविपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी वह शक्ति जो कर्मोंके और नोकर्मोंके आनेमें कारण है योग शक्ति है । यह भाव योग है-और आत्माके प्रदेशोंका सकम्प होना द्रव्य योग है ।

गोमटसार कर्मकांडमें प्रदेशबन्धका स्वरूप ऐसा दिया हुआ है-

एयक्खेत्तोगाढ सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
बंधदि सगहेदुहि य अणादिय सादिय उभय ॥ १८५ ॥

भावार्थ-जघन्य अवगाहनारूप एक क्षेत्रमे स्थित और कर्मरूप परिणमनेके योग्य अनादि अथवा सादी अथवा दोनों रूप जो पुद्गल द्रव्य है उसको यह जीव अपने सब प्रदेशोंसे मिथ्यात्वादिके निमित्तसे बाधता है ।

एय सरीरो गाहियमेयक्खत्त अणेयखेत्त तु ।
अवसेसलोयखेत्त खेत्तणसारिट्ठिर रूवी ॥ १८६ ॥

भावार्थ-एक शरीरसे रुकी हुई जगहको एक क्षेत्र कहते हैं शेष सर्व लोकके क्षेत्रको अनेक क्षेत्र कहते हैं । अपने २ क्षेत्रमें ठहरे हुए पुद्गल द्रव्यका प्रमाण त्रैराशिकसे समझ लेना । यहापर जघन्य शरीर ही एक शरीर लेना क्योकि निगोद शरीरवाले जीव बहुत हैं। इस कारण घनागुलके असख्यातवें भाग एक क्षेत्र हुआ ।

एयाणेयक्खेत्तट्ठिय रूवि अणतिम हवे जोग्ग ।
अवसेस तु अजोग्ग सादि अणादी हवे तत्थ ॥ १८७ ।

भावार्थ-एक तथा अनेक क्षेत्रोंमें ठहरा हुआ जो पुद्गल द्रव्य है उसके अनन्तवें भाग पुद्गल परमाणुओंका समूह कर्मरूप होनेको योग्य है और शेष अनन्त बहुभाग प्रमाण कर्मरूप होनेके

अयोग्य हैं। इस प्रकार एक क्षेत्र स्थित योग्य, १ एक क्षेत्र स्थित अयोग्य २, अनेक क्षेत्र स्थित योग्य ३, अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य ये चार भेद हुए। इन चारोंमें भी एक एकके सादि तथा अनादि भेद जानना। जो पहले ग्रहण किये जाचुके हैं उनको सादि कहते हैं व जिनको अभीतक ग्रहण नहीं किया गया है उनको अनादि कहते हैं। यह जीव मिथ्यात्वादिके निमित्तसे समय समय प्रति कर्मरूप परिणमने योग्य समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओंको ग्रहणकर कर्मरूप परिणमाता है। वहां किसी समय तो पहले ग्रहण किये हुए जो सादि द्रव्यरूप परमाणु हैं उनका ही ग्रहण करता है। किसी समयमें अभीतक ग्रहण करनेमें नहीं आए ऐसे अनादि द्रव्यरूप परमाणुओंको ग्रहण करता है और कभी मिश्ररूप ग्रहण करता है। समय प्रबद्धका यह प्रमाण है—

रूयरसगंधेहिं परिणदं चरमचदुहिं फासेहिं।
सिद्धादोऽभव्वादोऽणंतिमभाग गुणं दव्वं ॥ १९१ ॥

यह समय प्रबद्ध मात्र पांच प्रकार रस, पांच प्रकार वर्ण, दो प्रकार गन्ध तथा शीतादि चार अंतके स्पर्श इन गुणोंकर सहित परिणमता हुआ सिद्ध राशिके अनंतवें भाग अथवा अभव्य राशिसे अनन्तगुणा पुद्गल द्रव्य जानना।

भावार्थ—इतना द्रव्यकर्मरूप या नोकर्मरूप यह संसारी जीव हरसमय ग्रहण करके बांधता रहता है। इनमें योगोंकी विशेषतासे कुछ कम व अधिक संख्या होती है।

श्री, अकलंकदेवकृत तत्वार्थराजवार्तिकमें आश्रव

बंध तत्वका यह लक्षण "जीवाजीवाश्रव...." के सूत्रकी व्याख्यामें किया है—

वार्तिक–पुण्यपापागमनद्वारलक्षण आश्रवः। टीका–पुण्यपापलक्षणस्य कर्मण आगमद्वारमाश्रव इत्युच्यते । आश्रव इवाश्रवः क उपमार्थः ? यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते । तथा मिथ्यादर्शनादिद्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यत इति मिथ्यादर्शनादिद्वारमाश्रवः ।

अर्थ–पुण्य पाप लक्षण कर्मका आगमनका द्वार जो है सो आश्रव है । आश्रव जो छिद्र ताके समान हो सो आश्रव है । जैसे समुद्रके विषें जल नदीनिका मुखकर निरन्तर परिपूर्ण होय है यातें मिथ्यादर्शनादि द्वारकरि अनुप्रविष्ट कर्म जे हैं तिनकरि आत्मा निरंतर परिपूर्ण होय है यातें मिथ्या दर्शनादिक द्वार जो है सो आश्रव है ॥ १६ ॥ भावार्थ–वास्तमें यह द्वार है सो भावाश्रव है और कर्म पुद्गलोंका प्रवेश होना सो द्रव्य आश्रव है ।

वा०–आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बंधः–टीका–मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययोपनीतानां कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च परस्परानुप्रवेशलक्षणो बंधः । बंध इव बंधः क उपमार्थः ? यथा निगडादि द्रव्यबंधनबद्धो देवदत्तोऽस्वतंत्रत्वादभिप्रेतदेशगमनाद्यभावादतिदुःखी भवति। तथात्मा कर्मबंधनबद्धः, पारतंत्र्याच्छरीरमानसदुःखाभ्यर्दितो भवति ।

अर्थ–मिथ्यादर्शनादि कारण करि ग्रहण किये कर्म प्रदेशनिका और आत्म प्रदेशनिका परस्पर अनुप्रवेश है लक्षण जाका सो बंध है । बंधके समान बंध है । जैसे बेड़ी आदि द्रव्य बंधनकरि

बद्ध देवदत्त जो है सो पराधीनपणातें वांछित स्थानने प्राप्त होनेका अभावतें अति दुःखी होय है तैसे ही आत्मा कर्म बंधनकरि बद्ध हुवो संतो पराधीनपणातें शरीर सम्बन्धी दुःखकरि पीड़ित होय है ॥ १७ ॥

श्लोकवार्तिकके छठे अध्यायमें आश्रवका स्वरूप कहते हुए कहा है–" स आश्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणं " वह योग ही आश्रव है। क्योंकि कर्मोंके आगमनका कारण है। योग भाव आश्रव है। इससे यह सिद्ध है कि कर्मोंका आगमन होना वह द्रव्याश्रव है। आगे " शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य " सूत्रकी व्याख्यामें कहा है कि " सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्धयंगत्वात्। मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात्। स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आश्रवो वेदितव्यः।

अर्थात् सम्यग्दर्शनादिसे रंजित शुभ योग है क्योंकि विशुद्धता है तथा मिथ्यादर्शनादिसे अनुरंजित योग अशुभ है क्योंकि संक्लेशता है। ये ही क्रमसे पुण्य पाप कर्मके आश्रव जानने चाहिये। इन योगोंसे पुद्गल आते हैं। जैसा कहा है "शुभाशुभफलानां तु पुद्गलानां समागमः" कि शुभ या अशुभ पुद्गलोंका समागम होता है। इस पूर्व कथनसे यही बात सिद्ध होती है जैसे कि द्रव्यसंग्रहमें कही है—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो दव्वासवणं परो होदि ॥
णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेयो जिणक्खादो ॥

भावार्थ–जिस आत्माके मिथ्यात्वादि परिणामसे कर्म पुद्गल आता है वह भावाश्रव है और जो ज्ञानावरणादिके बंध योग्य पुद्गलोंका आना अर्थात् बंधके सम्मुख होना सो द्रव्याश्रव है। आश्रव और बंध दोनों एक समयमें होते हैं। वर्गणाओंका इधर उधरसे आत्माके प्रदेशोंमें आना सो आश्रव तथा उनका बैठे रहना–एक क्षेत्रावगाहरूप बने रहना सो बंध है। एक समयमें बंधा हुआ द्रव्य पुद्गल आश्रव रूप तो बंधके समयमें ही हुआ परंतु बंध रूप अवस्था उस समय तक रहेगी जबतक वे कर्म अपनी स्थितिको न छोड़ेंगे और आत्माके प्रदेशोंसे छूट न जायगे। यहां प्रयोजन यह है कि आत्मा स्वभावसे कर्मोंका न आश्रव करता है न बंध करता है। संसारी आत्माएं पूर्व कर्मके उदयसे जब सकम्प होती हैं तब स्वभावसे ही निमित्त पाकर वे पुद्गल स्वयं आकर कर्मरूप बंध जाते हैं जैसा कि श्री अमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽपुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

जीवके भावोंका निमित्त पाकर अन्य अबद्ध कार्माण पुद्गल अपने आप ही कर्मरूप होकर बंध जाते हैं। इससे यह अनुभव करना चाहिये कि आत्मा पुद्गलोंका कर्ता नहीं है ॥ ७९ ॥

उत्थानिका–आगे फिर भी कहते हैं कि यह जीव कर्म स्कंधोंका उपादानकर्ता नहीं होता है।

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छन्ति कम्मभावं ण दु ते जीवेण परिणमिदा ॥ ८० ॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभावं न तु ते जीवेन परिणमिताः ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(कम्मत्तणपाओग्गा) कर्मरूप होनेको योग्य (खंधा) पुद्गलके स्कंध (जीवस्स परिणइं) जीवकी परिणतिको (पप्पा) पाकर (कम्मभावं) कर्मपनेको (गच्छंति) प्राप्त हो जाते हैं (दु) परंतु (जीवेण) जीवके द्वारा (ते ण परिणमिदा) वे कर्म नहीं परिणमाए गए हैं ।

विशेषार्थ-निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न स्वाभाविक आनंदमई एक लक्षणस्वरूप सुखामृतकी परिणतिसे विरोधी मिथ्यादर्शन, रागद्वेष आदि भावोंकी परिणतिको जब वह जीव प्राप्त होता है तब इसके भावोंका निमित्त पाकर वे कर्मयोग्य पुद्गल स्कंध आप ही जीवके उपादान कारणके विना ज्ञानावरणादि आठ या सात द्रव्य कर्मरूप हो जाते हैं। उन कर्म स्कंधोंको जीव अपने उपादानपनेसे नहीं परिणमाता है। इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह जीव कर्म स्कंधोंका कर्ता नहीं है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्त्ता और भी स्पष्ट रूपसे बतादिया है। कर्तापना दो प्रकारका होता है-एक उपादान कर्तापना, दूसरा निमित्त कर्तापना। जो वस्तु दूसरे क्षणमें आप ही बदलकर किसी पर्यायरूप होजावे उसको किसी समयकी अपेक्षा कार्य और उसके पूर्व समयकी अपेक्षा उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे रोटीका उपादान कारण आटा, आटेका उपादान कारण गेहूं, इत्यादि। सुवर्णकी मुद्रिकाका उपादान कारण सुवर्णकी डली। पुद्गलकी अवस्थाका उपादान कारण पुद्गल

है, जीवकी अवस्थाका उपादान कारण जीव है। जो उपादान कारण कार्यके लिये सहकारी कारण हों उनको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे गेहूंका आटा बनानेमें चक्की आदि, आटेको रोटी बनानेमें चकला, तवा, वेलन, अग्नि आदि। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त कारणोंकी आवश्यक्ता होती है। दो कारणोंके विना कार्य नहीं होसक्ता है। इसी नियमके अनुसार ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पौद्गलीक कर्मके बंध होनेमें उपादान कारण कर्म वर्गणाएं हैं। ये पुद्गलके कार्माण स्कंध आप ही अपनी शक्तिसे द्रव्य कर्मरूप होजाते हैं। इनके इस उपादान रूप कार्यके लिये निमित्त कारण जीवके अशुद्ध परिणाम हैं। जब आत्मा पूर्वमें बांध हुए कर्मोंके उदयके असरसे अपने प्रदेशोंमें सकम्प होता है और क्रोधादि कषायोंसे मैला होजाता है तब ही इस आत्माके अशुद्ध योग और उपयोग कर्मके बंध होनेमें निमित्त होते हैं। जो आत्मा शुद्ध है वह कर्मबंधमें निमित्त कारण भी नहीं है। अतएव यदि शुद्ध निश्चय नयसे किसी भी आत्माके असली स्वभावका विचार करें तो यही झलकेगा कि यह आत्मा स्वभावसे इन पौद्गलिक कर्मोका न उपादानकर्ता है और न निमित्तकर्ता है। बहुतसे काम एक दूसरेके विना करे व चाहे हुए भी निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे होते रहते हैं। कोई मनुष्य रोगी होना नहीं चाहता है, परन्तु शरीरमें जब अशुद्ध द्रव्य असर करता है तब रोग पैदा होजाता है। हम यदि दो सेर पानी अग्निपर चढ़ावें और यह चाहें कि दो सेरसे कम न हो। हमारी इस चाहके अनुसार काम न होगा। वह पानी अवश्य भाफ बनकर उड़ेगा और पानी कम हो-

जायगा । अथवा हम यह चाहें कि अग्निपर रखते ही पानी एक सेरका आधसेर होजावे तौभी हमारी चाहके अनुसार कार्य न होगा। वह पानी अपनी शक्तिसे ही अपने यथायोग्य कालमें ही आधा रहेगा । संसारी आत्माओंके संसार होनेमें जीवके अशुद्धभाव और कर्मके बंधका निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध बीज और वृक्षकी तरह अनादिसे है । अनादि प्रवाहसे जैसे बीजसे वृक्ष, फिर इस वृक्षसे दूसरा बीज, इस बीजसे दूसरा वृक्ष, फिर इस वृक्षसे तीसरा बीज इसतरह जबतक बीज भस्म न हो व उगनेकी शक्तिसे रहित न हो तबतक बराबर वह बीज वृक्षकी संतानको करता रहेगा। इसी तरह पूर्वबद्ध कर्मके असरसे आत्माके अशुद्ध योग और उपयोग होते हैं। अशुद्ध योग उपयोगसे नवीन कर्मोंका बंध होता है। इनही कर्मोंके उदय होनेपर फिर अशुद्ध योग उपयोग होते हैं। उनसे फिर नवीन कर्मोंका बंध होता है इस तरह जबतक आत्मासे योग तथा उपयोगके अशुद्ध होनेके कारण यथायोग्य नाम कर्म तथा मोहनीय कर्मके उदयका नाश न हो तबतक अशुद्ध योग और उपयोग होते रहेंगे। जिस आत्मासे स्वात्मध्यानके बलसे सर्व कर्म भस्म होजाते हैं वह शुद्ध होजाता है । वह शुद्ध उपयोगका धारी आत्मा सिद्ध होकर कर्मके द्वारा होनेवाली संसारकी सन्तानसे सदाके लिये मुक्त होजाता है।

निश्चय नयसे आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्ता समझकर उसके ज्ञायकभावमें निरन्तर साम्यभावसे निजानंदका स्वाद लेना योग्य है।

श्री अमृतचंद्र आचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ .

भावार्थ–इस तरह यह आत्मा निश्चयसे कर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे व कर्मरूप पौद्गलिक कर्मोंसे संयुक्त न होनेपर भी अज्ञानियोंको स्वभावसे ही यह आत्मा रागी द्वेषी मोही व कर्म बंधरूप मालूम होता है यही उनका अज्ञान संसारका वीज है। इसी बीजसे संसारमें अनादिसे जन्म मरणरूपी वृक्ष होता चला आया है। जहां इस अज्ञानको नाशकर सम्यग्ज्ञानका लाभ हुआ और अपना ही आत्मा स्वभावसे सर्व द्रव्य कर्मोंसे तथा रागादि भाव कर्मोंसे भिन्न शुद्ध सिद्धसमान अपनी श्रद्धामें आगया बस संसारका बीज नष्ट हुआ। समाधिशतकमें श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है–

वेहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ–इस शरीरमें आत्माकी भावना अन्य शरीर धारनेका बीज है, और आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही आत्माकी भावना करनी देहरहित होनेका बीज है।

स्वामी समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्रमें कहते हैं—

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततो भूर्भगवाननन्तजित् ॥६६॥

भावार्थ–अनन्त दोषोंके निवासका स्थान है शरीर जिसका ऐसा मोहमई पिशाच अनादिकालसे हृदयमें अंगीकार होरहा था। हे भगवन् ! आपने उसको अपने आत्मतत्त्वकी रुचिकी प्रसन्नतासे जीत लिया इसीलिये आपको अनन्तजित या अनन्तनाथ कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस आत्माको अपनी ही परिणतिका र्ता तथा भोक्ता निश्चयसे निश्चय करना चाहिये ॥ ८० ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरके आकार परिणत होनेवाले पुद्गलके पिंडोंका भी जीव कर्ता नहीं है—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो हि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ ८१ ॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनर्हि जीवस्य ।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ ८१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(ते ते) वे वे पूर्व बांधे हुए (कम्मतगदा) द्रव्यकर्म पर्यायमें परिणमन किये हुए (पोग्गलकाया) पुद्गल कर्मवर्गणास्कंध (पुणो वि) फिर भी (जीवस्स) जीवके (देहंतर संकमं) अन्य भवको (पप्पा) प्राप्त होनेपर (देहा) शरीर (संजायंते) उत्पन्न करते हैं।

विशेषार्थ—औदारिक आदि शरीर नामा नामकर्मसे रहित परमात्मस्वभावको न प्राप्त किये हुए जीवने जो औदारिक शरीर आदि नामकर्म बांधे हैं उस जीवके अन्य भवमें जानेपर वे ही कर्म उदय आते हैं। उनके उदयके निमित्तसे नोकर्म वर्गणाएं औदारिक आदि शरीरके आकार स्वयमेव परिणमन करती हैं इससे यह सिद्ध है कि औदारिक आदि शरीरोंका भी जीव कर्ता नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य मुख्यतासे इस बातको बताते हैं कि जैसे द्रव्य कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है वैसे नोकर्मोंका भी कर्ता नहीं है। द्रव्यकर्मोंके उदयसे विशेष करके शरीर नामा नामकर्मके उदयसे औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस शरीरके आकाररूप परिणमन करनेको वर्गणाएं आती हैं और बंधन आदि कर्मके उदयसे इन चारों शरीरोंके आकाररूप स्वयं

हैं। इन चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं। यह संसारी जीव किसी भी स्थूल औदारिक शरीरमें जो मनुष्य तथा तिर्यंचोंके होता है तथा वैक्रियिक शरीरमें जो देव व नारकियोंके होता है, उसी समय तक रह सक्ता है जहांतक उस गति सम्बन्धी आयु कर्मकी वर्गणाएं उदय देती रहती हैं। जब उस विशेष आयुकी सब वर्गणाएं झड़ जाती हैं तब ही इस जीवको वह गति और वह शरीर छोड़कर अन्य किसी बांधी आयुके उदयसे अन्यभवमें जाना पड़ता है। तब जाते हुए मार्गमें जिसको विग्रहगति कहते हैं इस जीवके साथ दो सूक्ष्म शरीर रहते हैं–एक तैजस शरीर, दूसरा अपने ही बांधे हुए द्रव्य कर्मोंका कार्माण शरीर। इन द्रव्य कर्मोंका उदय कभी बंद नहीं होता। विग्रहगतिमें वे अपने असरसे जीवको लेजाते हैं। जब यह तीन, दो वा एक समय मात्र मोड़े लेनेके कारण विग्रहगतिमें रहता है तब इसके औदारिक और वैक्रियिक शरीर नहीं होता। जो जीव मोड़े नहीं लेता है सीधा दूसरे भवमें जाता है वह मरणसे दूसरे समयमें ही अन्य जन्ममें जन्म लेलेता है। जिसको मध्यमें एक समय लगेगा वह मरणके तीसरे समयमें, जिसको दो समय लगेंगे वह मरणके चौथे समयमें, जिसको तीन समय लगेंगे वह मरणके पांचवें समयमें जन्म लेलेता है। मरणका समय व उत्पत्तिका समय यदि न गिना जावे तो विग्रह गतिमें अधिकसे अधिक तीन समय ही लगे। औदारिक या वैक्रियिक शरीर योग्य वर्गणाओंको ग्रहण करना यही जन्मका प्रारम्भ है। कर्मोंके ही उदयसे यह जीव विना चाहे हुए मरण करके दूसरी पर्यायमें उत्पन्न होता है। वहां वर्गणाओंका ग्रहण नाम-

कर्मके उदयसे स्वयमेव होता रहता है। वे वर्गणाएं आप ही पर्याप्ति निर्माण अंगोपांग आदिके उदयसे औदारिक या वैक्रियिक शरीरके आकार परिणमन कर जाती हैं। जैसे जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर लोकमें सर्वत्र भरी हुई कार्माण वर्गणाएं स्वयं ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं, इसी तरह नाम व गोत्रके उदयसे भिन्न २ जातिकी वर्गणाए स्वयं ही अनेक प्रकारके देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंचोंके शरीरोंके आकाररूप परिणमन कर जाती हैं। जैसे जीव द्रव्य कर्मोंका निश्चय नयसे उपादान या निमित्तकर्ता नहीं है तैसे यह जीव शरीरोंका भी उपादान या निमित्तकर्ता नहीं है। इसलिये मैं सब प्रकारके पौद्गलिक शरीरोंसे भिन्न होकर उनका किसी तरह कर्ता धर्ता नहीं हूं ऐसा अनुभव करके निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही उपयुक्त रहना योग्य है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं कि यह शरीररूप कैदखाना जीवका रचा नहीं है, कर्मोंका रचा है। जैसे—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ॥
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं-
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९ ॥

भावार्थ—यह शरीररूपी जेलखाना है जिसको दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओंने बनाया है। यह शरीररूपी कारागार हड्डियोंसे बना हुआ, नसोंके जालोंसे वेष्टित, चर्मसे ढका हुआ तथा रुधिर व गीले मांससे लिप्त अति गुप्त बनाया गया है जिसमें रहनेवाले जीवके पैरमें आयुकर्मकी दृढ़ जंजीरें लगी हुई हैं। हे निर्बुद्धि! तू इस शरीरको कैदखाना मानकर इससे वृथा प्रीति मतकर

भाव यह है कि शरीर आत्माका कोई कारण या कार्य नहीं है, कर्मोंका ही कार्य है ऐसा जानकर सर्व प्रकारके शरीरोंसे अपनी आत्माको भिन्न अनुभव करना चाहिये ॥ ८१ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि पांचों ही शरीर जीव स्वरूप नहीं हैं—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजयिओ ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ ८२ ॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः ।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ॥ ८२ ।

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(ओरालिओ देहो) औदारिक शरीर (य) और (वेउव्विओ) वैक्रियिक देह (य तेजयिओ) और तैजस शरीर (आहारय, कम्मइओ) आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये (सव्वे) सब पांचों शरीर (पोग्गलदव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्यमई हैं ।

विशेषार्थ-ये शरीर पुद्गल द्रव्यके बने हुए हैं इसलिये मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं, क्योंकि मैं शरीर रहित चैतन्य चमत्कारकी परिणतिमें परिणमन करनेवाला हूं, मेरा सदा ही अचेतन शरीरपनेसे विरोध है ।

भावार्थ-संसारी जीवोंके पांच प्रकारके शरीर पाए जाते हैं। हरएक शरीर अपने २ नामकर्मके उदयसे बनता है। औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे औदारिक शरीर आहारक वर्गणासे, वैक्रियिक शरीर नामकर्मके उदयसे वैक्रियिक शरीर आहारक वर्गणासे, आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे आहारक शरीर आहारक

वर्गणासे तथा तैजस शरीर नामकर्मके उदयसे तैजस शरीर तैजस वर्गणासे और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे कार्मण शरीर कार्मण वर्गणासे बन जाता है-इन शरीरोंका उपादान और निमित्त कारण पुद्गल ही है, आत्मा नहीं है। इस तरह आत्माको शरीर और द्रव्यकर्म तथा रागादि कर्मकृत विकारोंसे भिन्न अनुभव करके साम्यभावका लाभ करना चाहिये। श्री अमृतचंद्रस्वामी समयसार-कलशमें कहते हैं—

अत्यन्त भावयित्वा विरतिमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनाया ।
पूर्णं कृत्वा स्वभाव स्वरसपरिगत ज्ञानसंचेतना स्वां ।
सानन्द नाटयन्त प्रशमरसमित सर्वकाल पिबन्तु ॥४०-१॥

भावार्थ-हे भव्य जीवो! अब तुम इस समयसे द्रव्य कर्म और उनके फल स्वरूप नोकर्म और भाव कर्मसे अत्यन्त विरक्त भावकी निरंतर भावना करके तथा सर्व अज्ञान चेतनाके नाशको अच्छी तरह नचाकरके तथा अपने निजरससे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके और अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्द सहित नचाते हुए शांत रसका सर्वकाल पान करो। मैं सिद्ध शुद्ध ज्ञानान्दमय हूं। इस भावनामें दृढ हो आनन्द लाभ करो ॥ ८२ ॥

इस तरह पुद्गल स्कंधोंके बन्धके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें पाच गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह "अपदेसो परमाणू" इत्यादि ९ गाथाओंसे परमाणु और स्कंध भेदको रखनेवाले पुद्-लोंके पिंड बननेके व्याख्यानकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

आगे उन्नीस गाथा पर्यंत 'जीवका पुद्गलके साथ बंध है' इस मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं। इसमें छः स्थल हैं। इनमेंसे आदिके स्थलमें "अरसमरूवं" इत्यादि शुद्ध जीवके व्याख्यानकी गाथा एक है, "मुत्तो रूवादि" इत्यादि पूर्वपक्ष व उसके परिहारकी मुख्यतासे दो गाथाएं हैं, ऐसे पहले स्थलमें तीन गाथाएं हैं। फिर भाव बंधकी मुख्यतासे "उवओगमओ" इत्यादि दो गाथाएं हैं। आगे परस्पर दोनों पुद्गलोंका बन्ध होता है, जीवका रागादि परिणामके साथ बन्ध है और जीव पुद्गलोंका बन्ध है ऐसे तीन प्रकार बन्धकी मुख्यतासे "फासेहिं पुग्गलाणं" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर निश्चयसे द्रव्य बन्धका कारण होनेसे रागादि परिणाम ही बन्ध है। ऐसा कहते हुए "रत्तो बन्धदि" इत्यादि तीन गाथाएं हैं। आगे भेदभावनाकी मुख्यतासे "भणिदा पुढवी" इत्यादि दो सूत्र हैं। फिर यह जीव रागादि भावोंका ही कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है ऐसा कहते हुए "कुव्वं सहावमादा" ऐसे छठे स्थलमें गाथाएं सात हैं। जहां मुख्यपना शब्द कहा है वहां यथासंभव और भी अर्थ मिलता है ऐसा भाव सर्व ठिकाने जानना योग्य है। इस तरह उन्नीस गाथाओंसे तीसरे विशेष अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ॥

उत्थानिका—ऐसा प्रश्न होनेपर कि इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे भिन्न अन्य द्रव्योंसे असाधारण अपना सरूप क्या है? आचार्य उत्तर देते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ८३ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेउनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ ८३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(जीवम्) इस जीवको (अरसं) पांच रससे रहित (अरूवम्) पांच वर्णसे रहित (अगंधं) दो गंधसे रहित तथा इन्होंके साथ आठ प्रकार स्पर्शसे रहित, (अव्यत्तं) अप्रगट (असद्दं) शब्द रहित, (अलिंगगहणं) किसी चिह्नसे न पकड़ने योग्य (अणिद्दिट्ठसंठाणं) नियमित आकार रहि (चेदणागुणं) सर्व पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंसे भिन्न और समस्त अन्य द्रव्योंसे विशेष तथा अपने ही अनन्त जीव जातिमें साधारण ऐसे चैतन्य गुणको रखनेवाला (जाण) जानो ।

विशेषार्थः-अलिंग ग्रहण जो विशेषण दिया है उसके वहुतसे अर्थ होते हैं वे यहां समझाए जाते हैं । लिंग इंद्रियोंको कहते हैं । उनके द्वारा यह आत्मा पदार्थोंको निश्चयसे नहीं जानता है क्योंकि आत्मा स्वभावसे अपने अतीन्द्रिय अखंडज्ञान सहित है इसलिये अलिंग ग्रहण है अथवा लिंग शब्दसे चक्षु आदि इन्द्रियें लेना, इन चक्षु आदिसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्ते क्योंकि यह आत्मा विकार रहित अतींद्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही अनुभवमें आता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है । अथवा धूम आदिको चिह्न कहते हैं जैसे धुएंके चिह्नरूप अनुमानसे अग्निका ज्ञान करते हैं ऐसे यह आत्मा जानने योग्य पर पदार्थोंको नहीं जानता क्योंकि स्वयं ही चिह्न या अनुमान रहित प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानको रखनेवाला है उसे ही जानता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है अथवा कोई भी अन्य पुरुष

धूमके चिह्नसे अग्निका ग्रहण कर लेते हैं वैसे अनुमानरूप चिह्नसे आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्ते क्योंकि यह चिह्न रहित अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा जानने योग्य है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। अथवा लिंग नाम शिखा, जटा धारण आदि भेषका है इससे भी आत्मा पदार्थोंका ग्रहण नहीं कर सक्ता क्योंकि स्वाभाविक, विना किसी चिह्नके उत्पन्न अतींद्रिय ज्ञानको यह आत्मा रखनेवाला है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। अथवा किसी भी भेषके ज्ञानसे पर पुरुष भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्ते क्योंकि यह आत्मा अपने ही वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जाना जाता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। इसतरह अलिंग ग्रहण शब्दकी व्याख्यासे शुद्ध जीवका स्वरूप जानने योग्य है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि यह आत्मा पुद्गलके गुण जो स्पर्श रस गंध वर्ण हैं उनसे रहित है इसलिये पुद्गलसे भिन्न अमूर्तीक है। तथा इसी लिये यह आत्मा प्रगट देखनेमें नहीं आता है न इससे पौद्गलिक शब्द होते हैं न इसके कोई समचतुरस्र संस्थान आदि शरीर सम्बन्धी आकार हैं और न यह किसी चिह्नसे जाना जासक्ता है। न तो कोई पुरुष आप ही अपनी इंद्रियोंसे अपनी आत्माको देख सक्ता है या मालूम कर सक्ता है, न दूसरे पुरुष दूसरेकी आत्माको किसी इंद्रियसे जान सक्ते हैं, न कोई किसी अनुमानसे अपनी आत्माको जान सकता है न दूसरे ही पुरुष किसी अनुमानसे दूसरेकी आत्माको जान सक्ते हैं, न कोई शिखा जटा आदि नानाप्रकार साधुभेषको धरकर अपनी आत्माको जान सक्ता है न दूसरे पुरुष किसी भी भेषके ज्ञानसे

इस दूसरेकी आत्माको मान सके है, इसलिये यह आत्मा अपने आपको आप ही अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जान सक्ता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञान चेतनामय सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न लक्षणको रखनेवाला है। यद्यपि चेतना गुणकी अपेक्षा सर्व आत्माएं समान हैं तथापि सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं तौभी इस मोक्षवांछक पुरुषको उचित है कि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्व ही आत्माओंको शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, अविनाशी, अमूर्तीक अपने आत्माके समान देखकर सर्वसे रागद्वेष छोडकर सामान्यतासे शुद्ध आत्माके अनुभवमें तन्मय हो परम समताको प्राप्त करे, जैसा श्री अमृतचन्द्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा नित्य ही कर्मोंके लेपसे रहित है, अपने स्वरूपमें स्थित है, किसीके द्वारा घातसे रहित है, आकाशके समान अमूर्तीक है, परम पुरुष है, अत्यन्त शुद्ध, परम पदमें स्फुरायमान होनेवाला है, अपने निज पदमें कृतकृत्य है, सकल जानने योग्यका ज्ञाता स्वरूप है, यही परमात्मा है, परमानंदमें डूबा हुआ है, तथा ज्ञानमई सदा ही प्रकाशमान होरहा है। इसतरह शुद्ध आत्माके शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि रखकर इसी स्वरूपका एकाग्र होकर अनुभव करना चाहिये। यही स्वात्मानुभव सिद्धपदका कारण है ॥ ८३ ॥

उत्थानिका–आगे जब आत्मा अमूर्तीक शुद्ध स्वरूप है तब इस अमूर्तीक जीवका मूर्तीक पुद्गल कर्मोंके साथ किसतरह बंध होसक्ता है ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं–

मुत्तो रूवादिगुणो वज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ ८४ ॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः ।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ ८४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ –(रूवादिगुणो) स्पर्श रस गध वर्ण गुणधारी (मुत्तो) मूर्तीक पुद्गल द्रव्य (फासेहिं) स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श गुणोंके निमित्तसे (अण्णम् अण्णेहिं) एक दूसरेसे परस्पर (वज्झदि) बध जाते हैं। (तव्विवरीदो) इससे विरुद्ध अमूर्तीक (अप्पा) आत्मा (किध) किस तरह (पोग्गलकम्म) पुद्गलीक कर्मवर्गणाओंको (बधदि) बाधता है ।

विशेषार्थ –निश्चयनयसे यह आत्मा परमात्मा स्वरूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारी परिणतिमें वर्तनेवाला है, बंधके कारण स्निग्ध रूक्षके स्थानापन्न रागद्वेषादि विभाव परिणामोंसे रहित है और अमूर्तीक है सो किसतरह पुद्गल मूर्तीक कर्मोंको बाध सक्ता है ? किसी भी तरह नहीं बाध सक्ता है ऐसा पूर्वपक्ष शकाकारने किया है ।

भावार्थ–शकाकार कहता है कि जब यह आत्मा स्वभावसे अमूर्तीक वीतराग ज्ञान स्वभाव है तब इसके जड पुद्गल-स्पर्श रस गध वर्णवान् पुद्गलोंका सम्बन्ध कैसे होसक्ता है। मूर्तीकका मूर्तीकके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणोंके निमित्तसे बंध होसक्ता है परंतु अमूर्तीकका मूर्तीकके साथ कैसे होसक्ता है ? ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नयके द्वारा अमूर्तीक आत्माका पुद्गलसे बंध होजाता है—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि ॥ ८५

रूपादिकैः रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बंधस्तेन जानीहि ॥ ८५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादिसे रहित आत्मा (रूवमादीणि दव्वाणि गुणेय) रूपादि गुणधारी द्रव्योंको और उनके गुणोंको (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तध) तैसे (तेण) उस पुद्गलके साथ (बंधो) बंध (जाणीहि) जानो ।

विशेषार्थ—जैसे अमूर्तीक व परम चैतन्य ज्योतिमें परिणमन रखनेके कारण यह परमात्मा वर्ण आदिसे रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित मूर्तीक द्रव्योंको और उनके गुणोंको मुक्तावस्थामें एक समयमें वर्तनेवाले सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाले केवल दर्शन और केवलज्ञान उपयोगके द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयोंके साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तीक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता दृष्टा उनसे भिन्न है । अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञानको न पाता हुआ काठ व पाषाण आदिकी अचेतन जिन प्रतिमाको देखकर यह मेरेद्वारा पूजने योग्य है ऐसा मानता है। यद्यपि यहां सत्ताको देखने मात्र दर्शनके साथ उस प्रतिमाका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि

दृश्य दर्शक सम्बन्ध है अथवा जैसे कोई विशेष भेदज्ञानी समवशरणमें प्रत्यक्ष जिनेश्वरको देखकर यह मानता है कि यह मेरेद्वारा आराधने योग्य है, यहां भी यद्यपि देखने व जाननेका जिनेश्वरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य तथा आराधक सम्बन्ध है तैसे ही मूर्तीक द्रव्यके साथ बन्ध होना समझो। यहां यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनयसे अमूर्तीक है तथापि अनादि कर्मबन्धके वशसे व्यवहारसे मूर्तीक होता हुआ द्रव्यबंधके निमित्त कारण रागादि विकल्परूप भावबंधके उपयोगको करता है। ऐसी अवस्था होनेपर यद्यपि मूर्तीक द्रव्यकर्मके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि पूर्वमें कहे हुए दृष्टांतसे संयोग सम्बन्ध है इसमें कोई दोष नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अपने आत्माके साथ द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिका बंध होसक्ता है इस वातको स्पष्ट किया है। जहां मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है वहां मूर्तीक द्रव्य और गुणोंको अपने ज्ञान स्वभावसे वीतरागतारूप जानते हुए भी आत्मा बन्धको प्राप्त नहीं होता है। केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा सर्व मूर्तीक व अमूर्तीक द्रव्योंको परम वीतरागतासे देखते जानते हैं इसलिये उनके बन्ध नहीं होता। इसी तरह अन्य वीतराग सम्यग्दृष्टी आत्माएं भी जगतके मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थोंको यदि उदासीनतासे उनके वस्तु स्वरूपको मात्र समझते हुए देखते जानते हैं तो उनको इस दर्शन ज्ञानसे भी बन्ध नहीं होता। बन्धका कारण रागद्वेष है। संसारी आत्मा अनादि कर्मबन्धके सम्बन्धके कारण उन कर्मोंके उदयके निमित्तसे रागद्वेष परिणति कर लेता है

इसीको अशुद्ध उपयोग कहते हैं। इस अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं कर्मरूप हो आत्माके साथ संयोगरूप ठहर जाती हैं।

जिनके रागद्वेष नहीं होता वे मूर्तीक पदार्थोंको देखते जानते हुए भी बन्धको प्राप्त नहीं होते। शुद्ध आत्मामें रागद्वेष नहीं होते इसलिये वे मूर्तीक कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। यहां आचार्यने यह दिखाया है कि जैसे यह आत्मा स्वरूपसे अमूर्तीक होता हुआ भी मूर्तीक पदार्थोंको देखता जानता है इसी तरह मूर्तीकके साथ संयोग भी पालेता है। वास्तवमें जो आत्मा किसी भी समयमें अमूर्तीक शुद्ध कर्मबंधसे रहित होता तो वह कभी भी बन्धमें नहीं पड़ता, क्योंकि विना रागद्वेष मोहके आत्माके द्रव्यकर्मोंका बंध नहीं होसक्ता। यह आत्मा इस संसारमें अनादिकालसे ही बंधरूप ही चला आरहा है—स्वभावसे अमूर्तीक होनेपर भी इसका कोई भी अंशरूप प्रदेश अनंत द्रव्यकर्मवर्गणाओंके आवरणसे रहित नहीं है, इसलिये व्यवहारमें इस संसारी आत्माको मूर्तीक कहते हैं और इस मूर्तीक आत्माके ही मूर्तीक पुद्गलोंका बंध होता है। जैसे मूर्तीक आत्मा राग द्वेष मोहपूर्वक पदार्थोंको देखता जानता है वैसे यह कर्मपुद्गलोंसे भी संयोग पा जाता है। जैसे देखते जानते हुए मूर्तीक द्रव्योंका आत्माके साथ न मिटनेवाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु मात्र राग सहित ज्ञेय ज्ञायक संबंध है वैसे मूर्तीक आत्माका द्रव्य कर्मोंके साथ तादात्म्य संबंध नहीं है किंतु मात्र संयोग सम्बन्ध है। मूर्तीक आत्मापर प्रत्यक्ष मूर्तीक पदार्थोंका असर पड़ता दीखता है। जैसे मादक वस्तुको पीलेनेसे . . वि॰

जाता है । अथवा सराग मूर्तिको देखनेसे सराग भाव व वीतराग मूर्तिको देखनेसे वीतराग भाव होता है । अथवा जैसे सरागी पुरुष बुद्धिपूर्वक भोजन पान वस्त्रादि ग्रहण करता है तैसे वही सरागी अबुद्धि पूर्वक कर्म सिद्धांतके नियमसे कर्मवर्गणाओंको ग्रहणकर पूर्वबद्ध मूर्तीक द्रव्यके साथ बांध लेता है । टीकाकारने तीन दृष्टांत दिये हैं–एक केवलज्ञानी परमात्माका कि वे अमूर्तीक होते हुए भी ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे मूर्तीक द्रव्योंको देखते जानते हैं तो भी उनमे तन्मयी नहीं हैं । दूसरा साधारण भेद ज्ञान रहित पुरुषका कि वह अरहंतकी मूर्तिको देखकर अपने दर्शक व दर्शन सम्बन्धको जोड़ देता है कि यह पूजने योग्य हैं व पूजक हूं । तीसरा एक विशेष भेद विज्ञानीका जो समवशरणमे साक्षात् अरहंतको देखकर उनसे पूज्य पूजक सम्बन्ध करता है । इन दृष्टांतोसे यही दिखलाया है कि जैसे इनमें एक तरहका संयोग सम्बन्ध है वैसा ही आत्माका द्रव्यकर्मोंके साथ संयोग सम्बन्ध है । जो मूर्तिको अरहंतकी स्थापना समझकर उस मूर्तिको पूजकर अरहंतकी मैंने पूजा की ऐसा समझते हैं वे तो भेदविज्ञानी हैं । परंतु जो मूर्तिको ही साक्षात् अरहंत एकांतसे मान ले और स्थापना है ऐसा न समझे उसे वृत्तिकारने विशेष भेद विज्ञान रहित पुरुष कहा है ऐसा भाव झलकता है ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपनी वृत्तिमे इसतरह दिखलाया है कि मूर्तीक द्रव्यको जो राग सहित देखता जानता है वही स्वयं रागी होकर उससे बंध जाता है । इसके दो दृष्टांत दिये हैं–एक तो अज्ञानी बालकका जो मिट्टीके बैलको अपना जानता है । दूसरे

ग्वालियेका जो सच्चे बैलको अपना जानता है। यद्यपि दोनो ही तरहके बैल बालक या ग्वालियेसे जुदे हैं तथापि यदि कोई उनको नष्ट करे, बिगाडे व ले जावे तो बालक और ग्वालिये दोनोको महा दुःख होगा क्योंकि उनका ज्ञान उन बैलोंके निमित्तसे उनके आकार राग सहित परिणमन कररहा है। यही उन परस्वरूप बैलोंके साथ उनके सम्बन्धका व्यवहार है। इसी तरह अमूर्तीक आत्माका जो अनादिकालसे प्रवाहरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलीक कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आरहा है उनके उदयका निमित्त पाकर राग द्वेष मोहरूप अशुद्धोपयोग होता है यही भाव बंध है। इसीसे आत्मा बंधा हुआ है। पुद्गलीक कर्मोंका बंध व्यवहार मात्र है। यही भावबंध द्रव्यबंधका कारण है। भावबंधसे नवीन द्रव्य कर्म उसी कर्म सहित आत्मामें संयोग पालेते हैं। श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्रस्वामीने इसी प्रश्नको उठाकर कि अमूर्तीकका बन्ध मूर्तीकके कैसे होता है ? इस तरह समाधान किया है—

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्तित्वसिद्धितः ॥ १६ ॥

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥ १७ ॥

बन्धं प्रति भवत्यैकमन्योन्यानुप्रवेशतः ।
युगपद्द्रावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणः ॥ १८ ॥

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

भावार्थ–अमूर्तीक आत्माके साथ मूर्तीक कर्मोंका बंध अनेकान्तसे असिद्ध नहीं है क्योंकि किसी अपेक्षासे आत्माके मूर्तिपना सिद्ध है । इस अमूर्तीक आत्माका भी द्रव्य कर्मोंके साथ प्रवाह रूपसे अनादिकालसे धाराबाही सदाका सम्बन्ध चला आरहा है इसीसे उन मूर्तीक द्रव्यकर्मोंके साथ एकता होते हुए आत्माको भी मूर्तीक कहते हैं । बंध होनेपर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरेमें प्रवेश होजानेपर परस्पर एकता होजाती है जैसे सुवर्ण और चांदीको एक साथ गलानेसे दोनों एक रूप होजाते हैं उसी तरह जीव और कर्मोंका बंध होनेसे परस्पर एकरूप बंध होजाता है । तथा यह कर्मबद्ध संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदिसे इसका ज्ञान बिगड़ जाता है । यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाशमें मदिरा रहते हुए आकाशको मदवान नहीं कर सक्ती वैसे आत्माके कभी ज्ञानमें विकार न होता । संसारी आत्मा मूर्तिक है इसीसे उसके कर्म बंध होता है । जैसे आत्मा निश्चयसे अमूर्तीक है वैसे उसके निश्चयसे बंध भी नहीं है । जैसे आत्मा व्यवहारसे मूर्तीक है वैसे उसके व्यवहारसे बंध भी होता है । इस तरह अनेकांतसे समझ लेनेमें कोई प्रकारकी शंका नहीं रहती है । सर्वथा शुद्ध अमूर्तीक यदि आत्मा होता तो इसके बंध मूर्तीकसे कभी प्रारंभ नहीं हो सक्ता था । अनादि संसारमें कर्म सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसा अनादिसे ही चला आ रहा है इसीसे कर्मबंधकी व्यवस्था सिद्ध होती है ॥ ८९ ॥

इस तरह शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप जीवके कथनकी मुख्यतासे एक गाथा, फिर अमूर्तीक जीवका मूर्तीक कर्मके साथ कैसे

बंध होता है इस पूर्व पक्षरूपसे दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी इस तरह तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षणके धारी भावबन्धका स्वरूप कहते हैं:—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ ८६ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः सम्बन्धः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(उवओगमओ जीवो) उपयोग मई जीव (विविधे विसये) नानाप्रकार इंद्रियोंके पदार्थोंको (पप्पा) पाकर (*मुह्यदि*) *मोह करलेता है* (*रज्जदि*) *राग कर लेता है* (*वा*) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है। (पुणो) तथा (हि) निश्चयसे (जो) वही जीव (तेहिं संबंधो) उन भावोंसे बन्धा है यही भाव-बंध है।

विशेषार्थः—यह जीव निश्चय नयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तौभी अनादि कालसे कर्मबंधकी उपाधिके वशसे जैसे स्फटिकमणि उपाधिके निमित्तसे अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावोंसे परिणमता हुआ इंद्रियोंके विषयोंसे रहित परमात्म स्वरूपकी भावनासे विपरीत नाना प्रकार पंचेंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमई परम धर्मको न अनुभवता हुआ इन राग द्वेष मोह भावोंसे बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीवके यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम है सो ही भावबन्ध है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने द्रव्यबंधके कारण भाव-बंधको स्पष्ट किया है। यह आत्मा यदि शुद्ध अवस्थामें हो तब तो इसके कभी राग द्वेष मोह भाव हो ही नहीं सके क्योंकि आत्माका स्वभाव वीतरागतासे निज परका ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना है–यह उपयोगमई है। शुद्ध उपयोगमें रहना ही इसका धर्म है। जैसे स्फटिकमणिका स्वभाव निर्मल श्वेत है वैसे यह आत्मा शुद्ध है, परंतु संसारमें हरएक आत्मा प्रवाह रूपसे अनादिकालसे पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उपाधिसे संयुक्त चला आरहा है। इस कारण शुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमें न परिणमता हुआ क्षयोपशमरूप मति श्रुतज्ञानसे इंद्रियोंके, और मनके द्वारा जानता देखता है। साथमें मोहका उदय है इसलिये पांचों इंद्रियोके द्वारा जिन २ पदार्थोंको जानता है उनमेंसे जो अपनेको इष्ट भासते हैं उनमें राग और मोह करलेता है। तथा जो अनिष्ट भासते हैं उनमें द्वेष कर लेता है। उस समय यह आत्मा उस राग द्वेष या मोहके भावसे तन्मई होकर रागी, द्वेषी, मोही हो जाता है। जैसे स्फटिकमणि काले, पीले, हरे डाकके सम्बन्धसे अपनी शुद्धताको छिपाकर काली, पीली, हरी भासती है। इस जीवके इस राग द्वेष मोह भावको इसी लिये भाव बंध कहते हैं क्योंकि उसका उपयोग उन भावोंसे बन्धा हुआ है। अर्थात् उपयोगने अपनेमें रागद्वेष मोहका रंग चढ़ा लिया है। जैसे सफेद वस्त्र काले, पीले, हरे, लाल रंगमें रंगनेसे रंगीन हो जाता है वैसे यह आत्मा रागद्वेष मोहमें रंग जानेसे रागीद्वेषी मोही हो जाता है। उस समय आत्माकी स्वाभाविक वीतरागता

ढक जाती है। इसी भावबंधसे यह आत्मा नवीन कर्मबंध करता है। प्रयोजन यह है कि जैसे सफेद वस्त्र व स्वच्छ स्फटिकको देखनेकी इच्छा करनेवाला रंगके व डाकके सम्बन्धको छुड़ाता है इसी तरह हमको शुद्ध आत्माके लाभके लिये, रागद्वेष मोहके कारण-भूत कर्मबंधनको आत्मासे हटाना चाहिये और इसी लिये अभेद-रत्नत्रयका शरणलेकर स्वानुभवके बलसे मोहके बलको निर्बल करना चाहिये। यहां मोहसे मिथ्या श्रद्धान तथा राग द्वेषसे क्रोधादि कषायोंका आवेश समझना चाहिये। यही राग द्वेष मोहबन्धके कारण हैं ऐसा ही समयसार कलशमें स्वामी अमृतचंद्राचार्यने कहा है—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥९-५॥

भावार्थ—जो कोई जीव शुद्ध निश्चय नयके विषयभूत शुद्धा-त्मानुभवसे छूटकर ज्ञान रहित हो राग द्वेष मोहको परिणमते हैं वे ही पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंके अनुसार नाना प्रकार भेदरूप कर्मबंधको प्राप्त करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि रागद्वेष मोह कर्मबंधके कारण होनेसे भावबन्ध हैं ॥ ८६ ॥

उत्थानिका—आगे भावबंधके अनुसार द्रव्यबन्धका स्वरूप बताते हैं—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो ॥ ८७ ॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये ।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जीवो) जीव (जेण

नित्त रागद्वेष मोहभावसे (विसए आगदं) इन्द्रियोंके विषयमें आए हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको (पेच्छदि) देखता है (जाणादि) जानता है (तेणेव रज्जदि) उसही भावसे रंग जाता है (पुणो) तब (कम्म) द्रव्यकर्म (वज्झदि) बन्ध जाता है (इति उवएसो) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है।

विशेषार्थ-यह जीव पांचों इन्द्रियोंके जाननेमें जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते हैं उनको जिस परिणामसे निर्विकल्परूपसे देखता है व सविकल्परूपसे जानता है उसी ही दर्शनज्ञानमई उपयोगसे राग करता है क्योंकि वह आदि मध्य अन्त रहित, व रागद्वेषादि रहित चैतन्य ज्योतिस्वरूप निज आत्म द्रव्यको न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ और समस्त रागादि विकल्पोंको छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ वर्तन कर रहा है इसीसे ही रागी द्वेषी मोही होकर रागद्वेष मोह कर लेता है। यही भावबंध है। इसी भाव बंधके कारण नवीन द्रव्यकर्मोंको बांधता है ऐसा उपदेश है।

भावार्थः-इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि इस आत्माका अशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग द्रव्य कर्मकेबंधके लिये निमित्त कारण है। वे कर्मवर्गणाएं आत्माके भावोंका निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप बंध जाती हैं। यदि यह आत्मा वीतराग भावसे पदार्थोंको देखे जाने तो भावबंध न हो परन्तु यह रागद्वेष मोहके साथ देखता जानता है इससे अपनेमें भाव बंधको पाकर द्रव्यबन्ध करता है। तात्पर्य यह है कि वीतराग भावसे ही देखना जानना हितकारी है ॥८७॥

इस तरह भावबंधके कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे बंध तीन प्रकार है। एक तो पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोंका नवीन पुद्गल कर्मोंके साथ बंध होता है। दूसरा जीवका रागादि भावके साथ बंध होता है। तीसरा उसी जीवका ही नवीन द्रव्यकर्मोंसे बंध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्धके स्वरूपको कहते हैं–

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८८॥

स्पर्शैः पुद्गलाना बंधो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ ८८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(पुग्गलाणं) पुद्गलोंका (बंधो) बन्ध (फासेहिं) स्निग्ध रूक्ष स्पर्शसे, (जीवस्स) जीवका बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामोंसे तथा (पोग्गलजीवप्पगो) पुद्गल और जीवका बन्ध (अण्णोण्णं अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थः–जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन पुद्गलीक द्रव्यकर्मोंका पूर्वमें जीवके साथ बंधे हुए पुद्गलीक द्रव्यकर्मोंके साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुणरूप उपादान कारणसे जो बंध होता है उसको पुद्गल बंध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे शून्य जीवका जो रागादि भावोंमें परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित हो स्निग्ध रूक्षकी जगह रागद्वेषमें परिणमन होते हुए जीवका

वंध योग्य स्निग्ध रूक्ष परिणामोंमें परिणमन होनेवाले पुद्गलके साथ जो परस्पर एक क्षेत्र अवगाहरूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है इस तरह तीन प्रकार बंधका लक्षण जानने योग्य है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने बन्ध तत्वका वर्णन किया है । वास्तवमें दो वस्तुओंका मिलकर एकमेक होजाना उसको बंध कहते हैं । यह बन्ध पुद्गल द्रव्यहीमें हो सक्ता है । पुद्गलके परमाणु या स्कंध एक दूसरेसे स्निग्ध रूक्ष गुणके दो अविभाग प्रतिच्छेद या अंशके अधिक होनेपर परस्पर मिलकर एक बन्धरूप स्कंध हो जाते हैं जैसा पहले कहचुके हैं । इस तरहका बंध उस समयमें भी होता है जब जीवके योग और कषायके निमित्तसे द्रव्य कर्मवर्गणाएं आश्रवरूप होती हैं । पूर्वमें बांधी हुई पुद्गलीक द्रव्य कर्म वर्गणाओंके साथ नवीन आश्रवरूप हुए पुद्गलीक कर्म वर्गणाओंका परस्पर स्निग्ध रूक्षगुणके कारण बन्ध हो जाता है । इसको पुद्गल बंध कहते हैं । इस तरहकी व्यवस्था वस्तुस्वरूपके समझने पर यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आजावगी, कि शुद्ध आत्माके कर्मबन्ध होना असंभव है। अनादिकालसे आत्मा अशुद्ध है अर्थात् कर्मबन्ध सहित है ऐसा माननेपर ही नवीन द्रव्यकर्मोका पुराने द्रव्यकर्मोंके साथ बन्ध बन सक्ता है, क्योंकि वास्तवमें बन्ध रूप पर्याय पुद्गलोंमें ही होती हैं। यह एक प्रकारका पुद्गलबंध है।

मोहनीआदि कर्मोके उदयके निमित्तसे जीवके भावोंमें परिणति होकर उनका रागद्वेष मोहरूप परिणत हो जाना सो जीवबंध है । आत्मा किस तरह रागद्वेषरूप परिणमता है इसका स्वरूप शब्दोंसे कहना बहुत दुर्लभ है । जो बिल्कुल वीतराग हो चुके

हैं उनके कभी भी रागद्वेष मोह पैदा नहीं हो सके क्योंकि उन्होंने मोहकर्मका ही नाश कर डाला है। जिन्होंने मोहका नाश नहीं किया है उनके भीतर रागद्वेष मोह भी किसी न किसी पर्यायमें कम या अधिक अनादिकालसे होते ही रहते हैं, केवल उपशम सम्यक्तमें या उपशम चारित्रमें मोहके उदयके दब जानेसे जीवोंको अन्तर्मुहूर्तके लिये निर्मल सम्यक्त या निर्मल वीतराग चारित्र होता है। इस अवस्थाके सिवाय क्षपक श्रेणीके दसवें गुणस्थान तक बराबर कोई न कोई प्रकारका राग या द्वेष या मोह सहित राग या द्वेष बना ही रहता है। ये राग द्वेष मोह नैमित्तिक या औपाधिक भाव कहलाते हैं क्योंकि जीवके उपयोगके साथ साथ मोहनीय कर्मका अनुभाग या रस झलकता है। जबतक मोहनीय कर्मके उदयसे उसका रस प्रगट होता रहेगा तब ही तक जीवके रागादिरूप भाव होगा। जैसे स्फटिक मणिके नीचे जबतक काली, हरी, पीली डाकका सम्बन्धी रहेगा तब ही तक वह काली, हरी, पीली रूप झलकेगी वैसे ही जीवके विभाव भावोंकी अवस्था समझ लेनी चाहिये। पुद्गलकर्म वर्गणाओंमें इतनी अवश्य शक्ति है कि जीवके उपयोगको मलीन कर देते हैं या इसके गुणोंको ढक देते हैं जिसका दृष्टांत हमको मादक पदार्थमें मिलता है। मादक पदार्थके सेवनसे ज्ञानमें उन्मत्तपना हो जाता है। जीवका शुद्धोपयोगसे शून्य हो अशुद्धोपयोगरूप होना यह जीवबंध या भावबंध कहलाता है।

एक २ जीवके प्रदेशमें अनंत पुद्गलकर्मवर्गणाओंका अवगाह रूप तिष्टे रहना, जैसे एक छोटेसे कमरेके आकाशमें बहुतसे

कोंका प्रकाश अवगाह पाकर ठहर जाता है इसको जीव पुद्गलका एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध कहते हैं। इस तरह तीन प्रकारका बन्ध है।

पंचाध्यायीकारने भी बन्धके तीन भेद बताए हैं–

अर्थतस्त्रिविधो बंधो भावद्रव्योभयात्मकः ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वंद्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥
रागात्मा भावबंधः स जीवबंध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिंडो बंधस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥
इतरेतरबंधश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बंध्यबंधकभावः स्याद् भावबंधनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

भावार्थ–वास्तवमें बंध तीन प्रकार है–भावबन्ध, द्रव्यबन्ध, और उभयबन्ध। इनमेंसे भावबन्ध और द्रव्यबंध तो भिन्न२ स्वतंत्र हैं। तीसरा उभयबन्ध जीव पुद्गलके मेलसे होता है। रागद्वेष आदि परिणाम भावबंध है इसीको जीवबंध कहते हैं। पुद्गलका पिंड वही द्रव्यबंध है। यह बंध पुद्गलकी स्निग्ध रूक्ष शक्तिसे होता है। भावबंधके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंका और द्रव्यकर्मोंका परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश होना सो उभयबंध है।

इन तीन प्रकार बंधोंमें रागादिरूप भाव बन्धको ही संसारका कारण जानकर इनकी अवस्थाको त्याग वीतराग साम्य अवस्थामें ही ठहरनेका यत्न करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥८८॥

उत्थानिका–आगे पूर्व सूत्रमें "जीवस्स रायमादीहिं" इस वचनसे जो रागपनेको भावबंध कहा था वही द्रव्यबंधका कारण है ऐसा विशेष करके समर्थन करते हैं–

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं तिट्ठंति य जंति वज्झंति ॥ ८९ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥ ८९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सपदेसो) असंख्यात प्रदेशवान् (सो) वह (अप्पा) आत्मा है (तेसु पदेसेसु) उन प्रदेशोंमें (पोग्गला काया) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंड (जहा जोग्गं) योगोंके अनुसार (पविसंति) प्रवेश करते हैं, (तिट्ठंति) ठहरते हैं, (य जंति) तथा उदय होकर जाते हैं (वज्झंति) तथा फिर भी बंधते हैं।

विशेषार्थ:—मन, वचन, कायवर्गणाके आलम्बनसे और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे जो आत्माके प्रदेशोंमें सकम्पपना होता है उसको योग कहते हैं। इस योगके अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकाय आश्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदयकालको पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटतारूप मोक्षसे प्रतिकूल बन्धके कारण रागादिकोंका निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूपसे बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया कि रागादि परिणाम ही द्रव्य-बंधका कारण है। अथवा इस गाथासे दूसरा अर्थ यह कर सक्ते हैं कि प्रविशन्ति शब्दसे प्रदेशबंध, तिष्ठन्तिसे स्थितिबंध, जंतिसे फल देकर जाते हुए अनुभागबंध और बध्यन्तेसे प्रकृतिबंध ऐसे चार प्रकार बंधको समझना।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने कर्मोंके बंधकी व्यवस्था बताई है कि योगके अधिक या अल्प प्रमाणके अनुसार अधि-

अल्प कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल आत्माके सर्व प्रदेशोंमें प्रवेश होकर बंध जाते हैं वे अपनी स्थिति तक ठहरते हैं उनमें स्थिति पर्यंत कालतक बंटवारा होजाता है और उस बंटवारेके अनुसार कर्मवर्गणाएं अपने २ समय पर उदय होकर या फल प्रगटकर झड़ती जाती हैं। वे वर्गणाएं फिर भी रागादि भावका निमित्त पाकर बंध जाती हैं। इस संसारमें अनादिकालसे कर्मबंध होनेकी यही व्यवस्था चली आरही है। सदा ही इस आत्माके प्रदेशोंका सकम्परूप योग और कषायका उदय पाया जाता है। रागद्वेषसे रंजित योग अथवा लेश्याके द्वारा यह जीव हर समय नई कर्मवर्गणाओंको अपने प्रदेशोंमें प्रवेश कराता रहता है और बांधता रहता है। पूर्वबद्धकर्म अपना समय पाकर फल देकर झडते रहते हैं। इस तरह बंधना खुलना वरावर जारी रहता है। मूल कारण रागद्वेषादि भावबंध है। अतएव इसको जिस तरह हो सके दूर करना चाहिये ॥८९॥

इस तरह तीन तरह बंधके कथनकी मुख्यतासे दो सूत्रोंसे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे फिर भी प्रगट करते हैं कि निश्चयसे रागादि विकल्प ही द्रव्यबंधका कारणरूप होनेसे भावबंध है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ ९० ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभिः रागरहितात्मा ।
एष बन्धसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥ ९० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(रत्तो) रागी जीव ही (कम्मं बंधदि) कर्मोंको बांधता है न कि वैराग्यवान तथा (रागरहिदप्पा)

वैराग्य सहित आत्मा (कम्मेहिं मुचदि) कर्मोंसे छूटता ही है-वह वैरागी शुभ अशुभ कर्मोंसे बंधता नहीं है (एसो बंधसमासो) यह प्रगटबंध तत्त्वका संक्षेप (जीवाणं) संसारी जीव सम्बन्धी हे शिष्य ! (णिच्छयदो जाण) निश्चय नयसे जानो।

विशेषार्थ-इस तरह राग परिणामको ही बंधका कारण जान करके सर्व रागादि विकल्प जालोंका त्याग करके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी निज आत्मतत्वमें निरन्तर भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें बहुत ही सरलतासे आचार्यने बता दिया है कि जो जीव रागद्वेषसे पूर्ण हैं वे अवश्य कर्मोंसे बंधते हैं तथा जो रत्नत्रयके प्रभावसे वीतरागताको धारते हैं वे नए कर्मोंको न बांधकर पुराने कर्मोंसे छूटते हैं। इससे यह बताया गया कि रागद्वेष संसारके कारण हैं व वीतरागभाव मोक्षका कारण है।

इसलिये मुमुक्षु जीवको निरन्तर रागादि भावोंके रङ्गको हटानेके लिये निजात्माकी विभूतिको ही अपनी समझ उसीमें तन्मय हो वीतराग भावकी निरंतर भावना करनी चाहिये।

श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें भी ऐसा ही कहा है-

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ-ममतावाला जीव कर्मोंसे बंधता है जब कि ममता रहित जीव मुक्त होता है इसलिये सर्व तरह उद्यम करके निर्ममत्व भावका चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका-आगे द्रव्यबंधका साधक जो जीवका रागादिरूप औपाधिक परिणाम है उसके भेदको दिखाते हैं:-

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥९१॥

परिणामाद्वन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषो शुभो वा शुभो भवति रागः ॥ ९१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(परिणामादो) परिणामोंसे (बंधो) बंध होता है । (परिणामो) परिणाम (रागदोसमोहजुदो) रागद्वेष मोह युक्त होता है (मोहपदोसो) मोह और द्वेष भाव (असुहो) अशुभ परिणाम है । (रागो) रागभाव (सुहो) शुभ (व असुहो) व अशुभ रूप (हवदि) होता है ।

विशेषार्थ-वीतराग परमात्माके परिणामसे विलक्षण परिणाम रागद्वेष मोहकी उपाधिसे तीन प्रकारका होता है । इनमेंसे मोह और द्वेष दोनो तो अशुभ भाव ही हैं । राग शुभ तथा अशु-भके भेदसे दो प्रकारका होता है । पंचपरमेष्ठी आदिमें भक्तिरूप भाव परम राग कहा जाता है । जब कि विषय कपायोंमें उलझा हुआ भाव अशुभ राग होता है । यह तीन ही प्रकारका परिणाम सर्व प्रकारसे ही उपाधि सहित है इसलिये बंधका कारण है । ऐसा जानकर शुभ तथा अशुभ समस्तराग द्वेप भावके नाश करनेके लिये सर्व रागादिकी उपाधिसे रहित सहजानन्दमई एक लक्षणधारी सुखामृतस्वभावमई निज आत्मद्रव्यमें ही भावना करनी योग्य है । यह तात्पर्य है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट किया है कि बंधका कारण जीवका अशुद्ध भाव है जो मोहनीय कर्मके उदयकी,

उपाधिके निमित्तसे होता है। मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चरित्रमोहके भेदसे दो प्रकार है। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्या-श्रद्धानरूप मिथ्यारुचिमई भाव होता है जिससे यह जीव मोक्षकी रुचि न रखकर संसारकी रुचि रखता हुआ संसारके सुखोंमें व उनके कारणोंमें तथा उन सुखोंके सहकारी धर्माभासोंमें रुचि करता है। यह महा अशुभ भाव है। इसी भावसे जीव मिथ्यात्वकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोडी सागर बांधता है। चारित्र मोहके उदयसे रागद्वेषभाव होता है। क्रोध व मान कषाय तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके उदयजनित भावको द्वेष कहते हैं। यह द्वेष परिणामोंको संक्लेश या दुःखी व मलीन करनेवाला है इसलिये अशुभ भाव है। लोभ व माया कषाय तथा रति, हास्य, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इनके उदयसे होनेवाले भावको राग कहते हैं। यह रागभाव जो पांचो इन्द्रियोंके भोगनेमें व अभिमानादिकी पुष्टिके लिये होता है वह अशुभ राग है। जब कभी इन ही कषायोंकी मंदतासे श्री अरहंत सिद्ध आदि पांच परमेष्ठियोंमें भक्तिरूप पूजा, दान, परोपकार, जप तथा स्वाध्याय करनेकी आकांक्षारूप भाव होता है वह शुभ राग है। इनमेंसे शुभ राग तो पुण्यबंध करता है और परम्पराय मोक्षका कारण है जब कि अशुभ राग, मोह और द्वेष भाव तो मात्र पाप कर्मोंको बांधते हैं इससे सर्वथा त्यागने योग्य हैं। प्रयोजन यह है कि इन सर्व बंधके कारणभावोंको त्यागनेके लिये हमें नित्य शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। वास्तवमें परिणाम ही बंधका कारण है जैसा श्री आत्मानुशासनमें कहा है:—

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ २२ ॥

भावार्थः-आचार्योंने परिणामको ही पुण्य तथा पापका कारण कहा है इसलिये पापोंका नाश और पुण्यका संग्रह करना योग्य है। यह प्रथम अवस्थाका उपदेश है। वीतराग भाव अबंधका करता है वही उपादेय है, यह तात्पर्य है ॥ ९१ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि द्रव्यरूप पुण्य पाप बन्धका कारण होनेसे शुभ अशुभ परिणामोंको पुण्य पापकी संज्ञा है तथा शुभ अशुभसे रहित शुद्धोपयोगमई परिणाम मोक्षका कारण है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामोणण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥ ९२ ॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये ॥ ९२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अण्णेसु) अपने आत्मासे अन्य द्रव्योंमें (सुहपरिणामो) शुभ रागरूप भाव (पुण्णं) द्रव्य पुन्यबन्धका कारण होनेसे भाव पुण्य है (असुहो) व अशुभ रागरूप भाव (पावत्ति भणियम्) द्रव्य पाप बन्धका कारण होनेसे भाव पाप कहा जाता है तथा (अणण्णगदो परिणामो) अन्य द्रव्यमें नहीं रमता हुआ शुद्ध भाव (दुक्खक्खयकारणं) संसारके दुःखोंके क्षयका कारण भाव है ऐसा (समये) परमागममें कहा है ।

विशेषार्थ-अपने शुद्धात्मासे भिन्न सर्व शुभ व अशुभ द्रव्य हैं। इन द्रव्योंके सम्बन्धमें रहता हुआ जो शुभभाव है वह पुण्य है और जो अशुभभाव है वह पाप है तथा शुद्धोपयोग-

रूप भाव मोक्षका कारण होनेसे शुद्ध भाव हैं ऐसा परमागममें कहा है अथवा ये भाव यथासंभव लब्धिकालमें होते हैं। विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे अर्थात् कमती कमती अशुभ परिणाम होता है ऐसा पहले कहा जा चुका है। अविरत सम्यक्त, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभ परिणाम कहा गया है। तथा अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय नाम बारहवें गुणस्थानतक तारतम्यसे शुद्धोपयोग ही कहा गया है। यदि नयकी अपेक्षासे विचार करें तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे क्षीणकषाय तकके गुणस्थानोंमें अशुद्ध निश्चय नय ही होता है। इस अशुद्ध निश्चय नयके विषयमें शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ऐसी पूर्वपक्ष शिष्यने की। उसका उत्तर देते हैं कि वस्तुके एक देशकी परीक्षा जिससे हो वह नयका लक्षण है। तथा शुभ अशुभ व शुद्ध द्रव्यके आलम्बनरूप भावको शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह उपयोगका लक्षण है। इस कारणसे अशुद्ध निश्चयनयके मध्यमें भी शुद्धात्माका आलम्बन होनेसे व शुद्ध ध्येय होनेसे व शुद्धका साधक होनेसे शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है। इस तरह नयका लक्षण और उपयोगका लक्षण यथासंभव सर्व जगह जानने योग्य है। यहां जो कोई रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित समाधि लक्षणमई शुद्धोपयोगको मुक्तिका कारण कहा गया है सो शुद्धात्मा द्रव्य लक्षण जो ध्येयरूप शुद्ध पारिणामिक भाव है उससे अभेद प्रधान द्रव्यार्थिक नयसे अभिन्न होनेपर भी भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयसे भिन्न है। इसका कारण यह है कि यह जो समाधिलक्षण शुद्धोपयोग है वह

देश आवरण रहित होनेसे क्षायोपशमिक खंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है तथा वह शुद्धात्मारूप शुद्ध पारिणामिक भाव सर्व आवरणसे रहित होनेके कारणसे अखंड ज्ञानकी व्यक्तिरूप है। यह समाधिरूप भाव आदि व अन्त सहित होनेसे नाशवान है वह शुद्ध पारिणामिक भाव अनादि व अनत होनेसे अविनाशी है। यदि इन दोनों भावोंमें एकांतसे अभेद हो तो जैसे घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीके पिंडका नाश होना माना जावे वैसे ध्यान पर्यायके नाश होनेपर व मोक्ष अवस्थाके उत्पन्न होनेपर ध्येयरूप पारिणामिकका भी विनाश होजायगा सो ऐसा नहीं होता। मिट्टीके पिंडसे जैसे घट अवस्थाकी अपेक्षा भेद है मिट्टीकी अपेक्षा अभेद है वैसे ध्यान पर्यायसे ध्येय भावका अवस्थाकी अपेक्षा भेद है जब कि आत्म द्रव्यकी अपेक्षा अभेद है। इसीसे ही जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यान भावनारूप नहीं है क्योंकि ध्यान नाशवंत है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि जो भाव अपने आत्माकी ही तरफ सन्मुख है–न किसी परवस्तुसे राग करता है न द्वेष करता है, वह शुद्धोपयोग भाव व आत्मामें एकाग्र रमनरूप भाव सर्व संसारके दुःखोंके क्षयका कारण उपादेयभूत है तथा पंचपरमेष्ठीमें भक्तिरूप व परोपकार आदिरूप परमें झुका हुआ उनके गुणोंमें विनयरूप भाव शुभ उपयोग है, जो साता वेदनीय आदि पुण्य कर्मोको बांधता है। तथा विषय कषायोंके रागमें लीन भाव अशुभ उपयोग है जो असाता वेदनीय आदि पाप कर्मोंको बांधता है। निश्चय नयसे शुद्धोपयोग केवलज्ञानीके ही होता

है क्योंकि वहां निरावरण ज्ञान होगया है। अशुद्ध निश्चयनयसे अप्रमत्तसे क्षीणकषायतक होता है। क्योंकि यहां यद्यपि शुद्धात्मा ध्येय है तथापि ज्ञान निर्मल नहीं है, सावरण है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होनेके लिये हमको निर्विकल्प समाधि लक्षण शुद्धोपयोगमई भावका उपाय करना चाहिये। इसी कारणसे बाह्य पदार्थका मोह त्यागकर देना चाहिये। जैसा स्वामी अमितिगतिने बड़े सामायिक पाठमें कहा है—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथं ॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटाः शुष्यंति किं पादपा ।
मृत्स्नातापनिपातरोधनपराः शाखोपशाखान्विताः ॥ ९६ ॥

भावार्थ—जबतक चित्तमें बाहरी पदार्थ सम्बन्धी स्नेह स्थिर है तबतक दुःखोंके देनेमें कुशल कर्मोंका प्रपंच कैसे नष्ट होसक्ता है? पृथ्वीतलके जल सहित होनेपर धूपके रोकनेवाले अनेक शाखाओंसे वेष्टित जटावाले वर्गतके वृक्ष कैसे सूख सक्ते हैं? इसलिये रागद्वेष भावोंका मिटाना ही हितकारी है ॥ ९२ ॥

इस तरह द्रव्य बंधका कारण होनेसे मिथ्यात्व रागादि विकल्परूप भाव बन्ध ही निश्चयसे बन्ध है ऐसे कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे इस जीवकी अपने आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्योंसे निवृत्तिके कारण छः प्रकार जीवकायोंसे भेदविज्ञान दिखलाते हैं:—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥६३॥

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः ।
अन्ये ते जीवाजीवोऽपि तेभ्योऽन्यः ॥ ९३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(पुढविप्पमुहा) पृथ्वीको आदि लेकर (जीवनिकाया) जीवोंके समूह (अध थावरा य तसा) अर्थात् पृथ्वी कायिक आदि पांच स्थावर और द्वेन्द्रियादि त्रस (भणिदा) जो परमागममें कहे गए हैं (ते जीवादो अण्णा) वे सब शुद्धबुद्ध एक जीवके स्वभावसे भिन्न हैं। (जीवो वि य तेहिंदो अण्णो) तथा यह जीव भी उनसे भिन्न है।

विशेषार्थ-टांकीमें उकेरेके समान ज्ञायक एक स्वभावरूप परमात्मतत्वकी भावनाको न पाकर इस जीवने जो त्रस या स्थावर नाम कर्म बांधा होता है उसके उदयसे उत्पन्न होनेके कारणसे तथा शरीर पुद्गलमई अचेतन होनेसे ये त्रस स्थावर जीवोंके समूह शुद्ध चैतन्य स्वभावधारी जीवसे भिन्न हैं। जीव भी उनसे विलक्षण होनेसे उनसे निश्चयसे भिन्न है। यहां यह प्रयोजन है कि इस तरह भेद विज्ञान हो जानेपर मोक्षार्थी जीव अपने निज आत्मद्रव्यमें प्रवृत्ति करता है और परद्रव्यसे अपनेको हटाता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने भेद विज्ञानका उपाय बताया है कि हमको शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने निज आत्माके स्वाभाविक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय शुद्ध स्वभावपर लक्ष्य देकर देखना चाहिये तब सर्व पुद्गलकृत जीवकी पर्यायें भिन्न मालूम पड़ेंगीं, कि ये अनेक प्रकार प्रकार त्रस स्थावररूपके धारी जीव

नाम कर्मके उदयके कारण भिन्न २ पुद्गलमई शरीरोंको रखनेसे भिन्न २ नाम पानेसे बोले जाते हैं। ये सब अवस्थाएं शुद्ध जीवसे भिन्न हैं। शुद्ध जीव इनसे भिन्न है। मैं निश्चयसे शुद्ध जीव हूं। मेरा इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वामी अमितिगतिने बड़े सामायिकपाठमें कहा है:—

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते,
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमिति ज्ञाने क्षणालंकृति।
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते—
र्बंधस्तस्य न यंत्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बंधनैः ॥ ११ ॥

भावार्थ—मैं आत्मा हूं, निश्चयसे सर्व कर्मसमूहसे रहित हूं, ज्ञानमई नेत्रसे शोभित हूं। मेरे इस स्वभावको छोड़कर मैं न किसीका हूं न कोई अन्य पदार्थ मेरा है। जिस महापुरुषके चित्तमें ऐसी बुद्धि वर्तती है वह सदा ज्ञाता दृष्टा आत्माके स्वभावमें ठहरता है तथा तीन भवनमें सांसारिक बंधनोंसे उस आत्माका बंध नहीं होता है।

वास्तवमें हमें निज स्वभावपर उपयोग रख शुद्ध स्वभावकी ही भावना करनी योग्य है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका:-आगे इसी ही भेदविज्ञानको अन्य तरहसे दृढ़ करते हैं—

जो ण विजाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदत्ति मोहादो ॥ ९४ ॥

यो न विजानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ ९४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जो) जो कोई (सहावम्) निज स्वभावको (आसेज्ज) पाकर (परं अप्पाणं एवं) परको और आत्माको इस तरह भिन्न २ (ण वि जाणदि) नहीं जानता है वही (मोहादो) मोहके निमित्तसे (अहं ममेदत्ति) मैं इस पर रूप हूं या यह पर मेरा है ऐसा (अज्झवसाणं कीरदि) अभिप्राय करता है ।

विशेषार्थ-जो कोई शुद्धोपयोग लक्षण निज स्वभावको आश्रय करके पूर्वमें कहे प्रमाण छः कायके जीव समूहादि परद्रव्योंको और निर्दोष परमात्मद्रव्यस्वरूप निज आत्माको भिन्न २ नहीं जानता है वह ममकार व अहंकार आदिसे रहित परमात्माकी भावनासे हटा हुआ मोहके आधीन होकर यह परिणाम किया करता है कि मैं रागादि परद्रव्यरूप हूं या यह शरीरादि मेरा है इससे यह सिद्ध हुआ कि इस तरहके स्वपरके भेद विज्ञानके बलसे ही स्वसंवेदन ज्ञानी जीव अपने आत्म द्रव्यमें प्रीति करता है और परद्रव्यसे निवृत्ति करता है।

भावार्थ-गाथामें भी आचार्यने भेदविज्ञानकी महिमा बताई है कि जो कोई निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको सर्व रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मसे भिन्न नहीं अनुभव करता है वही स्वसंवेदन ज्ञानसे रहित होकर मोहके कारण मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, मैं राजा हूं, मै रंक हूं, मै दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, मै विद्वान् हूं, मै मूर्ख हूं, इत्यादि विकल्प अथवा यह शरीर मेरा है, यह धन मेरा है, यह मकान मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह पुत्र मेरा है इत्यादि परिणाम किया करता है, परन्तु जो भेदविज्ञानी हैं वे निज आत्मामें ही अपनापना

मानकर उदासीन रहते हुए साम्यभावका आनन्द पाते हैं। स्वामी अमिगति सामायिकपाठमें कहते हैं—

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः, स्वकीयो न देहः सम यत्र याति।
कथं बाह्य भूतानि वित्तानि तत्र, प्रबुद्धेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥३४

भावार्थ–जहां नाना उपायोसे पाला हुआ यह अपना शरीर भी अपने साथ नहीं जाता है वहां अन्य बाहरी सम्पदा कैसे साथ जायगी ऐसा जानकर किसी भी पर पदार्थमें मोह न करना चाहिये ॥ ९४ ॥

इस तरह भेदभावनाके कथनकी मुख्यता करके दो सूत्रोंमें पांचमा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा अपने ही परिणामोंका कर्ता है, द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है–अशुद्ध निश्चयसे रागादि भावोंका व शुद्ध निश्चयसे शुद्ध वीतराग भावका कर्ता है:—

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ९५ ॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ ९५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(आदा) आत्मा (सभावं कुव्वं) अपने भावको करता हुआ (सगस्स भावस्स) अपने भावका (हि) ही (कत्ता हवदि) कर्त्ता होता है। (पोग्गलदव्वमयाणं सव्वभावाणं) पुद्गल द्रव्यसे बनी हुई सर्व अवस्थाओंका (ण दु कत्ता) तो कर्त्ता नहीं है।

विशेषार्थ–यहां स्वभाव शब्दसे यद्यपि शुद्ध निश्चयनयसे

शुद्धबुद्ध एक स्वभाव ही कहा जाता है तथापि कर्मबंधके प्रस्तावमें अशुद्ध निश्चयनयसे रागादि परिणामको भी स्वभाव कहते हैं। यह आत्मा इस तरह अपने भावको करता हुआ अपने ही चिद्रूप स्वभाव रूप रागादि परिणामका ही प्रगटपने कर्ता है और वह रागादि परिणाम निश्चयसे उसका भावकर्म कहाजाता है। जैसे गर्म लोहेमें उष्णता व्याप्त है वैसे आत्मा उन रागादि भावोमें व्याप्त होजाता है। तथा चैतन्यरूपसे विलक्षण पुद्गल द्रव्यमई सर्व भावोंका—ज्ञानावरणीय आदि कर्मकी पर्यायोंका तो यह आत्मा कभी भी कर्ता होता नहीं। इससे जाना जाता है कि रागादि अपना परिणाम ही कर्म है जिसका ही यह जीव कर्ता है।

भावार्थः—यहां आचार्यने यह बतलाया है कि यह आत्मा चैतन्यमई है इसलिये इसमें चेतनामई भाव ही सम्भव है—अचेतनमई भावोंका यह उपादान कर्ता नहीं होसक्ता। यह अपने चेतन भावोंका ही कर्ता है शुद्ध निश्चयनयसे यह शुद्ध वीतराग भावका कर्ता है जब कि अशुद्ध निश्चयनयसे यह अशुद्ध रागादि भावोंका कर्ता है जो भाव मोह कर्मके उदयके निमित्तसे हुए हैं। इन रागादि भावोंका निमित्त पाकर कर्मवर्गणाके पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणीय आदि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। इससे जीवको व्यवहारसे इनका कर्ता कह दिया जाता है, परन्तु वास्तवमें जीव तो अपने भावोंका ही कर्ता है। यहां यह बतलाया कि जैसे शरीर व द्रव्यकर्म आत्माके नहीं हैं वैसे यह आत्मा इन शरीरोंका कर्ता भी नहीं है। इस जीवको पुद्गलका अकर्ता अनुभव करके यह निश्-शुद्ध वीतरागभावोंमें ही परिणमन करे। रागादि परिणामोंमें

नहीं परिणमन करे ऐसा पुरुषार्थ करके साम्यभावमें रहना योग्य है । श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्तीने भी द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तापना इस तरह बताया है—

पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो ।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥

भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनयसे ज्ञानावरणीय आदि पौद्गलिक कर्मोंका कर्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चयसे रागादिभावोंका कर्ता है और शुद्ध निश्चयनयसे यह शुद्ध चेतनभावोंका कर्ता है । तात्पर्य यही है कि शुद्ध भावोंका ही होना जीवका हित है ॥ ९९ ॥

उत्थानिका—आगे इस प्रश्नके होनेपर कि आत्माके किस तरह द्रव्य कर्मका परिणमनरूपी कर्म नहीं होता है, आचार्य समाधान करते हैं —

गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ ६६ ॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीव पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥ ९६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(जीवो) यह जीव (पोग्गलमज्झे) पुद्गलोंके मध्यमें (सव्वकालेसु) सर्व कालोंमें (वट्टण्णवि) रहता हुआ भी (पोग्गलाणि कम्माणि) पुद्गलमई कर्मोंको (णेव गेण्हदि) न तो ग्रहण करता है (ण मुचदि) न छोडता है (ण हि करेदि) और न करता है ।

विशेषार्थ—यह जीव सर्व कालोंमें दूध पानीकी तरह पुद्गलके बीचमें वर्तमान है तो भी जैसे निर्विकल्प समाधिमें रत परम मुनि

परभावको न ग्रहण करते न छोड़ते न करते अथवा जैसे लोहेका गोला उपादान रूपसे अग्निको ग्रहण करता छोड़ता व करता नहीं है तैसे यह आत्मा उपादान रूपसे पुद्गलमई कर्मोको न तो ग्रहण करता है न छोडता है न करता है। इससे यह कहा गया कि जैसे सिद्ध भगवान पुद्गलके मध्यमें रहते हुए भी परद्रव्यके ग्रहण तजन व करनेके व्यापारसे रहित हैं तैसे ही शुद्ध निश्चयसे संसारी जीव भी ग्रहण त्यागादि नहीं करते हैं।

भावार्थ–हरएक पदार्थ उपादान रूपसे अपने ही स्वभावमें परिणमन कर सक्ता है परस्वभाव कभी नहीं हो सक्ता है। जैसे गेहूं स्वयं आटा, लोई, रोटीरूप परिणमन कर सक्ता है किन्तु चावलरूप नहीं हो सक्ता व सुवर्ण स्वयं सुवर्णके आभूषण या पात्रोंमें परिणमन करसक्ता है, लोहेके पात्रोंमें नहीं तैसे पुद्गल पुद्गलीक स्वभावमें व जीव जीवके स्वभावमें परिणमन करता है। पुद्गल कभी जीवकी दशामें व जीव कभी पुद्गलकी दशामें नहीं हो सक्ता।

यद्यपि जीव पुद्गल इस लोकमें एक ही क्षेत्रमें विराजमान हैं तौभी जीव अपने स्वभावमें परिणमता हुआ अपने ही परिणामको करता है, उसे ही ग्रहण करता है व पूर्व परिणामको त्यागता है, कभी पुद्गलीक स्वभावको करता नहीं, ग्रहता नहीं, छोडता नहीं, शुद्ध निश्चयनयसे जीव अपनी शुद्ध परिणतिको ही करता है, नवीनको जब ग्रहण करता है तब पुरानीको त्यागता है। अशुद्ध निश्चयनयसे संसारी जीव पौद्गलीक कर्मोंके निमित्तसे कभी राग परिणतिको करके उसे छोड़ द्वेष परिणतिको ग्रहण करता है। कभी रागद्वेष परिणतिको छोड़ वीतराग परिणतिको ग्रहण करता है।

जीवका ग्रहण त्याग अपने ही परिणामोंमें होता है। यह जीव न तो ज्ञानावरणादि कर्मोको ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न घट पट आदिको करता है। व्यवहारमें जीवको इन कर्मोका कर्ता भोक्ता व नाशकर्ता तो इस कारणसे कहते हैं कि इस जीवका भाव इन कर्मोके कर्मरूप होनेमें व कर्मदशा छोड़ पुद्गलपिंड होनेमें निमित्त कारण है व कुम्हारका भाव हस्तपग हिलानेमें व घटके बनानेमें निमित्त कारण है। व्यवहारमें जीवको पुद्गलकी परिणतिका व पुद्गलको जीवकी अशुद्ध परिणतिका निमित्तकारण कह सके हैं परन्तु उपादानकारण कभी नहीं कह सके। इस लिये वास्तवमें जीव अपनी परिणतिका ही ग्रहण त्याग करता है। भेद विज्ञानी पुरुषको शुद्ध निश्चयनयके द्वारा देखना चाहिये तब सर्व ही जीव व अपना जीव सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे पृथक् ही परम शुद्ध ज्ञानानंदमय अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावके कर्ता ही दीख पड़ेंगे। यही दृष्टि जैसे क्षीरनीरके मिश्रणमें क्षीरनीरको भिन्न देखती है वैसे जीव पुद्गलके मिश्रणमें जीवको जीव और पुद्गलको पुद्गल देखती है। श्री समयसारकलशमें स्वामी अमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो ।
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषं ॥
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो ।
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥ १४-३ ॥

भावार्थ—जैसे हंस दूध पानी मिले होनेपर भी दूध और पानीके भिन्न २ भेदको जानता है ऐसे ही ज्ञानी ज्ञानके द्वारा विवेक बुद्धिसे पुद्गल और आत्माको भिन्न २ जानता है। ऐसा

ज्ञानी निश्चल चैतन्यमई स्वभावमें सदा अरूढ़ रहता हुआ जानता मात्र ही है किसी भी पुद्गलीक भावको करता नहीं है। ऐसा जान हमको अपने साम्यभावमें रहकर वीतरागभावका आनन्द भोगना चाहिए ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—आगे शिष्यने प्रश्न किया कि जब यह आत्मा पुद्गलीक कर्मको नही करता है न छोड़ता है तब इसके बन्ध कैसे होता है तथा मोक्ष भी कैसे होता है ? इसके समाधानमें आचार्य उत्तर देते हैं—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ ९७ ॥

स इदानीं कर्त्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य ।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(इदाणिं) अब इस संसार अवस्थामें अशुद्धनयसे (स) वह आत्मा (दव्वजादस्स सगपरिणामस्स) अपने ही आत्मद्रव्यसे उत्पन्न अपने ही परिणामका (कत्ता सं) कर्ता होता हुआ (कदाई) कभी तो (कम्मधूलीहिं) कर्मरूपी धूलसे (आदीयदे) बंध जाता है व कभी (विमुच्चदे) छूट जाता है।

विशेषार्थ—वह पूर्वोक्त संसारी आत्मा अब वर्तमानमें इसतरह पूर्वोक्त नय विभागसे अर्थात् अशुद्धनयसे निर्विकार नित्यानन्दमई एक लक्षणरूप परमसुखामृतकी प्रगटतामई कार्य समयसारको साधनेवाले निश्चयरत्नत्रयमई कारण समयसारसे विलक्षण मिथ्यात्व व रागादि विभावरूप अपने ही आत्मद्रव्यसे उत्पन्न अपने परिणामका कर्त्ता होता हुआ पूर्वोक्त विभाव परिणामके समयमें कर्मरूपी

धूलसे बंध जाता है। और जब कभी पूर्वोक्त कारणं समयसारकी परिणतिमें परिणमन करता है तब उन्हीं कर्मकी रजोंसे विशेष करके छूटता है। इससे यह कहा गया कि यह जीव अशुद्ध परिणामोंसे बंधता है तथा शुद्ध परिणामोंसे मुक्त होता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने संसार तथा मोक्ष अवस्था जीवके किस तरह होती है इस बातको स्पष्ट किया है कि यह आत्मा जो अपने ही भावोंका उपादानकर्ता है संसारमें अनादिकालसे कर्मोंके साथ बंधा हुआ है। उस बन्धके कारण मोहके उदयसे जब इसके आप ही मिथ्यादर्शन व रागद्वेषरूप विभावभाव होते हैं तब इस जीवके न चाहते हुए भी न उनको प्रेरणा करके ग्रहण करते हुए भी स्वभावसे ही वे लोकमें भरी कर्मवर्गणारूपी धूलें आकर जीवके प्रदेशोंमें तिष्ठ जाती हैं ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे तैलसे चुपड़ा हुआ शरीर जहां होता है वहां न चाहते हुए भी मिट्टी शरीरपर चिपक जाती है वैसे ही जब यह आत्मा वीतरागभावमें परिणमन करता है तब भी स्वभावसे ही वह कर्मरज आप ही विशेषपने आत्मासे छूट जाती है। जैसे जब तेल शरीरमें प्रवेश कर जाता है–ऊपर चिकनई नहीं रहती है तब धूल स्वयं शरीरसे गिर जाता है। जगतमें कर्मबंधका और आत्माके अशुद्ध भावका ऐसा ही कोई विलक्षण संबंध है। यदि विचार करके देखोगे तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा सिवाय अपने ही भावोंके और कुछ नहीं करता है। अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही बन्ध जाते हैं तथा शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही छूट जाते हैं। इस निमित्त

नैमित्तिक क्रियाके कारण जीवको भी व्यवहारमें बन्धकर्ता और मोक्षकर्ता कहदेते हैं। वास्तवमें जीव अपने भावोंका ही कर्ता है। जैसे सूर्य अपने उदासीन भावसे उदय होता है तथा अस्त होता है, परन्तु उसके उदयका निमित्त पाकर कमल स्वयं फूल जाते हैं व चकवा चकवी स्वयं मिल जाते हैं व उसके अस्तका निमित्त पाकर कमल स्वयं बन्द हो जाते हैं व चकवा चकवी स्वयं विछुड़ जाते हैं। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। श्री अमृतचन्द्राचार्यने श्री समयसारकलशमें कहा है—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा—
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥१०॥

भावार्थ—ज्ञानी जीव कर्मोंको न तो करता है न उनका फल भोक्ता है परन्तु वह उदासीन रहता हुआ केवल मात्र उन कर्मोंके स्वभावको जानता रहता है। इसलिये कर्ता व भोक्तापनेसे रहित होता हुआ व मात्र परको जानता हुआ अपने शुद्धस्वभावमें निश्चल रहता हुआ मुक्तरूप ही रहता है। तात्पर्य यह है कि बंध व मोक्षको नैमित्तिक समझकर हमें इनसे उदासीन होकर अपने शुद्ध ज्ञानानंदमई स्वभावमें ही तन्मय रहना योग्य है ॥ ९७ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे द्रव्यकर्म निश्चयसे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं वैसे वे स्वयं ही ज्ञानावरणादि विचित्ररूपसे परिणमन करते हैं—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ ९८ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ ९८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(जदा) जब (रागदोसजुदो) राग द्वेष सहित (अप्पा) आत्मा (सुहम्मि असुहम्मि) शुभ या अशुभ भावमें (परिणमदि) परिणमन करता है तब (कम्मरयं) कर्मरूपी रज स्वयं (णाणावरणादिभावेहिं) ज्ञानावरणादिकी पर्यायोंसे (पविसदि) जीवमें प्रवेश कर जाती है।

विशेषार्थ-जब यह राग द्वेषमें परिणमता हुआ आत्मा सर्व शुभ तथा अशुभ द्रव्यमें परम उपेक्षाके लक्षणरूप शुद्धोपयोग परिणामको छोड़कर शुभ परिणाममें या अशुभ परिणाममें परिणमन कर जाता है उसी समयमें जैसे भूमिके पुद्गल मेघजलके संयोगको पाकर आप ही हरी घास आदि अवस्थामें परिणमन कर जाते हैं इसी तरह कर्मपुद्गलरूपीरज नानाभेदको धरनेवाले ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी पर्यायोंमें स्वयं परिणमन कर जाते हैं। इससे जाना जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति उन्हींके द्वारा होती है तथा उनमें मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी विचित्रता भी उन्हींकृत है, जीवकृत नहीं है ॥ ९८ ॥

भावार्थ-रागी द्वेषी आत्मा कभी शुभोपयोग कभी अशुभोपयोग भावोंको करता है, तब ही उस आत्माके विना चाही हुई भी पुद्गलकर्मवर्गणाएं आत्माके प्रदेशोंमें प्रवेशकर आत्माके भावोंके निमित्तसे स्वयं अनेक प्रकार मूल या उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन कर जाती हैं। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अभिप्राय यह है कि आत्मा न उनको ग्रहण करता है और न पाप या पुण्यरूप परिणमाता है ॥ ९८ ॥

उत्थानिका–आगे पूर्वमें कही हुई ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंका जघन्य उत्कृष्ट अनुभागका स्वरूप बताते हैं–

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ॥ ६६ ॥

शुभप्रकृतीना विशुद्धया तीव्रो अशुभानां संक्लेशे ।
विपरीतस्तु जघन्यो अनुभागो सर्वप्रकृतीनां ॥ ९९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(सुहपयडीण) शुभ प्रकृतियोंका (अणुभागो) अनुभाग (विसोही) विशुद्धभावसे (असुहाण) अशुभ प्रकृतियोंका (संकिलेसम्मि) संक्लेश भावसे (तिव्वो) तीव्र होता है, (विवरीदो दु) परन्तु इसके विपरीत होनेपर (सव्वपयडीणं) सर्व प्रकृतियोंका (जहण्णो) जघन्य होता है।

विशेषार्थ–फल देनेकी शक्ति विशेषको अनुभाग कहते हैं। तीव्र धर्मानुरागरूप विशुद्धभावसे सातावेदनीय आदि शुभ कर्म प्रकृतियोंका अनुभाग परम अमृतके समान उत्कृष्ट पड़ता है तथा मिथ्यात्त्व आदिरूप संक्लेश भावसे असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग हालाहल विषके समान तीव्र पड़ता है। तथा जघन्य विशुद्धिसे व मध्यम विशुद्धिसे शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग जघन्य या मध्यम पड़ता है अर्थात् गुड़, खांड़, शर्करारूप पड़ता है। वैसे ही जघन्य या मध्यम संक्लेशसे अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग नीम, कांजीर विषरूप जघन्य या मध्यम पड़ता है। इस तरह मूल उत्तर प्रकृतियोंसे रहित निज परमानंदमई एक स्वभावरूप तथा सर्व प्रकार उपादेय भूत परमात्मद्रव्यसे भिन्न और त्यागने

योग्य सर्व मूल और उत्तर प्रकृतियोंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अनुभागको अर्थात् कर्मकी शक्तिके विशेषको जानना चाहिये।

भावार्थ–घातिया कर्म सर्व पाप प्रकृतियें हैं इनका अनुभाग चार तरहका है लतारूप कोमल, काष्ठरूप कुछ कठोर, अस्थिरूप कठोर तथा पाषाणरूप महाकठोर। इनका बंध शुभ या अशुभ दोनों प्रकारके भावोंमेंसे होता है। जब शुभोपयोगरूप विशुद्ध भाव होते हैं तब इनका अनुभाग कोमल पड़ता है और जब अशुभोपयोगरूप संक्लेशभाव होते हैं तब इनका यथायोग्य कठोर पड़ता है। साता वेदनीय, शुभ नाम, शुभ आयु या उच्च गोत्र पुण्य प्रकृतियें हैं। इनका अनुभाग जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट गुड, खांड, शर्करा तथा अमृतके समान जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट जातिके धर्मानुरागरूप विशुद्ध परिणामोंके अनुसार पड़ेगा। असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु तथा नीच गोत्र पाप प्रकृतियें हैं। इनका अनुभाग जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट नीम, कांजीर, विष, हालाहलके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट हिंसादिरूप संक्लेश परिणामोंके अनुसार पड़ता है। इस तरह कम या अधिक फलदान शक्ति भी कर्मवर्गणाओंमें स्वयं जीवके भावोंका निमित्त पाकर परिणमन कर जाती है। ज्ञानी पुरुषको उचित है कि इन कर्मोंको व इनके तीव्र या मंद सुख दुःखरूप फलको अपने शुद्धोपयोग भावसे भिन्न अनुभव करे और साम्यभावमें तिष्ठे जिससे नवीन कर्मोंका बंध न हो ॥ ९९ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि अभेदनयसे बंधके कारणभूत रागादिभावोंमें परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंधके नामसे कहा जाता है।

सपदेसो सो अप्पा कसायदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधोत्ति परूविदो समये ॥ १०० ॥

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः ।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपतः समये ॥ १०० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(सपदेसो सो अप्पा) प्रदेशवान वह आत्मा (मोह रागदोसेहिं कसायदो) मोह राग द्वेषोंसे कषायला होता हुआ (कम्मरजेहिं) कर्मरूपी धूलसे (सिलिट्ठो) लिपटा हुआ (बंधोत्ति) बंधरूप है ऐसा (समये परूविदो) आगममें कहा है।

विशेषार्थ—लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंको अखंड रूपसे रखनेवाला यह आत्मा मोह रहित अपने शुद्ध आत्म तत्त्वकी भावनाको रोकनेवाले मोह राग द्वेष भावोंसे रंगा हुआ कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलरूपी धूलसे बंधा हुआ अभेदनयसे आगममें बंधरूप कहा गया है। यहां यह अभिप्राय है कि जैसे वस्त्र लोध, फिटकरी आदि द्रव्योंसे कषायला होकर मंजीठ आदि रंगसे रंगा जाता हुआ अभेदनयसे लाल वस्त्र कहलाता है वैसे वस्त्रके स्थानमें यह आत्मा लोधादि द्रव्यके स्थानमें मोह रागद्वेषोंसे परिणमन करके मंजीठके स्थानमें कर्मपुद्गलोंसे बंधा हुआ वास्तवमें कर्मसे भिन्न है तो भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहारनयसे बंधरूप कहा जाता है, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनयका विषय अशुद्ध द्रव्यके वर्णन करनेका है।

भावार्थ -इस गाथामें आचार्यने इस बातको स्पष्ट किया है कि वास्तवमें बंध तो पुद्गलकर्मका पुद्गलकर्मके साथ होता है परन्तु आत्माके सर्वप्रदेश पुद्गल कर्मोंसे छा जाते हैं इसलिए व्यवहारनयसे

आत्माको बंधरूप कहते हैं। जैसे वस्त्रको लाल कहना व्यवहार है वैसे आत्माको बंधा हुआ कहना व्यवहार है। जैसे वस्त्रमें लोध फिटकरीके द्वारा कषायित होनेपर मंजीठका रंग चढ़ता है वैसे आत्मामें उसके रागद्वेष मोह भावोंके निमित्तसे कर्मपुद्गलोंका प्रवेश होकर बंध होता है। प्रयोजन यह है कि यह बंध ही संसारभ्रमणका कारण है ऐसा जानकर इस बंधके कारण रागद्वेष मोह भावोंका निवारण करना चाहिये जिससे यह जीव अबंध और मुक्त होजावे। श्री समयसारकलशमें स्वामी अमृतचंद्रजी कहते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २७ ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ये रागद्वेषकी उत्पत्ति आत्मामें होती है इसमें दूसरोंका कोई दोष नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही अपराधी होता है तब इसके अज्ञान वर्तन करता है। यह बात विदित हो कि अज्ञानका नाश हो और सम्यग्ज्ञानका लाभ हो। अर्थात् यह आत्मा निज स्वरूपके श्रद्धान ज्ञानचारित्रको न पाकर रागद्वेष मोहमें वर्तता है, यही इसका अपराध है अतएव इस आत्माको उचित है कि श्री गुरुके सम्यक उपदेशको हृदयमें धारणकरके सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वीतराग विज्ञानभावमें रमण करे ॥ १०० ॥

उत्थानिका:—आगे निश्चय और व्यवहारका अविरोध दिखाते हैं—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहि जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ १०१

एष बंधसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः ।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥ १०१ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(अरहंतेहिं) अरहंतोंके द्वारा (जदीणं) यतियोंको (जीवाणं) जीवोंका (एसो बंधसमासो) यह रागादि परिणतिरूप बंधका संक्षेप (णिच्छएण णिद्दिट्ठो) निश्चयनयसे कहा गया है। (ववहारो) व्यवहारनयसे (अण्णहा) इससे अन्य-जीव पुद्गलका बंध (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ—निर्दोष परमात्मा अरहंत हैं, उन्होंने जितेन्द्रिय तथा आत्मस्वरूपमें यत्नकरनेवाले गणधरदेव आदि यतियोंको निश्चयनयसे जीवोंके रागादि परिणामको ही संक्षेपमें बंध कहा है। तथा निश्चयनयकी अपेक्षा व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मके बंधको बंध कहा है। निश्चयनयका यही मत है कि यह आत्मा रागादिभावोंका ही कर्ता और उनहीका भोक्ता है। द्रव्यकर्म बन्धको कहनेवाले असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनयके भी दो भेद हैं। जो शुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह शुद्ध निश्चयनय है तथा जो अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करे वह अशुद्ध निश्चयनय है। आत्मा द्रव्य कर्मोंको करता है तथा भोगता है यह अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। इस तरह दोनों नयोंसे बंधका स्वरूप है। यहां निश्चयनय उपादेय है और असद्भूत व्यवहार हेय है। यहां शिष्य प्रश्न करता है कि आपने निश्चयनयसे कहा है कि यह आत्मा रागादि भावोंको कर्ता व भोक्ता है सो यह किसतरह उपादेय होसक्ता है ? इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि जब यह जीव इस बातको जानेगा कि रागादि भावोंको ही

आत्मा करता है द्रव्यकर्मोंको नहीं करता है तथा ये रागादि भाव ही बंधके कारण हैं, तब यह रागादि विकल्पजालको त्यागकर रागादिके विनाशके लिये अपने शुद्ध आत्माकी भावना करेगा। इस भावनासे ही रागादि भावोंका नाश होगा। रागादिके विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध होगा। इसलिये परम्परायसे शुद्धात्माका साधक होनेसे इस अशुद्ध नयको भी उपचारसे शुद्ध नय कहते हैं यह वास्तवमें निश्चयनय नहीं कही गई है तैसे ही उपचारसे इस अशुद्ध नयको उपादेय कहा है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें निश्चय और व्यवहार बंधको अपेक्षाके भेदसे वर्णन करके दोनोंके कथनका अविरोध दिखलाया है। निश्चय नय स्वाश्रित है–एक ही पदार्थको दूसरेके आश्रयसे बयान करती है। जब कि व्यवहारनय पराश्रित है–एक पदार्थको दूसरेके आश्रयसे बयान करती है। अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिभावसे रंजित आत्मा ही बंध स्वरूप है क्योंकि यही रागादिभाव जीवके अपने ही औपाधिक भाव हैं और ये ही कर्मोंके बांधनेमें कारण हैं। कर्मवर्गणाओंका और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर बन्ध होना व्यवहारनयसे बंध है। रागादिरूप होनेसे मेरी ही वीतरागता नष्ट होती है ऐसा समझकर भेदविज्ञानी जीवको उचित है कि वह इनरूप परिणमन न करके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें परिणमन करे जिससे आत्मा कर्मबंधसे छूटकर मुक्त हो जावे।

श्री अमृतचंद्र स्वामी समयसारकलशमें कहते हैं–

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥ १० ॥

भावार्थ–यह आत्मा अपने स्वभावमें पूर्ण एक अविनाशी शुद्ध ज्ञानकी महिमाको रखनेवाला है । इसलिये यह ज्ञाता ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे उसीतरह किसी प्रकार भी विकारको प्राप्त नहीं होता जिस तरह दीपकका प्रकाश प्रकाशने योग्य पदार्थोंके निमित्तसे विकारी नहीं होता । खेद है कि अज्ञानी लोग ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे रहित निर्बुद्धि होकर क्यों रागद्वेषमयी होते हैं और अपनी स्वाभाविक उदासीनताको छोड़ बैठते हैं । प्रयोजन यह है कि स्वाभाविक समतामें तिष्ठना ही हितकारी है ॥ १०१ ॥

इसतरह आत्मा अपने परिणामोंका ही कर्ता है । द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है । इस कथनकी मुख्यतासे सात गाथाओंमें छठा स्थल पूर्ण हुआ । इस तरह " अरसमरूवं " इत्यादि तीन गाथाओंसे पूर्वमें शुद्धात्माका व्याख्यान करके शिष्यके इस प्रश्नके होनेपर कि 'अमूर्त आत्माका मूर्तीक कर्मके साथ किस तरह बंध होसक्ता है' इसके समाधानको करते हुए नय विभागसे बंध समर्थनकी मुख्यतासे उन्नीश गाथाओंके द्वारा छः स्थलोंसे तीसरा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

इसके आगे बारहगाथातक चार स्थलोंसे शुद्धात्मानुभूति लक्षण विशेष भेदभावनारूप चूलिकाका व्याख्यान करते हैं । तहां शुद्धात्माकी भावनाकी प्रधानता करके "ण जहदि जो दु ममत्तिं" इत्यादि पाठक्रमसे पहले स्थलमें गाथाएं चार हैं । फिर शुद्धा-

त्माकी प्राप्तिकी भावनाके फलसे दर्शनमोहकी गांठ नष्ट होजाती है तैसे ही चारित्रमोहकी गांठ नष्ट होती है व क्रमसे दोनोंका नाश होता है ऐसे कथनकी मुख्यतासे 'जो एवं जाणित्ता' इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथाएं तीन हैं। फिर केवलीके ध्यानका उपचार है ऐसा कहते हुए " णिहदघणघाइकम्मा " इत्यादि तीसरे स्थलमें गाथाएं दो हैं। फिर दर्शनाधिकारके संकोचकी प्रधानतासे " एवं जिणा जिणिंदा " इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाएं दो हैं। पश्चात् " दंसण-संसुद्धाणं " इत्यादि नमस्कार गाथा है। इसतरह बारह गाथाओंसे चार स्थलोंमें विशेष अन्तराधिकारमें समुदाय पातनिका है।

उत्थानिका–आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है ऐसा उपदेश करते हैं–

ण जहदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदंत्ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्गं ॥ १०२ ॥

न जहाति यस्तु ममतामहं ,ममेदमिति देहद्रविणेषु ।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥ १०२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जो दु) जो कोई (देहदविणेसु) शरीर तथा धनादिमें (अहं ममेदंत्ति) मैं उन रूप हूं व वे मेरे हैं ऐसे (ममत्तिं) ममत्वको (ण जहदि) नहीं छोड़ता है। (सो) वह (सामण्णं) मुनिपना (चत्ता) छोड़कर (उम्मग्गं पडिवण्णो होइ) उन्मार्गको प्राप्त होजाता है।

विशेषार्थ–जो कोई ममकार अहंकार आदि सर्व विभावोंसे रहित सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप निज आत्मपदार्थका निश्चल अनुभवरूप निश्चयनयके विषयसे रहित

होताहुआ व्यवहारमें मोहितचित्त होकर शरीर तथा परद्रव्योंमें मैं शरीररूप हूं तथा यह धन आदि परद्रव्य मेरा है ऐसे ममत्त्व-भावको नहीं छोडता है वह पुरुष जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा आदिमें परम समताभावरूप यति-पनेके चारित्रको दूरसे ही छोड़कर उस चारित्रसे उल्टे मिथ्यामा र्गमें लग जाता है। मिथ्याचारित्रसे संसारमें भ्रमण करता है। इससे सिद्ध हुआ कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्माका लाभ होता है।

भावार्थ—अशुद्ध नय अशुद्ध पदार्थको ग्रहण करने वाली है। जो कोई पुरुष शुद्ध निश्चयनयको न पाकर अशुद्धनयसे वर्तन करता है अर्थात् शरीरमें अहंबुद्धि करके यह मानता है मैं पुरुष हूं, स्त्री हूं, नपुंमक हूं, गोरा हूं, काला हूं, ब्राह्मण हूं, क्षत्री हूं, वैश्य हूं, शूद्र हूं, राजा हूं, सेठ हूं, दीन हूं, दलिद्री हूं इत्यादि तथा ममकार भावसे ऐसी मान्यता करता है कि यह मेरा धन है, गृह है, स्त्री है, पुत्र है, देश है, सेना है, इत्यादि। वह राग, द्वेष, मोहसे लिप्त हो-कर यदि मुनिपदमें भी है तौभी भाव मुनिपदसे भ्रष्ट होकर मिथ्यादृष्टी होता हुआ पाप बांध संसारमें ही भ्रमण करता है। जो जैसा माने तैसा फल पावे यह नियम है। मैं अशुद्ध हूं या अशुद्ध भावमें ही वर्तन करता हूं ऐसा श्रद्धान ज्ञानचारित्र रखता हुआ निरन्तर अशुद्ध ही होता हुआ अपने आत्माको अशुद्ध ही पाता रहेगा-उसको कभी भी शुद्धात्माका लाभ नहीं होगा। श्री तत्वसारमें श्री देवसेनाचार्य कहते हैं—

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥

भावार्थ–जबतक चित्त शरीरादि परद्रव्यमें बावला हो रहा है तबतक भारी तपको भी करता हुआ भव्यजीव मोक्ष नहीं पा सक्ता, परन्तु शुद्धभावोंमें वर्तनकरनेसे शीघ्र ही मोक्षको पासक्ता है। इसलिये ममकार अहंकार आदि भावोंको त्यागकर शुद्ध वीतराग साम्यभावमें वर्तना कार्यकारी है ॥ १०२ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि शुद्धनयसे शुद्धात्माका लाभ होता है:—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेको ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १०३ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे संति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्यानेन स आत्मानं भवति ध्याता ॥ १०३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(अहं परेसिं न होमि) मैं दूसरोंका नहीं हूं (परे मे ण सन्ति) दूसरे पदार्थ मेरे नहीं हैं (अहं एक्को णाणं) मैं अकेला ज्ञानमई हूं (इदि) ऐसा (जो झाणे झायदि) जो ध्यानमें ध्याता है (सो अप्पाणं झादा हवदि) वह आत्माको ध्यानेवाला होता है।

विशेषार्थः–सर्व ही चेतन अचेतन परद्रव्योंमें अपने स्वामीपनेके सम्बन्धको मन वचनकाय व कृत कारित अनुमोदनासे अपने स्वात्मानुभव लक्षण निश्चयनयके बलकेद्वारा पहले ही दूरकरके मैं सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानमई हूं तथा सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित एक हूं इस तरह जो कोई निज शुद्ध आत्माके ध्यानमें तिष्ठकर चिन्तवन करता है वह चिदानंदमई एक स्वभावरूप परमात्माका ध्यानेवाला होता है। इस तरहके परमात्मध्यानसे वह

ज्ञानी वैसे ही परमात्माको पाता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा कार्य होता है। इस लिये यह बात जानी जाती है कि शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका लाभ होता है।

भावार्थ–यहां आचार्य शुद्ध आत्माके लाभका उपाय शुद्ध नयके विषयका अवलम्बन बताते हैं क्योंकि शुद्ध निश्चयनय आत्माको एक अकेला परमशुद्ध, सर्व प्रकार रागादिभावोंसे रहित, आठ कर्मोंसे शून्य, शरीरादिसे बाहर शुद्ध ज्ञान दर्शनमई देखनेवाली है। जो भव्य जीव इस शुद्धनयके द्वारा सर्व शरीरादि परद्रव्योंमें अहंकार ममकार छोडकर मैं ज्ञानानन्दमई सिद्ध सम शुद्ध निर्विकार हूं ऐसी भावना करते हुए ध्यानमें तिष्ठकर शुद्धात्माको ध्याते हैं वे ही शुद्ध आत्माके ध्याता होते हुए कर्मोंके सम्बन्धको वीतराग परिणतिसे हटाते हुए आत्माके सच्चे स्वरूपको पाकर परमात्मा हो जाते हैं। श्री देवसेनाचार्यने श्री तत्वसारमें कहा है:—

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥
णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइ गुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥
सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥ २८ ॥
थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं ॥ २९ ॥

भावार्थ–जैसे कर्ममल रहित, ज्ञानमई, सिद्ध आत्मा सिद्धा-

इस दूसरेकी आत्माको जान सक्ते हैं, इसलिये यह आत्मा अपने आपको आप ही अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जान सक्ता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञान चेतनामय सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न लक्षणको रखनेवाला है। यद्यपि चेतना गुणकी अपेक्षा सर्व आत्माएं समान हैं, तथापि सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं तौभी इस मोक्षवांछक पुरुषको उचित है कि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्व ही आत्माओंको शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, अविनाशी, अमूर्तीक अपने आत्माके समान देखकर सर्वसे रागद्वेष छोड़कर सामान्यतासे शुद्ध आत्माके अनुभवमें तन्मय हो परम समताको प्राप्त करे, जैसा श्री अमृतचंद्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा नित्य ही कर्मोके लेपसे रहित है, अपने स्वरूपमें स्थित है, किसीके द्वारा घातसे रहित है, आकाशके समान अमूर्तीक है, परम पुरुष है, अत्यन्त शुद्ध, परम पदमें स्फुरायमान होनेवाला है, अपने निज पदमें कृतकृत्य है, सकल जानने योग्यका ज्ञाता स्वरूप है, यही परमात्मा है, परमानंदमें डूबा हुआ है, तथा ज्ञानमई सदा ही प्रकाशमान होरहा है। इसतरह शुद्ध आत्माके शुद्ध सरूपपर दृष्टि रखकर इसी सरूपका एकाग्र होकर अनुभव करना चाहिये। यही स्वात्मानुभव सिद्धपदका कारण है ॥ ८३ ॥

उत्थानिका–आगे जब आत्मा अमूर्तीक शुद्ध स्वरूप है तब इस अमूर्तीक जीवका मूर्तीक पुद्गल कर्मोंके साथ किसतरह बंध होसक्ता है ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं ।
तव्विवरीदो अप्पा बंधदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ ८४ ॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः ।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ ८४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः–(रूवादिगुणो) स्पर्श रस गंध वर्ण गुणधारी (मुत्तो) मूर्तीक पुद्गल द्रव्य (फासेहिं) स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श गुणोंके निमित्तसे (अण्णम् अण्णेहिं) एक दूसरेसे परस्पर (वज्झदि) बंध जाते हैं। (तव्विरीदो) इससे विरुद्ध अमूर्तीक (अप्पा) आत्मा (किध) किस तरह (पोग्गलकम्मं) पुद्गलीक कर्मवर्गणाको (बंधदि) बांधता है।

विशेषार्थः–निश्चयनयसे यह आत्मा परमात्मा स्वरूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारी परिणतिमें वर्तनेवाला है, बंधके कारण स्निग्ध रूक्षके स्थानापन्न रागद्वेषादि विभाव परिणामोंसे रहित है और अमूर्तीक है सो किसतरह पुद्गल मूर्तीक कर्मोको बांध सक्ता है ? किसी भी तरह नहीं बांध सक्ता है ऐसा पूर्वपक्ष शंकाकारने किया है।

भावार्थ–शंकाकार कहता है कि जब यह आत्मा स्वभावसे अमूर्तीक वीतराग ज्ञान स्वभाव है तब इसके जड़ पुद्गल-स्पर्श रस गंध वर्णवान् पुद्गलोंका सम्बन्ध कैसे होसक्ता है। मूर्तीकका मूर्तीकके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणोंके निमित्तसे बंध होसक्ता है परंतु अमूर्तीकका मूर्तीकके साथ कैसे होसक्ता है ? ॥ ८४ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नयके द्वारा अमूर्तीक आत्माका पुद्गलसे बंध होजाता है—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणोहि ॥ ८५

रूपादिकैः रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बंधस्तेन जानीहि ॥ ८५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादिसे रहित आत्मा (रूवमादीणिं दव्वाणि गुणेय) रूपादि गुणधारी द्रव्योंको और उनके गुणोंको (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तध) तैसे (तेण) उस पुद्गलके साथ (बंधो) बंध (जाणीहि) जानो ।

विशेषार्थ—जैसे अमूर्तीक व परम चैतन्य ज्योतिमें परिणमन रखनेके कारण यह परमात्मा वर्ण आदिसे रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित मूर्तीक द्रव्योंको और उनके गुणोंको मुक्तावस्थामें एक समयमें वर्तनेवाले सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाले केवल दर्शन और केवलज्ञान उपयोगके द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयोंके साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तीक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता दृष्टा उनसे भिन्न है। अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञानको न पाता हुआ काष्ट व पाषाण आदिकी अचेतन जिन प्रतिमाको देखकर यह मेरेद्वारा पूजने योग्य है ऐसा मानता है। यद्यपि यहां सत्ताको देखने मात्र दर्शनके साथ उस प्रतिमाका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि

दृश्य दर्शक सम्बन्ध है अथवा जैसे कोई विशेष भेदज्ञानी समवशरणमें प्रत्यक्ष जिनेश्वरको देखकर यह मानता है कि यह मेरेद्वारा आराधने योग्य हैं, यहां भी यद्यपि देखने व जाननेका जिनेश्वरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य तथा आराधक सम्बन्ध है तैसे ही मूर्तीक द्रव्यके साथ बन्ध होना समझो। यहां यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनयसे अमूर्तीक है तथापि अनादि कर्मबन्धके वशसे व्यवहारसे मूर्तीक होता हुआ द्रव्यबधके निमित्त कारण रागादि विकल्परूप भावबंधके उपयोगको करता है। ऐसी अवस्था होनेपर यद्यपि मूर्तीक द्रव्यकर्मके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि पूर्वमें कहे हुए दृष्टांतसे संयोग सम्बन्ध है इसमें कोई दोष नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अपने आत्माके साथ द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिका बंध होसक्ता है इस वातको स्पष्ट किया है। जहां मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है वहां मूर्तीक द्रव्य और गुणोंको अपने ज्ञान स्वभावसे वीतरागतारूप जानते हुए भी आत्मा बन्धको प्राप्त नहीं होता है। केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा सर्व मूर्तीक व अमूर्तीक द्रव्योंको परम वीतरागतासे देखते जानते हैं इसलिये उनके बन्ध नहीं होता। इसी तरह अन्य वीतराग सम्यग्दृष्टी आत्माएं भी जगतके मूर्तीक अमूर्तीक पदार्थोंको यदि उदासीनतासे उनके वस्तु स्वरूपको मात्र समझते हुए देखते जानते हैं तो उनको इस दर्शन ज्ञानसे भी बन्ध नहीं होता। बन्धका कारण रागद्वेष है। संसारी आत्मा अनादि कर्मबन्धके सम्बन्धके कारण उन कर्मोंके उदयके निमित्तसे रागद्वेष परिणति कर लेता है

इसीको अशुद्ध उपयोग कहते हैं। इस अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाएं स्वयं कर्मरूप हो आत्माके साथ संयोगरूप ठहर जाती हैं।

जिनके रागद्वेष नहीं होता वे मूर्तीक पदार्थोंको देखते जानते हुए भी वन्धको प्राप्त नहीं होते। शुद्ध आत्मामें रागद्वेष नहीं होते इसलिये वे मूर्तीक कर्मोंसे नहीं बंधते हैं। यहां आचार्यने यह दिखाया है कि जैसे यह आत्मा स्वरूपसे अमूर्तीक होता हुआ भी मूर्तीक पदार्थोंको देखता जानता है इसी तरह मूर्तीकके साथ संयोग भी पालेता है। वास्तवमें जो आत्मा किसी भी समयमें अमूर्तीक शुद्ध कर्मबंधसे रहित होता तो वह कभी भी वन्धमें नहीं पड़ता, क्योंकि विना रागद्वेप मोहके आत्माके द्रव्यकर्मोंका बंध नहीं होसक्ता। यह आत्मा इस संसारमें अनादिकालसे ही बंधरूप ही चला आरहा है--स्वभावसे अमूर्तीक होनेपर भी इसका कोई भी अंशरूप प्रदेश अनंत द्रव्यकर्मवर्गणाओंके आवरणसे रहित नहीं है, इसलिये व्यवहारमें इस संसारी आत्माको मूर्तीक कहते हैं और इस मूर्तीक आत्माके ही मूर्तीक पुद्गलोंका बंध होता है। जैसे मूर्तीक आत्मा राग द्वेष मोहपूर्वक पदार्थोंको देखता जानता है वैसे यह कर्मपुद्गलोंसे भी संयोग पा जाता है। जैसे देखते जानते हुए मूर्तीक द्रव्योंका आत्माके साथ न मिटनेवाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु मात्र राग सहित ज्ञेय ज्ञायक संबंध है वैसे मूर्तीक आत्माका द्रव्य कर्मोंके साथ तादात्म्य संबंध नहीं है किंतु मात्र संयोग सम्बन्ध है। मूर्तीक आत्मापर प्रत्यक्ष मूर्तीक पदार्थोंका असर पड़ता दीखता है। जैसे मादक वस्तुको पीलेनेसे ज्ञान बिगड़

जाता है । अथवा सराग मूर्तिको देखनेसे सराग भाव व वीतराग मूर्तिको देखनेसे वीतराग भाव होता है । अथवा जेसे सरागी पुरुष बुद्धिपूर्वक भोजन पान वस्त्रादि ग्रहण करता है तैसे वही सरागी अबुद्धि पूर्वक कर्म सिद्धांतके नियमसे कर्मवर्गणाओंको ग्रहणकर पूर्वबद्ध मूर्तीक द्रव्यके साथ बांध लेता है । टीकाकारने तीन दृष्टांत दिये हैं—एक केवलज्ञानी परमात्माका कि वे अमूर्तीक होते हुए भी ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे मूर्तीक द्रव्योंको देखते जानते हैं तौ भी उनमें तन्मयी नहीं हैं । दूसरा साधारण भेद ज्ञान रहित पुरुषका कि वह अरहंतकी मूर्तिको देखकर अपने दर्शक व दर्शन सम्बन्धको जोड़ देता है कि यह पूजने योग्य हैं व पूजक हूं । तीसरा एक विशेष भेद विज्ञानीका जो समवशरणमें साक्षात् अरहंतको देखकर उनसे पूज्य पूजक सम्बन्ध करता है । इन दृष्टांतोंसे यही दिखलाया है कि जेसे इनमें एक तरहका संयोग सम्बन्ध है वैसा ही आत्माका द्रव्यकर्मोंके साथ संयोग सम्बन्ध है । जो मूर्तिको अरहंतकी स्थापना समझकर उस मूर्तिको पूजकर अरहंतकी मैंने पूजा की ऐसा समझते हैं वे तो भेदविज्ञानी हैं । परंतु जो मूर्तिको ही साक्षात् अरहंत एकांतसे मान ले और स्थापना है ऐसा न समझे उसे वृत्तिकारने विशेष भेद विज्ञान रहित पुरुष कहा है ऐसा भाव झलकता है ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपनी वृत्तिमें इसतरह दिखलाया है कि मूर्तीक द्रव्यको जो राग सहित देखता जानता है वही स्वयं रागी होकर उससे बंध जाता है । इसके दो दृष्टांत दिये हैं—एक तो अज्ञानी बालकका जो मिट्टीके बैलको अपना जानता है । दूसरे

ग्वालियेका जो सच्चे बैलको अपना जानता है। यद्यपि दोनों ही तरहके बैल बालक या ग्वालियेसे जुदे हैं तथापि यदि कोई उनको नष्ट करे, बिगाड़े व ले जावे तो बालक और ग्वालिये दोनोंको महा दुःख होगा क्योंकि उनका ज्ञान उन बैलोंके निमित्तसे उनके आकार राग सहित परिणमन कररहा है। यही उन परस्वरूप बैलोंके साथ उनके सम्बन्धका व्यवहार है। इसी तरह अमूर्तीक आत्माका जो अनादिकालसे प्रवाहरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलीक कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आरहा है उनके उदयका निमित्त पाकर राग द्वेष मोहरूप अशुद्धोपयोग होता है यही भाव बंध है। इसीसे आत्मा बंधा हुआ है। पुद्गलीक कर्मोंका बंध व्यवहार मात्र है। यही भावबंध द्रव्यबंधका कारण है। भावबंधसे नवीन द्रव्य कर्म उसी कर्म सहित आत्मामें संयोग पालेते हैं। श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्रस्वामीने इसी प्रश्नको उठाकर कि अमूर्तीकका बन्ध मूर्तीकके कैसे होता है? इस तरह समाधान किया हैः—

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्तिप्रसिद्धितः ॥ १६ ॥

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः ।
अमूर्त्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥ १७ ॥

बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः ।
युगपद्द्रावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥ १८ ॥

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

भावार्थ—अमूर्तीक आत्माके साथ मूर्तीक कर्मोंका बध अनेकान्तसे असिद्ध नहीं है क्योंकि किसी अपेक्षासे आत्माके मूर्तिपन सिद्ध है । इस अमूर्तीक आत्माका भी द्रव्य कर्मोंके साथ प्रवाह रूपसे अनादिकालसे धारावाही सदाका सम्बन्ध चला आरहा है इसीसे उन मूर्तीक द्रव्यकर्मोंके साथ एकता होते हुए आत्माको भी मूर्तीक कहते है । बध होनेपर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरेमें प्रवेश होजानेपर परस्पर एकता होजाती है जैसे सुवर्ण और चादीको एक साथ गलानेसे दोनो एक रूप होजाते है उसी तरह जीव और कर्मोंका बध होनेसे परस्पर एकरूप बध होजाता है । तथा यह कर्मबद्ध ससारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदिसे इसका ज्ञान विगड़ जाता है । यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाशमें मदिरा रहते हुए आकाशको मदवान नहीं कर सक्ती वैसे आत्माके कभी ज्ञानमें विकार न होता । ससारी आत्मा मूर्तिक है इसीसे उसके कर्म बध होता है । जैसे आत्मा निश्चयसे अमूर्तीक है वैसे उसके निश्चयसे बध भी नहीं है । जैसे आत्मा व्यवहारसे मूर्तीक है वैसे उसके व्यवहारसे बध भी होता है । इस तरह अनेकातसे समझ लेनेमें कोई प्रकारकी शका नहीं रहती है । सर्वथा शुद्ध अमूर्तीक यदि आत्मा होता तो इसके बध मूर्तीकसे कभी प्रारभ नहीं हो सक्ता था । अनादि ससारमें कर्म सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसा अनादिसे ही चला आ रहा है इसीसे कर्मबधकी व्यवस्था सिद्ध होती है ॥ ८९ ॥

इस तरह शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप जीवके कथनकी मुख्यतासे एक गाथा, फिर अमूर्तीक जीवका मूर्तीक कर्मके साथ कैसे

बंध होता है इस पूर्व पक्षरूपसे दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी इस तरह तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षणके धारी भावबन्धका स्वरूप कहते हैं:—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं संबंधो॥ ८६॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः सम्बन्धः॥ ८६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(उवओगमओ जीवो) उपयोग मई जीव (विविधे विसये) नानाप्रकार इंद्रियोंके पदार्थोंको (पप्पा) पाकर (मुह्यदि) मोह करलेता है (रज्जदि) राग कर लेता है (वा) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है। (पुणो) तथा (हि) निश्चयसे (जो) वही जीव (तेहिं संबंधो) उन भावोंसे बन्धा है यही भाव-बंध है।

विशेषार्थः—यह जीव निश्चय नयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तौभी अनादि कालसे कर्मबंधकी उपाधिके वशसे जैसे स्फटिकमणि उपाधिके निमित्तसे अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावोंमें परिणमता हुआ इंद्रियोंके विषयोंसे रहित परमात्म स्वरूपकी भावनासे विपरीत नाना प्रकार पंचेंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमई परम धर्मको न अनुभवता हुआ इन राग द्वेष मोह भावोंसे बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीवके यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम है सो ही भावबन्ध है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यबंधके कारण भाव-बंधको स्पष्ट किया है। यह आत्मा यदि शुद्ध अवस्थामें हो तब तो इसके कभी राग द्वेष मोह भाव हो ही नहीं सक्ते क्योंकि आत्माका स्वभाव वीतरागतासे निज परका ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना है—यह उपयोगमई है। शुद्ध उपयोगमें रहना ही इसका धर्म है। जैसे स्फटिकमणिका स्वभाव निर्मल श्वेत है वैसे यह आत्मा शुद्ध है, परंतु संसारमें हरएक आत्मा प्रवाह रूपसे अनादिकालसे पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उपाधिसे संयुक्त चला आरहा है। इस कारण शुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगमें न परिणमता हुआ क्षयोपशमरूप मति श्रुतज्ञानसे इंद्रियोंके और मनके द्वारा जानता देखता है। साथमें मोहका उदय है इसलिये पांचों इंद्रियोंके द्वारा जिन २ पदार्थोंको जानता है उनमेंसे जो अपनेको इष्ट भासते हैं उनमें राग और मोह करलेता है। तथा जो अनिष्ट भासते हैं उनमें द्वेष कर लेता है। उस समय यह आत्मा उस राग द्वेष या मोहके भावसे तन्मई होकर रागी, द्वेषी, मोही हो जाता है। जैसे स्फटिकमणि काले, पीले, हरे डाकके सम्बन्धसे अपनी शुद्धताको छिपाकर काली, पीली, हरी भासती है। इस जीवके इस राग द्वेष मोह भावको इसी लिये भाव बंध कहते हैं क्योंकि उसका उपयोग उन भावोंसे बन्धा हुआ है। अर्थात् उपयोगने अपनेमें रागद्वेष मोहका रंग चढ़ा लिया है। जैसे सफेद वस्त्र काले, पीले, हरे, लाल रंगमें रंगनेसे रंगीन हो जाता है वैसे यह आत्मा रागद्वेष मोहमें रंग जानेसे रागीद्वेषी मोही हो जाता है। उस समय आत्माकी स्वाभाविक वीतराग

रुक जाती है। इसी भावबंधसे यह आत्मा नवीन कर्मबंध करता है। प्रयोजन यह है कि जैसे सफेद वस्त्र व स्वच्छ स्फटिकको देखनेकी इच्छा करनेवाला रंगके व डाकके सम्बन्धको छुड़ाता है इसी तरह हमको शुद्ध आत्माके लाभके लिये, रागद्वेष मोहके कारण-भूत कर्मबंधनको आत्मासे हटाना चाहिये और इसी लिये अभेद-रत्नत्रयका शरणलेकर स्वानुभवके बलसे मोहके बलको निर्बल करना चाहिये। यहां मोहसे मिथ्या श्रृद्धान तथा राग द्वेषसे क्रोधादि कषायोंका आवेश समझना चाहिये। यही राग द्वेष मोहबन्धके कारण हैं-ऐसा ही समयसार कलशमें स्वामी अमृतचंद्राचार्यने-कहा है—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु, रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥९-५॥

भावार्थ—जो कोई जीव शुद्ध निश्चय नयके विषयभूत शुद्धात्मानुभवसे छूटकर ज्ञान रहित हो राग द्वेष मोहको परिणमते हैं वे ही पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंके अनुसार नाना प्रकार भेदरूप कर्मबंधको प्राप्त करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि रागद्वेष मोह कर्मबंधके कारण होनेसे भावबन्ध हैं ॥ ८६ ॥

उत्थानिका—आगे भावबंधके अनुसार द्रव्यबन्धका स्वरूप बताते हैं—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्मत्ति उवएसो ॥ ८७ ॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जीवो) जीव (जेण भावेण)

जिस रागद्वेष मोहभावसे (विसए आगदं) इन्द्रियोंके विषयमें आए हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको (पेच्छदि) देखता है (जाणादि) जानता है (तेणेव रज्जदि) उसही भावसे रंग जाता है (पुणो) तब (कम्म) द्रव्यकर्म (वज्झदि) बन्ध जाता है (इति उवएसो) ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है ।

विशेषार्थ-यह जीव पांचों इन्द्रियोंके जाननेमें जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते हैं उनको जिस परिणामसे निर्विकल्परूपसे देखता है व सविकल्परूपसे जानता है उसी ही दर्शनज्ञानमई उपयोगसे राग करता है क्योंकि वह आदि मध्य अन्त रहित, व रागद्वेषादि रहित चैतन्य ज्योतिस्वरूप निज आत्म द्रव्यको न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ और समस्त रागादि विकल्पोंको छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ वर्तन कर रहा है इसीसे ही रागी द्वेषी मोही होकर रागद्वेष मोह कर लेता है । यही भाव-बंध है । इसी भाव बंधके कारण नवीन द्रव्यकर्मोको बांधता है ऐसा उपदेश है ।

भावार्थः-इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि इस आत्माका अशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग द्रव्य कर्मकेबंधके लिये निमित्त कारण है । वे कर्मवर्गणाएं आत्माके भावोंका निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप बंध जाती हैं । यदि यह आत्मा वीतराग भावसे पदार्थोंको देखे जाने तो भावबंध न हो परन्तु यह रागद्वेष मोहके साथ देखता जानता है इससे अपनेमें भाव बंधको पाकर द्रव्यबन्ध करता है । तात्पर्य यह है कि वीतराग भावसे ही देखना जानना हितकारी है ॥८७॥

इस तरह भावबंधके कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे बंध तीन प्रकार है। एक तो पूर्वबद्ध कर्म पुद्गलोंका नवीन पुद्गल कर्मोंके साथ बंध होता है। दूसरा जीवका रागादि भावके साथ बंध होता है। तीसरा उसी जीवका ही नवीन द्रव्यकर्मोसे बंध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्धके स्वरूपको कहते हैं–

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८८॥

स्पर्शैः पुद्गलानां बंधो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ ८८।

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(पुग्गलाणं) पुद्गलोंका (बंधो) बन्ध (फासेहिं) स्निग्ध रूक्ष स्पर्शसे, (जीवस्स) जीवका बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामोंसे तथा (पोग्गलजीवप्पगो) पुद्गल और जीवका बन्ध (अण्णोण्णं अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थः–जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन पुद्गलीक द्रव्यकर्मोका पूर्वमें जीवके साथ बंधे हुए पुद्गलीक द्रव्यकर्मोके साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुणरूप उपादान कारणसे जो बंध होता है उसको पुद्गल बंध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे शून्य जीवका जो रागादि भावोंमें परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित हो स्निग्ध रूक्षकी जगह रागद्वेषमें परिणमन होते हुए जीवका

बंध योग्य स्निग्ध रूक्ष परिणामोंमें परिणमन होनेवाले पुद्गलके साथ जो परस्पर एक क्षेत्र अवगाहरूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है इस तरह तीन प्रकार बंधका लक्षण जानने योग्य है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने बन्ध तत्वका वर्णन किया है। वास्तवमें दो वस्तुओंका मिलकर एकमेक होजाना उसको बंध कहते हैं। यह बन्ध पुद्गल द्रव्यहीमें हो सक्ता है। पुद्गलके परमाणु या स्कंध एक दूसरेसे स्निग्ध रूक्ष गुणके दो अविभाग प्रतिच्छेद या अंशके अधिक होनेपर परस्पर मिलकर एक बन्धरूप स्कंध हो जाते हैं जैसा पहले कहचुके हैं। इस तरहका बंध उस समयमें भी होता है जब जीवके योग और कषायके निमित्तसे द्रव्य कर्मवर्गणाएं आश्रवरूप होती हैं। पूर्वमें बांधी हुई पुद्गलीक द्रव्य कर्म वर्गणाओंके साथ नवीन आश्रवरूप हुए पुद्गलीक कर्म वर्गणाओंका परस्पर स्निग्ध रूक्षगुणके कारण बन्ध हो जाता है। इसको पुद्गल बंध कहते हैं। इस तरहकी व्यवस्था-वस्तुस्वरूपके समझने पर यह बात अच्छी तरह ध्यानमें आजावगी कि शुद्ध आत्माके कर्मबन्ध होना असंभव है। अनादिकालसे आत्मा अशुद्ध है अर्थात् कर्मबन्ध सहित है ऐसा माननेपर ही नवीन द्रव्यकर्मोंका पुराने द्रव्यकर्मोंके साथ बन्ध बन सक्ता है, क्योंकि वास्तवमें बन्ध रूप पर्याय पुद्गलोंमें ही होती हैं। यह एक प्रकारका पुद्गलबंध है।

मोहनीयादि कर्मोंके उदयके निमित्तसे जीवके भावोंमें परिणति होकर उनका रागद्वेष मोहरूप परिणत हो जाना सो जीवबंध है। आत्मा किस तरह रागद्वेषरूप परिणमता है इसका स्वरूप शब्दोंसे कहना बहुत दुर्लभ है। जो बिलकुल वीतराग हो चुके

हैं उनके कभी भी रागद्वेष मोह पैदा नहीं हो सक्ते क्योंकि उन्होंने मोहकर्मका ही नाश कर डाला है। जिन्होंने मोहका नाश नहीं किया है उनके भीतर रागद्वेष मोह भी किसी न किसी पर्यायमें कम या अधिक अनादिकालसे होते ही रहते हैं, केवल उपशम सम्यक्तमें या उपशम चारित्रमें मोहके उदयके दब जानेसे जीवोंको अन्तर्मुहूर्तके लिये निर्मल सम्यक्त या निर्मल वीतराग चारित्र होता है। इस अवस्थाके सिवाय क्षपक श्रेणीके दसवें गुणस्थान तक बराबर कोई न कोई प्रकारका राग या द्वेष या मोह सहित राग या द्वेष बना ही रहता है। ये राग द्वेष मोह नैमित्तिक या औपाधिक भाव कहलाते हैं क्योंकि जीवके उपयोगके साथ साथ मोहनीय कर्मका अनुभाग या रस झलकता है। जबतक मोहनीय कर्मके उदयसे उसका रस प्रगट होता रहेगा तब ही तक जीवके रागादिरूप भाव होगा। जैसे स्फटिक मणिके नीचे जबतक काली, हरी, पीली डाकका सम्बन्धी रहेगा तब ही तक वह काली, हरी, पीली रूप झलकेगी वैसे ही जीवके विभाव भावोंकी अवस्था समझ लेनी चाहिये। पुद्गलकर्म वर्गणाओंमें इतनी अवश्य शक्ति है कि जीवके उपयोगको मलीन कर देते हैं या इसके गुणोंको ढक देते हैं जिसका दृष्टांत हमको मादक पदार्थमें मिलता है। मादक पदार्थके सेवनसे ज्ञानमें उन्मत्तपना हो जाता है। जीवका शुद्धोपयोगसे शून्य हो अशुद्धोपयोगरूप होना यह जीवबंध या भावबंध कहलाता है।

एक २ जीवके प्रदेशमें अनंत पुद्गलकर्मवर्गणाओंका अवगाह रूप तिष्ठे रहना, जैसे एक छोटेसे कमरेके आकाशमें बहुतसे दीप-

कोंका प्रकाश अवगाह पाकर ठहर जाता है इसको जीव पुद्गलका एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध कहते हैं । इस तरह तीन प्रकारके बन्ध है ।

पंचाध्यायीकारने भी बन्धके तीन भेद बताए हैं–

अर्थतस्त्रिविधो बंधो भावद्रव्योभयात्मकः ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वंद्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥
रागात्मा भावबंधः स जीवबंध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिंडो बंधस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥
इतरेतरबंधश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बंध्यबंधकभावः स्याद् भावबंधनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

भावार्थ–वास्तवमें बंध तीन प्रकार है–भावबन्ध, द्रव्यबन्ध, और उभयबन्ध। इनमेंसे भावबन्ध और द्रव्यबंध तो भिन्न२ स्वतंत्र हैं । तीसरा उभयबन्ध जीव पुद्गलके मेलसे होता है । रागद्वेष आदि परिणाम भावबंध है इसीको जीवबंध कहते हैं । पुद्गलका पिंड वही द्रव्यबंध है । यह बंध पुद्गलकी स्निग्ध रूक्ष शक्तिसे होता है । भावबंधके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंका और द्रव्यकर्मोंका परस्पर एक दूसरेमें प्रवेश होना सो उभयबंध है ।

इन तीन प्रकार बंधोंमें रागादिरूप भाव बन्धको ही संसारका कारण जानकर इनकी अवस्थाको त्याग वीतराग साम्य अवस्थामें ही ठहरनेका यत्न करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥८८॥

उत्थानिका–आगे पूर्व सूत्रमें "जीवस्स रायमादीहिं" इस वचनसे जो रागपनेको भावबंध कहा था वही द्रव्यबंधका कारण है ऐसा विशेष करके समर्थन करते हैं–

हुए उसी समयसे वे भगवान जिनकी आत्मा दूसरोंके इंद्रियोंका विषय नहीं है किसी परम उत्कृष्ट सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आल्हाद देनेवाले अनन्त सुखरूप एकाकार समता रसके भावसे परिणमन करते रहते हैं अर्थात् निरन्तर अनन्त सुखका स्वाद लेते रहते हैं। जिस समय यह भगवान एक देश होनेवाले सांसारिक ज्ञान और सुखकी कारण तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें पैदा होनेवाले स्वाभाविक अतींद्रिय ज्ञान और सुखको नाश करनेवाली इन इंद्रियोंको निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसारके बलसे उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् उन इंद्रियोंके द्वारा प्रवृत्तिको नाश करदेते हैं उसी ही क्षणसे वे सर्व बाधासे रहित होजाते हैं, तथा अतींद्रिय और अनंत आत्मासे उत्पन्न आनन्दका अनुभव करते रहते हैं अर्थात आत्म सुखको ध्याते हैं व आत्मसुखमें परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि केवलियोंको दूसरा कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इसी परम सुखका अनुभव है अथवा उनके ध्यानका फलरूप कर्मकी निर्जराको देखकर ध्यान है ऐसा उपचार किया जाता है। तथा जो आगममें कहा है कि सयोग केवलीके तीसरा शुक्लध्यान व अयोग केवलीके चौथा शुक्लध्यान होता है वह उपचारसे जानना चाहिये ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें वास्तवमें केवली भगवानका स्वभाव बताया है। आचार्य कहते हैं कि केवली भगवानका आत्मा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंसे रहित होकर अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त व क्षायिक सम्यक्त व क्षायिक यथाख्यात चारित्र तथा अनन्त सुखसे परिपूर्ण होजाता है। उनके आत्मामें ज्ञान व

सुख स्वाभाविक शुद्ध प्रगट होजाते हैं । वे इंद्रियोंके द्वारा न तो जानते हैं न उनके द्वारा विषयसुखका भोग करते हैं—उनकी प्रवृत्ति इंद्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित होजाती है । उनको कोई प्रकारकी क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, शीत, उष्ण आदि परीसहोंकी व किसी चेतन व अचेतनकृत उपसर्गकी कोई शारीरिक व मानसिक बाधा नहीं होती है । उनका शुद्ध आत्मा अन्य अल्पज्ञानियोंके इंद्रियज्ञानका भी विषय नहीं है । ऐसे भगवान निरन्तर निजानन्दका स्वाद लिया करते हैं अर्थात् समय २ अपूर्व आत्मीक सुखका अनुभव करते हैं । या यों कह दीजिये कि वे भगवान अपने ही स्वाभाविक आनन्दको ध्याते हैं । उनके ऐसा ध्यान नहीं है जैसा कि छद्मस्थोंके होता है कि चित्तको अन्य पदार्थोंसे रोककर आत्मामें लगाना पड़े । वे सदा आत्मस्थ ही हैं—आठ वर्ष कुछ अधिक कम एक करोड़ पूर्व वर्ष तक भी वे एकाकार आत्मामई बने रहते हैं—उनमें कोई रागादि विकार नहीं होते हैं, उनके उपयोगकी चंचलता अल्पज्ञकी तरह नहीं होती है । उनका उपयोग आत्मामें ही मग्न रहता हुआ आत्मीक आनन्दका भोग किया करत है । सिद्धांतमें जो केवली भगवानके ध्यान कहा है वह इसी अपेक्षासे व्यवहारसे कहा है कि वहां ध्यानका फल मौजूद है अर्थात् उनके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है । तथा तीसरा व चौथा शुक्लध्यान भी उनकी आत्माकी अवस्थाकी अपेक्षा उपचारसे कहा है । जब कायद्वारा सूक्ष्म आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है तब तीसरा शुक्लध्यान व जब योगरहित होते हैं तब सर्व क्रियाएं निवृत्त होनेके कारण चौथा शुक्लध्यान कहा है । केवली भगवानके

वास्तवमें चित्तको रोकनेरूप ध्यान नहीं है। वे सदा ही आत्म-ध्यानी व आत्मानन्दी हैं—उनकी महिमा वचन अगोचर है। यहां यह तात्पर्य है कि जिस आत्मध्यानसे ऐसा अपूर्व अरहंतपद प्राप्त होता है उस ध्यानका पुरुषार्थ कर्तव्य है। आप्तस्वरूप नाम ग्रन्थमें अरहंतभगवानका स्वरूप कहते हैं:—

नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम् ।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ८ ॥

नष्टं मर्यादविज्ञानं नष्टं मानसगोचरम् ।
नष्टं कर्ममलं दुष्टं नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः ॥ ९ ॥

नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम् ।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेंद्रियजं सुखं ॥ १० ॥

येनासं परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम् ।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥ २३ ॥

भावार्थ—जिसने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये, छद्म ज्ञान दूर कर दिया, केश नखकी वृद्धि बन्द की व सर्व शरीर मल भी हटा दिया। जिसमें मन सम्बन्धी व इंद्रिय सम्बन्धी व क्षयोपशम रूप मर्यादित ज्ञान भी नहीं रहा जिसके दुष्ट कर्ममल नष्ट हुआ व अक्षररूप ध्वनि भी नहीं रही। जिसके क्षुधा, तृषा, भय, स्वेद आदि अठारह दोष नष्ट होगए, प्रत्येक प्राणीको समझानेकी क्रिया भी बंद हुई, भूमिमें स्पर्श भी न रहा व इंद्रियोंके द्वारा सुख भोग भी न रहा—जिन्होंने अनन्त ज्ञानरूप परमानंद सुखके स्थान परमईश्वरपनेको प्राप्त कर लिया व जो परमकृतकृत्य है उसहीको बुद्धिमानोंने ईश्वर कहा है।

ऐसे परमात्मा अरहंत ध्यानके फलको प्राप्त होकर निरं आत्मानंदका विलास करते रहते हैं। यह ही परमपूज्यनीय दे ध्यान करने योग्य, पुजयने योग्य व स्तुति करने योग्य हैं ॥११०॥

इस तरह केवली भगवान क्या ध्याते हैं व क्यों ध्याते हैं इस प्रश्नकी मुख्यतासे पहली गाथा, तथा वे भगवान परमसुखको ध्याते या अनुभवते हैं इस तरह उस प्रश्नका समाधान करते हुए दूसरी, इस तरह ध्यान सम्बन्धी पूर्वपक्षका परिहाररूपसे तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे विशेष करके समर्थन करते हैं कि यही अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति लक्षण ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥ १११ ॥

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥ १११ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(एवं) इस तरह पूर्व कहे प्रमाण (मग्गं समुट्ठिदा) मोक्षमार्गको प्राप्त होकर (समणा) मुनि, (जिणा) सामान्य केवली जिन, (जिणिंदा) तथा तीर्थंकर केवली जिन, (सिद्धा) सिद्ध परमात्मा (जादा) हुए (तेसिं) उन सबको (य) और (तस्स णिव्वाणमग्गस्स) उस मोक्षमार्गको (णमोत्थु) नमस्कार हो।

विशेषार्थ—इस तरह बहुत प्रकारसे ... हुए परमात्मतत्वके अनुभवमई मोक्षमार्गको ...
सुखदुःख आदिमें समतामावसे ...

लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्य केवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं। उन सबको तथा उस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षके मार्गको हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार होहु। यहां अचरम शरीरी मुनियोंको सिद्ध मानकर इस लिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रयकी सिद्धि की है। जैसा कहा है—

" तव सिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्रसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमंसामि" अर्थात जिन्होंने तपमें सिद्धि पाई है, नयोंके स्वरूप ज्ञानमें सिद्धि पाई है, संयममें सिद्धि की है, चारित्रमें सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें सिद्धि पाई है उन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं। इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्षका मार्ग है अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट कह दिया है कि मोक्षका कारण निज शुद्धात्माका सर्व परद्रव्योंसे भिन्न श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्ररूप तल्लीनता है—अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि है या स्वानुभव है या कारण समयसार है या स्वसमयरूप प्रवृत्ति है। इसी मोक्षमार्गको सेवन करके महामुनि हुए हैं जो यद्यपि तद्भव मोक्ष न प्राप्त हुए किंतु कुछ भवोंमें प्राप्त करेंगे। तथा इसी मार्गपर चलकर अनेक मुनि सामान्य-केवली हुए, अनेक साधु तीर्थंकर केवली हुए और ये सब जीव सिद्ध परमात्मा होगए, क्योंकि मैं कुन्दकुंद मुनि भी इसी शुद्धात्माकी अवस्थाको प्राप्त करना चाहता हूं इसलिये मैं शुद्ध आत्मा-

ऐसे परमात्मा अरहंत ध्यानके फलको प्राप्त होकर निरंतर आत्मानंदका विलास करते रहते हैं। यह ही परमपूज्यनीय देव ध्यान करने योग्य, पूजने योग्य व स्तुति करने योग्य हैं ॥११०॥

इस तरह केवली भगवान क्या ध्याते हैं व क्यों ध्याते हैं? इस प्रश्नकी मुख्यतासे पहली गाथा, तथा वे भगवान परमसुखको ध्याते या अनुभवते हैं इस तरह उस प्रश्नका समाधान करते हुए दूसरी, इस तरह ध्यान सम्बन्धी पूर्वपक्षका परिहाररूपसे तीसरे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका-आगे विशेष करके समर्थन करते हैं कि यही अपने शुद्धात्माकी प्राप्ति लक्षण ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥ १११ ॥

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः।
जाता नमोस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥ १११ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(एवं) इस तरह पूर्वे कहे प्रमाण (मग्गं समुट्ठिदा) मोक्षमार्गको प्राप्त होकर (समणा) मुनि, (जिणा) सामान्य केवली जिन, (जिणिंदा) तथा तीर्थंकर केवली जिन, (सिद्धा) सिद्ध परमात्मा (जादा) हुए (तेसिं) उन सबको (य) और (तस्स णिव्वाणमग्गस्स) उस मोक्षमार्गको (णमोत्थु) नमस्कार हो।

विशेषार्थ-इस तरह बहुत प्रकारसे पहले कहे हुए निज परमात्मतत्वके अनुभवमई मोक्षमार्गको आश्रय करनेवाले जीव सुखदुःख आदिमें समताभावसे परिणमन करनेवाले तथा आत्मतत्वमें

लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्य केवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं। उन सबको तथा उस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षके मार्गको हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार होहु। यहां अचरम शरीरी मुनियोंको सिद्ध मानकर इस लिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रयकी सिद्धि की है। जैसा कहा है–

" तव सिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्रसिद्धे य। णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि" अर्थात जिन्होंने तपमें सिद्धि पाई है, नयोंके स्वरूप ज्ञानमें सिद्धि पाई है, सयममें सिद्धि की है, चारित्रमें सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें सिद्धि पाई है इन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं। इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्षका मार्ग है अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट कह दिया है कि मोक्षका कारण निज शुद्धात्माका सर्व परद्रव्योंसे भिन्न श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्ररूप तल्लीनता है–अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि है या स्वानुभव है या कारण समयसार है या स्वसमयरूप प्रवृत्ति है। इसी मोक्षमार्गको सेवन करके महामुनि हुए हैं जो यद्यपि तद्भव मोक्ष न प्राप्त हुए किंतु कुछ भवोंमें प्राप्त करेंगे। तथा इसी मार्गपर चलकर अनेक मुनि सामान्य-केवली हुए, अनेक साधु तीर्थंकर केवली हुए और ये सब जीव सिद्ध परमात्मा होगए, क्योंकि मैं कुन्दकुन्द मुनि भी इसी शुद्धात्माकी अवस्थाको प्राप्त करना चाहता हूं इसलिये मैं शुद्ध आत्मा-

का ध्यानकर भाव नमस्कार करता हुआ उन सर्व सफल कार्य करनेवालोंको द्रव्य नमस्कार करता हूं। साथ ही उस अभेद रत्नत्रयकी परम रुचि रखता हुआ उसमें अपने उपयोगको जोड़ता हुआ उस मोक्षमार्गको भी भाव नमस्कार सहित द्रव्य नमस्कार करता हूं। इससे यह सिद्ध किया गया है कि हम सबको इस लोक तथा परलोकमें परम शांति व सुखको प्राप्त करनेके लिये इसी रत्नत्रयमयी निर्ममत्त्व भावकी भावना भानी चाहिये।

श्री अमितिगति महाराजने सामायिकपाठमें कहा है:—

सर्वज्ञः सर्व्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो,
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः।
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षै-
र्नष्टा बाधात्मनीनस्थिरविशुदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ॥ २० ॥

भावार्थ—जो चतुर पुरुष इंद्रियोंके विजयी हैं, जन्म मरणसे भयभीत हैं, संसारके भ्रमणसे उदासीन हैं उनको बाधा रहित, आत्मासे उत्पन्न, स्थिर और शुद्ध निर्मल सुखकी प्राप्तिके लिये उस आत्माका सदा चिन्तवन करना चाहिये जो अविनाशी है, सर्वज्ञ है, सर्व दर्शी है, जन्ममरण जरा रोगशोकादिसे रहित है, निजस्वभावमें प्राप्त है, तथा सर्व द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्ममलसे रहित है ॥ १११

उत्थानिका—आगे प्रथम ज्ञानाधिकारकी पांचवीं गाथामें आचार्यने कहा था कि "उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती" मैं साम्य भावको धारण करता हूं जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती उसी अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वयं ही मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकार करते हुए कहते हैं—

तम्हा तध जाणित्ता अप्पाणं जाणगं समावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ ११२ ॥
तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तम्हा) इसलिये (तध) तिसही प्रकार (समावेण) अपने स्वभावसे (जाणगं) ज्ञायक मात्र (अप्पाणं) आत्माको (जाणित्ता) जानकर (णिम्ममत्तम्मि) ममतारहित भावमें (उवट्ठिदो) ठहरा हुआ (ममत्तिं) ममता भावको (परिवज्जामि) मैं दूर करता हूं।

विशेषार्थ-क्योंकि पहले कहे हुए प्रमाण-शुद्धात्माके लाभ रूप मोक्ष मार्गके द्वारा जिन, जिनेन्द्र तथा महामुनि सिद्ध हुए हैं इसलिये मैं भी उसी ही प्रकारसे सर्व रागादि विभावसे रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके द्वारा उस केवलज्ञानादि अनंतगुण स्वभावके धारी अपने ही परमात्माको जान करके सर्व परद्रव्य सम्बन्धी ममकार अहंकारसे रहित होकर निर्ममता लक्षण परम साम्यभाव नामके वीतराग चारित्रमें अथवा उस चारित्रमें परिणमन करनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ सर्व चेतन अचेतन व मिश्ररूप परद्रव्य सम्बन्धी ममताको सब तरहसे छोडता हूं। भाव यह है कि मैं केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभावरूपसे ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूं ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्योंके साथ अपने स्वामीपने आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र ज्ञेय ज्ञायक संबंध है, सो भी व्यवहार नयसे है। निश्चयसे यह ज्ञेय ज्ञायक संबंध भी नहीं है। इस कारणसे मैं सर्व परद्रव्योंके ममत्वसे रहित होकर

परम समता लक्षण अपने शुद्धात्मामें ठहरता हू। श्रीकुदकुद महाराजने "उवसपयामि सम्म" में समताभावको आश्रय करता हू इत्यादि अपनी की हुई प्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुए स्वय ही मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकार किया है ऐसा जो गाथाकी पातनिकाके प्रारम्भमें कहा गया है उससे यह भाव प्रगट होता है कि जिन महात्माओंने उस प्रतिज्ञाको लेकर सिद्धि पाई है उनहीके द्वारा वास्तवमें वह प्रतिज्ञा पूरी की गई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने तो मात्र ज्ञान दर्शन ऐसे दो अधिकारोको ग्रथमें समाप्त करते हुए उस प्रतिज्ञाको पूरा किया है। शिवकुमार महाराजने तो मात्र ग्रथके श्रवणसे ही साम्यभावका आलम्बन किया है। क्योंकि वास्तवमें जो मोक्ष प्राप्त हुए हैं उन हीकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई है—न श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराजकी और न शिवकुमार राजाकी क्योंकि दोनोंके चरमदेहका अभाव है।

भावार्थ श्री कुदकुन्दाचार्य महाराज इस गाथामें अपने मोक्षमार्गके गाढप्रेमको प्रगट करते हुए कहते हैं कि जिस तरह पूर्व महापुरुषोंने अपने वीतराग स्वभावमे ज्ञातादृष्टा आनन्दमई अपने ही आत्माको जानकर अनुभव किया था उस ही तरह मैं भी निज आत्माके शुद्ध स्वभावको जानकर ममकार अहकार रहित वीतराग चारित्ररूप समताभावमें ठहरकर अपने शुद्ध आत्माके सिवाय सर्व चेतन अचेतन व मिश्र पदार्थोंमें ममताको त्यागता हू। और आत्मस्थ होता हुआ साम्यरसका पान करता हू। पहले महाराजने जो प्रतिज्ञा की थी उसीको यहातक व्याख्यान करते हुए निर्वाहा है। इस ग्रन्थके वक्ता श्री कुदकुदाचार्य है तथा

मुख्य श्रोता श्री शिवकुमार महाराज हैं दोनों पंचम कालमें हुए इस लिये इसी भवसे मोक्षगामी नहीं हैं। इसलिये इनके साम्यभाव ग्रहणकी प्रतिज्ञा आयु क्षयके पीछे नहीं रह सक्ती है, क्योंकि ये शरीर छोड़कर स्वर्गादि गतियोंमें गए होंगे। प्रतिज्ञाकी पूर्णता उनहीकी होती है जिन्होंने रत्नत्रय साधनकर तद्भव मोक्ष प्राप्त की है। वे अनंतकाल तक साम्यभावमें लीन रहेंगे।

यहां इस प्रवचनसारके दो अधिकार कहकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने अपने कथनकी प्रतिज्ञाको अच्छी तरह निर्वाहा है। यह भाव है।

वास्तवमें निर्ममत्वभाव ही परमानंद दायक है जैसा श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है:—

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखम् ।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ २३४ ॥

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥ २३५ ॥

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

भावार्थ—ममतासे दूर रहना परम तत्त्व है। ममता रहितपना परम सुख है, निर्ममताहीको बुद्धिमानोंने मोक्षका उत्तम बीज कहा है। निर्ममता होते हुए निज आत्मामें जो स्थिर होता है उसको संसारकी स्थितिका छेदक परम उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। जो भव्य मन सम्यक्ती जीव सर्व प्राणियोंमें समता करके ममता भावसे छूट जाता ही अविनाशीपदको प्राप्त करता है।

इस तरह ज्ञानदर्शन अधिकारकी समाप्ति करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—इस तरह निज शुद्धात्माकी भावनारूप मोक्षमार्गके द्वारा जिन्होंने सिद्धि पाई है और जो उस मोक्षमार्गके आराधनेवाले हैं उन सबको इस दर्शन अधिकारकी समाप्तिमें मंगलके लिये अथवा ग्रन्थकी अपेक्षा मध्यमें मंगलके लिये उस ही पदकी इच्छा करते हुए आचार्य नमस्कार करते हैं—

दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं ॥ ११३ ॥

सम्यग्दर्शनसंशुद्धेभ्यः सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तेभ्यः ।
अव्याबाधरतेभ्यो नमो नमो सिद्धसाधुभ्यः ॥ ११३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(दंसणसंसुद्धाणं) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध (सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं) व सम्यज्ञानमई उपयोगसे युक्त तथा (अव्वाबाधरदाणं) अव्याबाध सुखमें लीन (सिद्धसाहूणं) सिद्धोंको और साधुओंको (णमो णमो) वारवार नमस्कार हो।

विशेषार्थ—जो तीन मूढ़ता आदि पचीस दोषोंसे रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, व संशयादि दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञानमई उपयोग धारी हैं अथवा सम्यग्ज्ञान और निर्विकल्प समाधिमें वर्तनेवाले वीतराग चारित्र सहित हैं तथा सम्यग्ज्ञान आदिकी भावनासे उत्पन्न अव्याबाध तथा अनन्त सुखमें लीन हैं ऐसे जो सिद्ध हैं अर्थात् अपने आत्माकी प्राप्ति करनेवाले अर्हंत और सिद्ध हैं तथा जो साधु हैं अर्थात् मोक्षके साधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं उन सबको

मेरा वार वार नमस्कार हो ऐसा कहकर श्री कुन्दकुन्द महाराजने अपनी उत्कृष्ट भक्ति दिखाई है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने परम मंगलस्वरूप पांचों परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। दो दफे नमो शब्द कहकर वार वार नमस्कार करके अपनी गाढ़भक्ति उनके शुद्ध गुणोंमें दिखलाई हैं। अरहंत और सिद्ध तो रत्नत्रयकी आराधनासे उसके पूर्ण फलको पाचुके हैं—अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु अभी रत्नत्रयकी आराधना कर रहे हैं परन्तु अवश्य अरहंत और सिद्ध होंगे इस लिये भावी नैगमनयकी अपेक्षा उनके भी वे ही विशेषण दिये हैं जो अरहंत व सिद्धोंके दिये हैं। वे शीघ्र ही केवलज्ञानी व अनन्त सुखी होंगे। इस दूसरे अध्यायकी पूर्णतामें मंगलाचरण करके आचार्यने यह बतलाया है कि हम सबको हरएक कार्यके प्रारम्भमें व अन्तमें इन पंचपरमेष्ठियोंका गुण स्मरण रूप मंगलाचरण करना चाहिये जिससे हमारे भाव निर्मल हों और हम पापकर्मोंको क्षयकर सकें, जो पाप कर्म हमारे कार्यमें बाधक हैं। पाप क्षयसे हमारा कार्य निर्विघ्न समाप्त होजायगा। अन्तमें मंगलाचरण करनेसे उनका उपकार स्मरण है व भविष्यके लिये पापोंसे बचनेकी भावना है ॥११३॥

इस तरह नमस्कार गाथा सहित चार स्थलोंमें चौथा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस तरह "अत्थित्त णिच्छिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथा तक शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग इन तीन उपयोगकी मुख्यतासे पहला विशेष अंतर अधिकार है फिर 'अपदेसो परमाणू पदेसमत्तोय' इत्यादि नौ गाथाओं तक पुद्गलोंके पर··

स्पर बधकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार है। फिर "अरसमरूव" इत्यादि उन्नीस गाथा तक जीवका पुद्गल कर्मोंके साथ बध कथनकी मुख्यतासे तीसरा विशेष अतर अधिकार है फिर "ण चयदि जो दु ममत्ति" इत्यादि बारह गाथाओ तक विशेष भेदभावनाकी चूलिकारूप व्याख्यान है ऐसा चौथा चारित्र विशेषका अतर अधिकार है इस तरह इक्यावन गाथाओंसे चार विशेष अतर अधिकारोसे विशेष भेदभावना नामक चौथा अतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिमें "तम्हा दसण माई" इत्यादि पैंतीस गाथाओ तक सामान्य ज्ञेयका व्याख्यान है फिर "दव्व जीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओं तक जीव पुद्गलधर्मादि भेदसे विशेष ज्ञेयका व्याख्यान है, फिर "सपदेसेहि समग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदभावना है पश्चात् "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि इक्यावन गाथाओं तक विशेष भेदभावना है इस तरह चार अतर अधिकारोंमें एकसौ तेरह गाथाओंसे सम्यग्दर्शन नामका अधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार नामका दूसरा महाधिकार समाप्त हुआ ॥
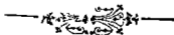
इस ज्ञेयाधिकारका कुछ सार ।

पहले अधिकारमे आचार्यने ज्ञान और सुखकी महिमा बताई थी कि स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख आत्माकी ही संपत्ति है-ये ही उपादेय हैं। इस दूसरे अधिकारमें उस स्वभावकी प्राप्तिके लिये जिन२ तत्वोंका श्रद्धान करना जरूरी है उनका स्वरूप कहा है क्योंकि विना वस्तुके स्वरूपको जाने त्यागने योग्यका त्याग और ग्रहण करने योग्यका ग्रहण नहीं हो सक्ता है। इस ज्ञेय अधिकारमें पहले ही द्रव्यका सामान्य स्वरूप है कि द्रव्य सत् स्वरूप हैं, सत्तासे अभिन्न है इससे अनादि अनंत है-न कभी पैदा हुआ व न कभी नष्ट होगा। इस कथनसे इस जगतकी द्रव्य अपेक्षा नित्यता व अकृत्रिमता दिखाई है। फिर बताया है कि वह सत रूप द्रव्य कूटस्थ नित्य नहीं है उसमें गुण और पर्यायें होते हैं। गुण सदा बने रहते हैं इससे ध्रौव्य हैं। गुणोंमें जो अवस्थाएं पलटती हैं वे अनित्य हैं अर्थात् उत्पाद व्ययरूप हैं। जिस समय कोई अवस्था पैदा होती है उसी समय पिछली अवस्थाका व्यय या नाश होता है मूल द्रव्य बना रहता है। इससे द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप भी है। फिर यह बताया है कि द्रव्य और गुणोंका तथा पर्यायोंका प्रदेशोंकी अपेक्षा एकपना है। जितना बडा द्रव्य है उसीमें ही गुणपर्यायें होती हैं-उनकी सत्ता द्रव्यसे जुदी नहीं मिल सक्ती है तथापि संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा द्रव्य गुणीमें और उसके गुण पर्यायोंमें परस्पर भेद है। इस लिये द्रव्य भेदाभेद स्वरूप है। फिर जीवका दृष्टांत देकर स्पष्ट किया

है कि एक जीव मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमें गया वहां यद्यपि पर्याय बदली है परतु जीव द्रव्यने अपना जीवत्व नहीं छोडा इस तरह द्रव्यकी अपेक्षा जीवका देव होना सत् उत्पाद है। तथा यदि पर्यायकी अपेक्षा देखें तो जो मनुष्य था वह दूसरे ही स्वभावको लिये हुए था अब जो देव हुआ हुआ वह दूसरे ही सभावको लिये हुए है इस तरह भिन्नताकी अपेक्षा मनुष्यसे देव होना असत् उत्पाद है। इस तरह बताया है कि द्रव्य किसी अपेक्षा एकरूप व किसी अपेक्षा अन्यरूप है-एक ही समयमें दो स्वभाव द्रव्यमें पाए जाते हैं जैसे अस्तिनास्तिस्वभाव। द्रव्य अपने द्रव्यादि चतुष्टयसे अस्ति स्वरूप है परंतु उसकी सत्तामें परद्रव्यादि चतुष्टय नहीं है इस लिये परकी अपेक्षा नास्ति स्वरूप है। इस अस्ति नास्तिको समझानेके लिये सप्तभंग वाणीका स्वरूप बताया है कि द्रव्य किसी अपेक्षा अर्थात् स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप है, परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्तिरूप है, एक समयमें वचनसे न कहे जानेकी अपेक्षा अवक्तव्य स्वरूप है। दोनों सभावोंको क्रमसे कहें तो अस्तिनास्ति स्वरूप है। कथंचित् अवक्तव्य और वक्तव्यकी अपेक्षा कहें तो द्रव्य अस्ति अवक्तव्य स्वरूप है नास्ति अवक्तव्य स्वरूप है तथा अस्तिनास्ति अवक्तव्य स्वरूप है। इस तरह नित्य, अनित्य, तथा भेद अभेद कोई भी दो विरोधी स्वभावोंको एक समयमें समझानेके लिये सात भंगसे समझा या समझाया जासक्ता है।

फिर कहा है कि कर्मोंके बन्धके कारण यह जीव संसारमें

करता है। जीव परिणामी है इससे उसके परिणाम होते हैं। जीव भावोंका कर्ता है, भावोंका निमित्त पाकर जो द्रव्य कर्म बंध जाते हैं– उनका कर्ता नहीं है। इस तरह आत्मा अपने ही शुद्ध व अशुद्ध भावोंका कर्ता है ऐसा कहकर उनकी चेतनाके तीन भेद बताए हैं ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना। जहां अपने शुद्ध ज्ञानका ही अनुभव किया जावे वह ज्ञानचेतना है जो मुख्यतासे केवलज्ञानीके होती है। जहां अशुभ, शुभ व शुद्ध उपयोगमें वर्तनरूप कर्मका अनुभव हो वह कर्मचेतना है, यह यथायोग्य छद्मस्थोंके होती है। जहां कर्मके फल सुख तथा दुःखका अनुभव किया जावे यह कर्मफलचेतना है, यह बुद्धिपूर्वक अनुभवकी अपेक्षा सर्व संसारी जीवोंके प्रमत्त गुणस्थानतक है। फिर कहा है कि जब यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमें परिणमन करता है तब यह आत्मा आप ही कर्ता, कर्म, करण तथा फलरूप होता है। इस तरह द्रव्यका सामान्य स्वरूप कहकर फिर छः द्रव्योंका विस्तारसे वर्णन है। उनमें जीव पुद्गल संसारमें हलनचलन क्रिया करते हैं शेष चार द्रव्य अक्रिय हैं। जीवादि अमूर्तीक हैं उनके गुण भी अमूर्तीक हैं। पुद्गल मूर्तीक हैं इससे उसके गुण भी मूर्तीक हैं। पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं इससे मूर्तीक है। पुद्गलोंके सूक्ष्म तथा स्थूल अनेक परिणमन हैं– शब्द आदि पुद्गलकी ही पर्याय हैं। कर्मवर्गणा भी सूक्ष्म पुद्गल है। फिर धर्मद्रव्यका जीव पुद्गलोंको गमनमें उपकार, अधर्मका उनकी स्थितिमें उपकार आकाशका सर्वको अवगाह देना उपकार, कालमा सर्वको पलटाना ऐसा उपकार बताया है। फिर काल एक प्रदेशी अभिलापी होनेसे अप्रदेशी है, शेष पांच द्रव्य बहु प्रदेशी

होनेसे कायवान है ऐसा बताया है। फिर कालद्रव्यके गुण पर्यायको अच्छी तरह स्पष्ट किया है तथा सिद्ध किया है कि एक समय कालाणु द्रव्यकी पर्याय है। यदि कालाणु न होता तो समयरूप व्यवहार काल नहीं होसक्ता था। फिर तिर्यक् प्रचय तथा ऊर्ध्व प्रचयका स्वरूप बताया है कि जो द्रव्य बहु प्रदेशी है उनके विस्तार-रूप प्रदेशोंके समूहको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। सब द्रव्योंमें समय समय जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके समूह को ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। फिर यह बताया है कि जिसके एक भी प्रदेश न होगा वह द्रव्य नहीं हो-सक्ता वह शून्य होगा। आकार बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता नही रह सक्ती है। इस तरह छ द्रव्योंका स्वरूप दिखाते हुए विशेष ज्ञेयोंका कथन किया-आगे दिखलाया है कि ससारी जीव किसी भी शरीरमें आयु श्वासोश्वास इंद्रिय तथा बल ऐसे चार व्यवहार प्राणोंके निमित्तसे जीते रहते हैं। इन प्राणोंके द्वारा मोह रागद्वेषसे वर्तन करते हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं फिर नवीन द्रव्यकर्मोंको बांध लेते है। फिर यह बताया है कि जबतक यह संसारी आत्मा शरीरा दिसे ममता नहीं छोडता है तबतक प्राणोका वारवार ग्रहण करना मिटता नही अर्थात् यह जीव एक भवसे दूसरे भवमें भ्रमण किया करता है। परन्तु जो इंद्रियविजयी होकर इन कर्मोंके शुभ अशुभ फलमें रंजायमान न हो और अपने आत्माको ध्यावे तो द्रव्य प्राणोंका सबंध अवश्य छूट जावे। इस तरह सामान्य भेदज्ञानको कहकर विशेष भेदज्ञानको कहा है कि नरनारकादि अवस्थाए नाम-कर्मके उदयसे होती है–जीवका स्वभाव नही है। जो इस तरह वस्तुके स्वभावको समझता है वह अन्य अशुद्ध अवस्थाओंमें व

परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है। फिर आत्माके उपयोगकी तीन अवस्थाओंको बताया है कि यदि इसका उपयोग अरहंतादिकी भक्तिमें व दया दान आदिमें लीन होता है तो इसके शुभोपयोग होता है जिससे यह जीव मुख्यतासे पुण्यकर्मोंसे बन्ध जाता है। जब इसका उपयोग इंद्रिय विषयोंमें—क्रोधादि कषायोंमें उलझा होता है तथा दुष्ट चित्त, दुष्ट वचन, दुष्ट कायचेष्टा, हिंसा आदि पापोंमें फंसा होता है तब उसके अशुभोपयोग होता है जिससे यह जीव पापकर्मोंको बांधता है और जब इसके ये दोनों ही उपयोग नहीं होते तब यह सर्व परद्रव्योंमें मध्यस्थ होकर अपने शुद्धात्माको ध्याता हुआ यह विचारता है कि मैं शरीर वचन मनसे भिन्न हूं—न मैं निश्चयसे उनका कर्ता हूं, न करानेवाला हूं, न अनुमोदक हूं वे पुद्गलसे बने हुए हैं, मैं पुद्गलसे भिन्न हूं तब इसके निर्विकल्प समाधि होती है उस समय यह जीव शुद्धोपयोगी होता है। यही शुद्धोपयोग बंधसे छुड़ानेवाला है। यहां प्रकरण पाकर यह कहा है कि पुद्गलके परमाणुओंका दो गुणांश अधिक स्निग्धता या रूक्षताके होनेपर परस्पर बंध होजाता है। इसी बंधके कारणसे औदारिक, कार्माण आदि शरीरोंके स्कंध बनते हैं। यह लोक सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओंसे सर्व तरफ भरा हुआ है। वे स्वयं जीवके अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मरूप होजाते हैं। उन्हीं कर्मोंके उदयसे चार गतियोंमें शरीर व इंद्रियें आदि बनती । इस कारण यह आत्मा किसी भी तरह स्वभावसे शरीर व द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है—वे भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है। आत्मा अमूर्तीक है, चैतन्य गुणमई है, इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है, किन्तु स्वानुभवगम्य है।

फिर यह बताया है कि आत्माके साथ जो कर्मोका बन्ध होता है सो असम्भव नहीं है। जैसे आत्मा रागद्वेषपूर्वक मूर्तीक द्रव्योंको जानकर ग्रहण करता है वैसे रागद्वेषसे बन्ध भी होजाता है। जैसे मादक पदार्थ जड़ होनेपर भी आत्माके ज्ञानमें विकार कर देता है वैसे मूर्तीक कर्म भी अशुद्ध आत्मामें विकार कर देते हैं। वास्तवमें बंधके तीन भेद हैं। जीवके रागादि निमित्तसे पूर्ववद्ध पुद्गलोंके साथ नए कर्मपुद्गलोंका स्निग्ध रुक्ष गुणके द्वारा बंध होता है इसको पुद्गलबंध कहते हैं। जीवका रागादिरूप परिणमन सो जीवबंध है। तथा आत्माके प्रदेशोंमें अनन्तानन्त कर्म पुद्गलोंका परस्पर अवगाहरूप रहना सो जीव पुद्गलबन्ध या उभयबन्ध है। यदि यह जीव रागी, द्वेषी, मोही न हो तो कोई भी बन्ध न हो। रागी कर्मोको बांधता है व वीतरागी कर्मोसे छूटता है। इस जीवको वैराग्यभाव लानेके लिये शुद्ध निश्चयनयके द्वारा विचारना चाहिये कि पृथ्वी आदि छःकायके जीवोंकी पर्यायें आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं अर्थात् मैं निश्चयसे पृथ्वी आदि स्थावर काय तथा त्रसकायसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमय हूं। जो अज्ञानी आत्माके शुद्ध स्वभावको नहीं पहचानते हैं वे अहंकार व ममकार करते हुए अपने रागद्वेष मोह भावके कर्ता हो जाते हैं-आत्मा कभी भी पुद्गल कर्मोका कर्ता नहीं होता है। जब यह अपने अशुद्ध भाव करता है तब कर्मकी धूल स्वयं चिपट जाती है और जब यह शुद्धभाव करता है तब कर्मकी धूल आप ही छूट जाती है। जो मुनि होकर भी शरीरादिमें ममता न छोड़े वह कभी भी समताभावरूप भावमुनिपनेको नहीं पासक्ता है,

परन्तु जो ऐसा अनुभव करता है कि न मैं पर रूप हू, न पर मुझ रूप है, न मैं परका हू, न पर मेरा है–मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव हू वही आत्मध्यानी होता है और वही अपने आत्माको अतींद्रिय, निरालम्ब, अविनाशी, वीतरागी, ज्ञानदर्शनमय अनुभव करता है। वह अपने एक शुद्ध आत्माको ध्रुव मानके सर्व सासारिक सुख दु ख, रुपया पैसा, भाई, पुत्र मित्र, स्त्री, शरीरादिको अपनेसे भिन्न अनित्य जानता है। इस तरह शुद्ध आत्माका भेदज्ञानपूर्वक अनुभव करते हुए श्रावक या मुनि दर्शनमोहका क्षयकरके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। फिर यदि श्रावक है तो श्रावकके व्रतोंसे स्वानुभवकरके चारित्रमोहका बल घटाता है व फिर मुनि होकर समताभावमें लीन हो जाता है। मुनि महाराज पहले धर्मध्यानसे फिर क्षपकश्रेणी चढ शुक्लध्यानसे परम वीतरागी होते हुए चारित्रमोहका क्षय कर देते हैं पश्चात् तीन घातिया कर्मोंका भी नाशकर अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य तथा अनन्त सुखको पाकर अरहत परमात्मा होजाते हैं। अरहत भगवानको अब ध्यानका फल परमात्मपद प्राप्त होगया। उनको अब चित्त निरोध करके किसी ध्यान करनेकी जरूरत नहीं रहती है–वे निरन्तर आत्माके शुद्ध स्वभावके भोगमें मगन रहते हुए अतींद्रिय आनन्दका ही स्वाद लिया करते हैं–उनके शेष कर्मोकी निर्जरा होती है इससे उनके उपचारसे ध्यान कहा है।

अन्तमें आचार्यने बताया है कि जो रागद्वेष छोडकर व वीतरागमई मुनिपदमें ठहरकर निश्चय रत्नत्रयमई निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेवाले हैं वे मुनि सामान्यकेवली या तीर्थङ्कर

होकर सिद्ध परमात्मा होजाते हैं तब वे अनन्तकालके लिये परमसुखी होजाते हैं। उन सर्व भूत भविष्य व वर्तमान सिद्धोंको मैं उनकी भक्ति करके इसलिये नमस्कार करता हूं कि मैं उनके पदपर पहुंच जाऊं तथा मैं उस मोक्षमार्गको भी वारवार भाव और द्रव्य नमस्कार करता हूं जिससे भव्य जीव सिद्धपद पाते हैं।

इस ज्ञेय अधिकारका तात्पर्य यह है कि हरएक भव्य जीवको उचित है कि वह अपने आत्माको व जगतके भीतर विद्यमान छः द्रव्योंके स्वभावोंको समझे फिर यह जाने कि मेरा आत्मा क्यों संसारमें भ्रमण करता है। भ्रमणका कारण कर्मका बंध है। कर्मका बंध अपने अशुद्ध रागद्वेष मोह भावोंसे होता है तथा कर्मोंसे मुक्ति वीतराग भावसे होती है और वह वीतराग भाव भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रूप सर्व कर्मोंसे भिन्न शुद्ध आत्माके अनुभवसे पैदा होता है, ऐसा जानकर भेदविज्ञानका अभ्यास करे कि मैं भिन्न हूं और ये रागादि सब भिन्न हैं। इस भेद विज्ञानके अभ्याससे ही परिणामोंमें विशुद्धता बढ़ जायगी और धीरे २ सर्व मोहका क्षय होकर यह आत्मा शुद्ध हो जायगा। भेदविज्ञानसे ही स्वात्मानुभव या स्वात्मध्यान होता है। आत्मध्यान ही कर्मोंको जलाकर आत्माको शुद्ध परमात्मा कर देता है। सिद्धिका उपाय एक भेद विज्ञान है जैसा समयसारकलशमें आचार्य अमृतचन्द्र महाराजने कहा है:—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ५ ॥ ६ ॥
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ७ ॥

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भा-
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८ ॥

भावार्थ–धारावाही लगातार भेदविज्ञानकी भावना करते रहना चाहिये, उस वक्त तक जबतक कि ज्ञान ज्ञानमें न प्रतिष्ठित हो जावे अर्थात् जबतक केवलज्ञान न हो, बराबर भेदविज्ञानकी भावना करता रहे। आजतक जितने जीव सिद्ध हुए हैं सो सब भेदविज्ञानके प्रतापसे सिद्ध हुए हैं और जिनको भेद विज्ञानका लाभ नहीं हुआ है वे सब बंधे पडे हैं। भेदज्ञानके वारवार दृढ़तासे अभ्यास करनेसे शुद्ध आत्मतत्वका लाभ या ध्यान होता है–शुद्धात्मध्यानसे रागद्वेषका ग्राम नष्ट होजाता है। तब नए कर्मोंका संवर हो जाता है तथा पूर्वकर्मकी निर्जरा होकर परम संतोषको रखता हुआ निर्मल प्रकाशमान शुद्ध एक उत्कृष्ट केवलज्ञान निरंतर अविनाशीरूपसे स्वाभाविक ज्ञानमें उद्योतमान रहता है। इस लिये हरएक भव्यजीवको अपना नरजन्म दुर्लभ जान इसको सफल करनेके लिये स्याद्वादनयके द्वारा अनत स्वभाववाले जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जिनवाणीके हार्दिक अभ्यास व मननसे जान लेना चाहिये व जानकर उनपर अटल विश्वास रखकर उनका मनन करनेके लिये निरन्तर देवभक्ति, सामायिक, स्वाध्याय, गुरुजन संगति, संयम व दानका अभ्यास करना चाहिये। इसीके प्रतापसे जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है तब आत्माका भीतर झलकाव होता है और अतीन्द्रियआनन्दका स्वाद आता है।

इस आनन्दकी वृद्धिके लिये वह सम्यग्दृष्टी निराकुल होनेके लिये श्रावकके चारित्रको पालता हुआ स्वानुभवके अभ्यासको बढ़ाता रहता है। जब उस आत्मानंदके सम्यक् भोगमें परिग्रहका सम्बन्ध बाधक प्रतीत होता है तब सर्व वस्त्रादि परिग्रहको छोड अट्ठाईस मूल गुणको धारकर साधु होजाता है। साधुपदमें शरीर मात्रको आहारपानका भाड़ा दे उसके द्वारा अनेक कठिन २ तप करके ध्यानकी शक्तिको बढ़ाता जाता है। आत्मध्यानके प्रतापसे ही यदि तद्भव मोक्ष होना होता है तो उसी भवसे मुक्त होजाता है, नहीं तो स्वर्गादिमें जाकर परम्पराय मुक्तिका लाभ करता है। यद्यपि इस पञ्चमकालमें यहां भरतक्षेत्रमें मुक्ति नहीं है तथापि हम धर्मके प्रतापसे विदेहक्षेत्रमें मनुष्य होकर शीघ्र ही मुक्त हो सक्ते हैं। अब भी इस भरतक्षेत्रमें सातवां गुणस्थान है, मुनि योग्य धर्मध्यान है। इसलिये प्रमाद छोड़ संयमकी रस्सी पाकर आत्मध्यानके बलसे मोक्षके अविनाशी महलमें पहुंचनेका पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। श्री समयसारकलशमें कहा है:—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्याम् ।
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ॥
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२१॥११॥

भावार्थ—जो स्याद्वादके ज्ञानमें कुशल होकर संयम पालनेमें निश्चल होता हुआ निरन्तर उपयोग लगाकर अपने आत्माको ध्याता है वही एक ज्ञान और चारित्रकी परस्पर मित्रताका पात्र होता हुआ इस मोक्षमार्गकी भूमिका आश्रय करता है।

इसलिये इस ग्रन्थके पाठकोंको उचित है कि तत्त्वज्ञान प्राप्तकर श्रद्धासहित चारित्र पालते हुए निज आत्माका अनुभव करें इसीसे ही वर्तमानमें भी सुख शांति मिलेगी और भविष्य जीवन भी सुखदाई होगा ।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रन्थकी श्री जय-सेनाचार्य कृत संस्कृत टीकाके अनुसार इस प्रवचनसार महा ग्रंथके दूसरे अध्यायकी भाषाटीका ज्ञेयतत्वप्रदीपिका नाम पूर्ण हुई ।

मिती कार्तिक वदी ८ वि० सं० १९८०. गुरुवार ता० १-११-१९२३ ।

भाषाकारका कुछ परिचय ।

इन्द्रप्रस्थके निकट है, गुड़गांवा शुभ देश ।
फर्रुखनगर सुहावना, धर्मी बसत हमेश ॥ १ ॥
अग्रवाल क्षत्री सुकुल, वैश्य कर्मवश जान ।
गोयल गोत्र महानमें, रायमल्ल गुणखान ॥ २ ॥
अवध देश लक्ष्मणपुरी, धन कण कंचन पूर ।
वाणिज हित आए जहां, रायमल्ल चल दूर ॥ ३ ॥
बसे तहां उन्नति करी, धन गृह कीर्ति अपार ।
तिन सुत मंगलसेनजी, विद्यागुणभंडार ॥ ४ ॥
जैनतत्त्वमर्मी बड़े, अध्यातम रस सार ।
पीवत लख अध्यात्ममय, समयसार सुखकार ॥ ५ ॥
तिनसुत मक्खनलालजी, गृहकारजमें लीन ।
भार्या परम पतिव्रता, गृहरक्षण परवीन ॥ ६ ॥
चार पुत्र तिनके भए, संतलाल वर जान ।
वर्तमान व्यापाररत, सुत दारा युत गान ॥ ७ ॥
तृतीय पुत्र लेखक यही, संज्ञा सीतल धार ।
मात नारायण देविको, अतिप्रिय सेवक सार ॥ ८ ॥
विक्रम उन्निस पैंतिसा, जन्म सु कार्तिक मास ।
मात पिताकी कृपासे, धर्मप्रेम कुछ भास ॥ ९ ॥
किंचित् विद्या पायके, जानो जिनमत सार ।
रुचि बाढ़ी अध्यात्मकी, सुख शांति भंडार ॥ १० ॥
बत्तिस वय अनुमानमें, गृह तजि श्रावक होय ।

धर्म कार्य्यमें चित दियो, आतम गुण अवलोय ॥ ११ ॥
विक्रम अस्सी उनविसा, वरषाकाल विचार ।
कहां धर्मसाधन बढ़े, यह विचार उर धार ॥ १२ ॥
इन्द्रप्रस्थके निकट ही, पानीपथ सुखदाय ॥
जलपथ भी याको कहें, पांडुपुराण बताय ॥ १३ ॥
पांडुतनय राजा नकुल, राज करें इस धाम ।
जैन धर्म परभावना, करत अर्थ वृष काम ॥ १४ ॥
प्रजा मगन आनन्दमें, व्याधि शोक नहिं होय ।
श्री नेमिनाथके तीर्थमें, निर्बाधा सब लोय ॥ १५ ॥
पानीपथ बहु कालसे, रह्यो नग्र आबाद ।
जैन नृपति हिन्दू धनी, हुए बेमरजाद ॥ १६ ॥
कालचक्रके फेरसे, मुसलमान अधिकार ।
वीर युद्ध या क्षेत्रमें, हुए सुयशकरतार ॥ १७ ॥
पन्द्रासे छब्बीस सन्, सुलतां इब्राहीम ।
बाबरशाहसे युद्ध कर, मरो यहां अति भीम ॥ १८ ॥
सन् पन्द्रासे छप्पना, हीमू हिन्दू वीर ।
संज्ञा विक्रमजीत धर, घेरो जलपथ धीर ॥ १९ ॥
अकबर सेना भिड़ गई, खूब लडो मदधार ।
अन्त सबल भागत भयो, अकबर पुन अधिकार ॥ २० ॥
सन सत्रासै इकसठा, मरहटा दल आय ।
पानीपथमें अड़ गया, बहुविध सैन्य जमाय ॥ २१ ॥
शाह अहमदादुर्रनी, लड़ो बहुत रिसवाय ।
मरहटा भागे तभी, छोड़ खेत अकुलाय ॥ २२ ॥

माहदनी सिंधिया, था बलवान अपार ।
मरहटा दल लेयकर, फिर आयो इकवार ॥ २३ ॥
कर अधिकार यासा लियो, दिहली नृप वश कीन ।
बहुतकाल इस देशमें, राखी शक्ति प्रवीन ॥ २४ ॥
अठारहसै तीनमें, बृटिश कियो अधिकार ।
जैनी जन ह्यां बहु रहैं, धन कण कंचनधार ॥ २५ ॥
वाईस जिन मंदिर भले, पूजा शास्त्र सुहाय ।
कालदोष सब क्षय गए, नूतन चार लखाय ॥ २६ ॥
इनमें भी प्राचीन अति, दुर्ग समान अलंघ ।
पंचनकृत श्री पार्श्वको, धाम जनत सब संघ ॥ २७ ॥
तिनमें उन मंदिरनकी, प्रतिमा हैं प्राचीन ।
कोईएक संवत बिन लखैं, अति प्राचीन स्वलीन ॥ २८ ॥
द्वितीय लघु दिहली धनी, सुगनचंद संतलाल ।
कियो महा रुचि पायके, सफल हुओ धन काल ॥ २९ ॥
तृतीय बनो बाज़ारमें, अति सुहाय शुभ दाय ।
बनवारी हैं चौधरी, लक्ष्मी सफल कराय ॥ ३० ॥
चौथा शुभ मंदिर रचो, दुन्दीलाल सुमान ।
नरनारी सब देहरे, सेवत धर्म महान ॥ ३१ ॥
तीनशतक गृह वसरहे, जैनी अगरवाल ।
परम दिगम्बर सब सुखी, नर नारी अर बाल ॥ ३२ ॥
मुखिया बद्रीदासके, सुत हैं लक्ष्मीचन्द ।
वीरराय पदवी धरैं, धर्मातम सुखकन्द ॥ ३३ ॥
द्वितीय चिरंजीलाल हैं, सरल चित्त धनवान ।

लाला परमानन्दजी, राधेलाल महान ॥ ३४ ॥
लाला मकसूदन सुधी, सुगन्धचन्द वृषधार।
लाला बनवारी रहैं, सुलतांसिंह सुकार ॥ ३५ ॥
धर्मी पंडित बुद्धिमय, सिंह कबूल सुहाय।
ज्ञाता पंडित रामजी, लाल सबहिं सुखदाय ॥ ३६ ॥
पंडित श्री अरदासजी, जीयालाल प्रवीण।
पंडित फुलजारी भले, भीखमचन्द अदीन ॥ ३७ ॥
फूलचन्द पंडित सुधी, आदिक जैनीलाल।
विद्यारत रूपचन्दजी, मुनिसुव्रत श्रीपाल ॥ ३८ ॥
जय भगवान सुतत्त्व विद, धर्मी बी०ए० सार।
जयकुमार उपकार कर, वड़ इस्कूल मंझार ॥ ३९ ॥
इन आदिकके प्रेमवश, जलपथ वर्षाकाल।
धर्मकथा गोष्टी शुभग, सतसंगतिमें टाल ॥ ४० ॥
अवसर पाय सुहावनो, भाषा रची बनाय।
ज्ञेयतत्त्वकी दीपिका, प्रवचनसार सुहाय ॥ ४१ ॥
श्री कुन्दकुन्द ज्ञाता बड़े, सूत्र सुप्राकृत कीन।
श्री सूरी जयसेनकृत, संस्कृतवृत्ति प्रवीन ॥ ४२ ॥
ताकी धर अनुकूलता, बालबोध लिख सार।
निज आतमकी भावना, करी सुमिस यह धार ॥ ४३ ॥
कार्तिक वदि अष्टम दिना, दिवस गुरु सुखकार।
कर समाप्त हर्षित हुओ, रुचि अध्यातम धार ॥ ४४ ॥
पढ़ैं सुनें नरनारि सब, पावैं रुचि अध्यात्म।
चढ़ नौका त्रयरत्नकी, पार करें निज आतम ॥ ४५ ॥

हो प्रकाश या रत्नका, घर घर सब संसार।
जानें सब निज आत्मको, पावें रहस विचार ॥ ४६ ॥
वृद्धि होय या थानकी, जहां ग्रन्थ उत्पाद।
ईत भीति सब ही टलें, क्लेश होय सब बाद ॥ ४७ ॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
नमस्कार मन वच करूं, तन नमाय कर ज्ञान ॥ ४८ ॥
आचारज उवझायवर, सर्व साधु चित लाय।
परमयमी निजके रमी, गुणसागर उर ध्याय ॥ ४९ ॥
परम भावना यह करूं, सुखी होय संसार।
सुखसागरमें रमनकर, निज गुण परखें सार ॥ ५० ॥
तत्त्वज्ञान सुहावना, परमशांति दातार।
'शीतल' जिनका शरण ले, राखूं हिय सुखकार ॥ ५१ ॥

इति ॥ ता० १-११-२३

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद,
पानीपत, जि० करनाल (पंजाब)